साहित्य



साहित्य



साहित्य और कला

सुन्दर, उपयोगी आलोचनात्मक साहित्य

गुलाबराय

काव्य के रूप	५.००
सिद्धान्त और अध्ययन	६.००
अध्ययन और आस्वाद (पुरस्कृत)	७.५०
हिन्दी-काव्य-विमर्श	४.००
मन की बातें (पुरस्कृत)	३.५०
आलोचक रामचन्द्र शुक्ल	६.५०
साहित्य-समीक्षा	२.००

डा० राजेन्द्र प्रसाद

साहित्य, शिक्षा और संस्कृति	५.५०
भारतीय शिक्षा	३.५०

कन्हैयालाल सहल

कामायनी दर्शन	४.००
समीक्षायण	३.००
दृष्टिकोण	१.५०

विजयेन्द्र स्नातक : क्षेमचन्द्र सुमन

हिन्दी-साहित्य और उसकी प्रगति	३.५०
आधुनिक हिन्दी साहित्य	२.००

सुमन : मल्लिक

साहित्य-विवेचन (पुरस्कृत)	७.००
साहित्य-विवेचन के सिद्धान्त	३.५०

यज्ञदत्त शर्मा

जायसी-साहित्य और सिद्धान्त	३.००
कबीर-साहित्य और सिद्धान्त	३.००
सूर साहित्य और सिद्धान्त	३.००
तुलसी-साहित्य और सिद्धान्त	३.००
प्रबन्ध-सागर	६.५०
आदर्श पत्र-लेखन	८.००
आदर्श भाषण-कला	८.००

आचार्य विश्वेश्वर

हिन्दी-काव्यालंकार-सूत्र (पुरस्कृत)	१२.००
हिन्दी-वक्रोक्तिजीवितम् (,,)	१६.००

जयनाथ 'नलिन'

हिन्दी-नाटककार	५.५०
हिन्दी-निबन्धकार	६.५०

शचीरानी गुर्टू

हिन्दी के आलोचक	८.००
महादेवी वर्मा	६.५०
सुमित्रानन्दन पंत	६.५०

नन्ददुलारे वाजपेयी

महाकवि सूरदास

हंसराज 'रहबर'

प्रेमचन्द-जीवन, कला और कृतित्व

महावीर अधिकारी

प्रसाद-जीवन, कला और कृतित्व

रामवृक्ष बेनीपुरी

वन्दे वाणी विनायकौ (पुरस्कृत)

डॉ० सावित्री सिन्हा

मध्यकालीन हिन्दी-कवयित्रियाँ

अनुसन्धान के स्वरूप

डॉ० विमलकुमार जैन

सूफीमत और हिन्दी-साहित्य(पुरस्कृ

डॉ० सुधीन्द्र

हिन्दी-कविता में युगान्तर (पुरस्कृत

व्यौहार राजेन्द्रसिंह

आलोचना के सिद्धान्त

मोहनलाल 'जिज्ञासु'

कहानी और कहानीकार

देवराज उपाध्याय

रोमांटिक साहित्य-शास्त्र

अशोककुमारसिंह

उद्धवशतक-परिशीलन

प्रभाकर माचवे

सन्तुलन

रामकृष्ण शुक्ल

कला और सौन्दर्य

ललिताप्रसाद सुकुल

साहित्य-जिज्ञासा

मन्मथनाथ गुप्त

प्रगतिवाद की रूपरेखा

शिवदानसिंह चौहान

साहित्यानुशीलन (पुरस्कृत)

साहित्य की समस्याएँ १

कृष्णचन्द्र शर्मा : देवीशरण र

तुलनात्मक अध्ययन

भाषा-विज्ञान-दर्शन

बनारसीदास चतुर्वेदी : हरिशंकर

पद्मसिंह शर्मा के पत्र

एण्ड सन्स, दिल्ली ६

साहित्य और कला

—विचारोत्तेजक साहित्यिक निबन्ध-संग्रह—

लेखक

भगवतशरण उपाध्याय

१९६०

आत्माराम एण्ड संस

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

कास्मीरी गेट

दिल्ली–६

SAHITYA AUR KALA

by

BHAGWAT SARAN UPADHYAYA

Rs. 6.00

प्रकाशक

रामलाल पुरी, संचालक
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

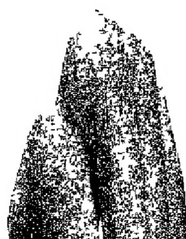
मूल्य	:	छः रुपए
प्रथम संस्करण	:	१ ९ ६ ०
आवरण	:	योगेन्द्रकुमार लल्ला
मुद्रक		ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी १

सुभाषचन्द्र

और

सरोजिनी

को



यह साहित्य और कला सम्बन्धी मेरे निबन्धों का संग्रह है, मेरे पाठकों को नये साल की भेंट ।

लेखक

विषय

१. कवि क्या लिखे ?	...	१
२. नाटककार क्या लिखे ?	...	१३
३. कथाकार क्या लिखे ?	...	२३
४. आलोचक क्या लिखे ?	...	३५
५. साहित्य की परिधि	...	४५
६. हिन्दी साहित्य की भूमिका	...	४९
७. हिन्दी के ऐतिहासिक नाटक	...	५४
८. साहित्य और आन्दोलन	...	५९
९. साहित्य में रेजिमेण्टेशन	...	७०
१०. भारतीयता का प्रश्न	...	७५
११. आधुनिक हिन्दी साहित्य में मानवीय दृष्टिकोण	...	७९
१२. अक्कादी साहित्य	...	८७
१३. मिस्र का प्राचीन साहित्य	...	९९
१४. नारवेई साहित्य के हजार वर्ष	...	१०५
१५. अधिकृत डेनमार्क का साहित्य	...	११३
१६. बीसवीं सदी का फ्रेंच साहित्य	...	१२०
१७. संस्कृत का प्रचार	...	१२४
१८. भारतीय शोध और यूरोपीय पण्डित	...	१२८
१९. यूनान के देवी-देवता	...	१३६
२०. भारतीय सौन्दर्य शास्त्र	...	१४१
२१. मण्डन-विलास और उसका दुःखान्त	...	१४६
२२. साहित्य और कला की समान प्रेरणा	...	१५३
२३. कला की व्यापकता	...	१५८
२४. चित्रकार क्या लिखे ?	...	१६२
२५. मूर्तिकार क्या करे ?	...	१७२
२६. स्तूप और स्तम्भ के पूर्ववर्ती	...	१७६
२७. आधुनिक चित्रकला	...	१८३

१

कवि क्या लिखे ?

साहित्य लिखा जाता रहा है, कविता भी लिखी जाती रही है, इसलिए यह प्रश्न कुछ लोगों को असामान्य लगेगा। परन्तु असामान्य यह है नही। क्या लिखा गया है? और, क्या लिखना चाहिए ?—दोनों मे अन्तर है, और इस अन्तर के कारण कविगण स्वयं हैं।

एक काफी वडा वर्ग अथवा सम्प्रदाय ऐसे कवियों का है जो, पूछने पर कि क्यो लिखते हो, कहेगे—आत्मतुष्टि के लिए। रोना और गाना वे मनुष्य की सहज चेष्टाएँ मानते हैं और उनका कहना है कि जिस प्रकार रुदन और हास्य मनुष्य की अनुभूति-विशेष के परिचायक है, विषाद और आनन्द को मुखरित करते हैं, उसी प्रकार गायन या गुनगुनाना भी उल्लास की व्यञ्जना है।

परन्तु यह तो स्थिति हुई आदिम मानव की, जो न बोलकर भी कभी जिह्वा को ऐंठ कर या चेष्टाओं द्वारा अपने हर्ष-विषाद को व्यक्त करता था, जब उसके पास भाषा नही थी, और जब वह पशु अधिक था मनुष्य कम : मनुष्य कम, अर्थात् समाज का व्यक्ति—उसकी इकाई—नितान्त कम।

और उस मनुष्य ने अपनी पाशविकता से उठकर अपनी प्रतिभा और प्रयास से एक नयी दुनिया की सृष्टि की, जिसमें चेष्टा का नही, ध्वनि का साम्राज्य फैला; भाषा और भाव बने, विकसे और दिगन्त में फैले; और उनसे कही वढ़कर नयी साधों, नयी मान्यताओं, नयी अभिव्यक्तियों से भरे उस नये बोध और चमत्कार का जन्म हुआ जिसे हम साहित्य कहते हैं।

और यह साहित्य एक का नहीं, अनेक का है : सच पूछिए तो जन-जन का। हॉ, जन-जन का, क्योकि साहित्य में अभिव्यक्त भावनाएँ जन-जन की हैं। कवि और साहित्यिक जब किसी अनुभूति को रूपायित करता है तब वह उसकी अपनी अनुभूति केवल इस अर्थ में है कि उसे वह एक विशेष विधि से, अपनी विधि से, कह भर देता है।

कह भर देता है, अथवा वह उसी तथ्य को अनुभव करनेवाली असंख्य-असंख्य जनता की जिह्वामात्र है। वह भाषा के द्वारा (और यह भाषा भी जन-जन की है, एक-सी, प्रायः एक अर्थ में प्रयुक्त होने और समझी जानेवाली) जन-जन की अनेकधा अनभूति को अपनी शैली मे व्यक्त करता है। यही शैली उसकी अपनी है, वैयक्तिक है—यद्यपि वह वैयक्तिकता भी सर्वथा एकाकिनी नहीं उसके भी आकार प्रकार परम्परा से आबद्ध हैं

मानने से इनकार नहीं करता कि जिसे मैं असत्काव्य कहता हूँ उसमें भी काव्योचित गुण हो सकते हैं, और रहे हैं, उसने भी एक बड़े जन-संभार का मनोरंजन किया है। परन्तु यदि वह सत्य हो कर भी अशोभन और अकल्याणकर है तो निश्चय उसका सौन्दर्य वासना का सम्मोहन है, और वासना सत्य हो कर भी दमनीय है।

अब यदि कवि को अपने विषय चुनने का अधिकार है, यदि उसे अपनी अनुभूतियों मे से चुनी हुई स्थितियों को ही व्यक्त करने की आजादी है तो निश्चय मेरे शीर्षक-प्रश्न की भी सार्थकता है।

इसलिए प्रश्न यह है कि कवि क्या लिखे ?

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए पहले इस पर विचार कर लेना है कि कवि क्यो लिखे, अथवा, कि वह क्यों लिखता है। पन्द्रह वर्ष की एक बालिका ने जगद्विख्यात एक महाकाय साहित्यिक को एक बार लिखा कि अब वह अपने चारों ओर की परिस्थिति को सहन नहीं कर सकती, इसलिए अब वह बोलेगी, अब वह लिखेगी। यह परिस्थिति जो उस बालिका-विशेष के सम्बन्ध में दुर्दमनीय है—उसके चारों ओर भीषण दरिद्रता मुँह बाये खड़ी है—उसे लिखने को प्रेरित करती है।

और वह प्रेरणा इतनी अदम्य है कि उस नवसाहित्यिक को लिखने के लिए सर्वथा विवश कर देती है। इस प्रकार लिखना आवश्यक हो जाता है। उस लिखने का रूप क्या होगा, यह लिखने के टेकनीक से, शैली और सुरुचि से सम्बन्ध रखता है, जो साहित्य के रूप, उसके स्थायित्व आदि को निश्चित करेगा।

यह तो सिद्ध हुआ कि कवि क्यों लिखेगा। वह अपनी परिस्थितियों के वशीभूत हो उनकी अदम्य प्रेरणा से विवश हो कर लिखेगा। अर्थात् प्रेरणा कृतित्व के कारणों मे पहली इकाई होगी। और प्रेरणा उन परिस्थितियों के विषय में लिखने के लिए मजबूर करेगी—परिस्थितियों के विषय मे लिखने के लिए, उनका सशक्त, स्पष्ट और यथार्थ वर्णन करने के लिए। परन्तु कवि फ़ोटोग्राफ़र नहीं जो वस्तु-स्थिति को यथावत् रख दे। वह चित्रकार की भाँति देखे हुए दृश्य को अपनी दुनिया में बसाएगा। उसका अंकन वह यंत्र-विशेष से, प्रक्षेपण के यन्त्र से नहीं, लम्बकुर्च और तूलिका से करेगा—रेखाओं में—और उनके बीच वह अपने रंग भरेगा, और इस अंकन में उसके चरम साधन के रूप मे कल्पना उसकी सहायता करेगी।

कल्पना उसकी सहायता करेगी—इसे आप रेखांकित कर लें। यानी वह सहायकमात्र और साधनमात्र होगी, अंकन का स्वयं विषय नहीं। कल्पना साधन के रूप में देखने और सुननेवालों पर सम्मोहन डालती है, परन्तु यह हरगिज़-हरगिज़ कोई न समझ बैठे कि कल्पना ही कृति या काव्य है। इस पर जोर देने का कारण यह है कि हिन्दी के एक वर्ग के कवियों ने कल्पना को ही वर्ण्य-विषय अथवा कवि का इष्ट मान रक्खा है।

कल्पना वर्णन को शक्ति और रूप दोनों देती है और दोनों से ऊपर उसे लावण्य अथवा रोमांचक आकर्षण प्रदान करती है जिससे काव्य बनता है, केवल

घटना की आवृत्ति नहीं। टॉल्स्टॉय ने कला की परिभाषा करते हुए कहीं कहा है कि स्थिति-विशेष का निकटतम अनुकरण ही कला है। उदाहरण में उस महाकाय साहित्यिक ने लिखा है कि भीड़ मे पॉव कुचल जानेवाले के चीत्कार का दुःख-व्यञ्जक मार्मिक अनुकरण कर देना कला होगी।

मैं इन शब्दों की एकान्त सत्यता पर तो विश्वास नहीं करता, परन्तु कला की यह परिभाषा अनेकार्थ में सही है। यहाँ इस परिभाण को प्रमाणित करने की कोई आवश्यकता नहीं। केवल इतना कह देना पर्याप्त होगा कि इसमें कल्पना का भी रहस्यमय पुट है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, कवि फ़ोटोग्राफ़र नहीं है और न प्रेस का सम्वाददाता ही, जो जैसो को तैसी ही कह दे। क्योंकि कवि यदि स्थिति का सही सवाहकमात्र है तब उससे बड़ी कलाकार शायद प्रकृति स्वयं है, और यदि कोई प्रकृति को यथातथ्य रूपायित करना चाहे तो न तो ऐसा करने मे वह सर्वथा सफल ही हो सकेगा और न यह उससे वाछित ही है।

परन्तु प्रकृति कलाकार नहीं, क्योंकि वह इच्छामात्र से कुछ गढ़ नहीं सकती, और यदि हम चराचर जगत् को उसके भीतर निविष्ट कर उसे न देखें तब वह 'जड' भी है, और जड कलाकार नहीं हो सकता। कला सचेतन प्रयास है, जीव का, जो निर्माण का निश्चय कर प्रस्थित होता है। अनुकरण उसकी आवश्यक रुचि और कृति का एक विशिष्ट कारण है, कल्पना की उड़ान उसका रोमांचक लावण्यकर साधन है, जन-कल्याण उसका उद्देश्य है, प्रतिभा और टेकनीक उसके रूपायन के सहायक हैं, और उद्देश्य और कृति की सफलता उसकी आत्मतुष्टि है।

सो कवि प्रकृति का सर्वथा पश्चाद्गामी या प्रतिबिम्बक नहीं। उसकी कृति प्रकृति की अनुकृति या छाया नहीं। कवि स्रष्टा है, सृजनकर्त्ता है, और बर्बर, नग्न, असंस्कृत प्रकृति को वह संस्कृत करता है, उसकी आदिम बर्बरता को सभ्य-जगत् के लिए सु-दर्शन करता है।

कवि का वर्ण्यविषय आत्मगत, एकाकिनी आत्मानुभूति अथवा आत्मचरित नहीं होगा। वर्ण्य विषय को अपनी स्थूल दृष्टि अथवा (या और) कल्पना के माध्यम से देखेगा। उसका चाक्षुष अथवा कल्पित प्रत्यक्ष उसका सत्य होगा जिसे वह रूपायित करेगा। इस प्रतिज्ञा और सिद्धान्त से आबद्ध आचरण करनेवाला कवि लोक-चेतना और जन-कल्याण की भावना से प्रेरित जब अपनी कृति को सँवारेगा तब वह 'जनवर्ग' का न होकर भी उसके पक्ष में कला का मूर्तन करेगा। इस विषय में फ्रेंच कथाकार बाल्जक का उदाहरण रखा जा सकता है, जिसने जनविरोधी वर्ग का होकर भी, अपने वर्ग की कमज़ोरियों द्वारा अपनी कृतियों को दूषित नहीं किया और ईमानदारी और सच्चाई से उस वर्ग का भंडाफोड़ किया। मध्यम वर्ग के इस कलाकार ने अपनी कला की पैनी धार अपने वर्ग पर ही फेर दी।

इस प्रकार काव्य-कृति के सृजन में दो विशिष्ट साधनों का होना कवि के लिए अनिवार्य है एक तो ज्ञान, दूसरी कल्पना ज्ञान उस परिस्थिति का जो उसका वर्ण्य

विषय है, और कल्पना वह समवेदी स्वर जो 'अचर' में भी 'जड' में भी, प्राण फूँकती है। जब कवि कहता है कि, "प्राची के द्वार से उषा झाँक रही है," तब वह अपने, हमारे और जड प्रकृति की प्रातःकालीन पूर्वाकाश की लालिमा के बीच सम्बन्ध स्थापित कर देता है; जब वह कहता है कि "वातायन में मलयानिल डोल रहा है," तब वह हवा की जडता में नये और असत्य गुण का आविर्भाव नहीं करता, परन्तु हमारे और उस अचेतन के बीच एक समबुद्धि का आविष्कार अवश्य कर देता है; जब वह कहता है कि, "निशीथ में प्रकृति नीरव थी," तब वह जड प्रकृति को जैसे जिह्वा दे कर हमारे अत्यन्त निकट ला देता है—यद्यपि प्रकृति की जडता को बदल देना उसे न अभीष्ट ही है और न वह ऐसा कर ही सकता है। परन्तु यही उसकी 'कल्पना' है जो हमारे और जड के बीच एक समवेद्य सम्बन्ध स्थापित कर देती है।

इस स्थिति में उस कल्पना के इच्छित प्रभाव को 'सहानुभूति' कह कर भी व्यक्त किया जा सकता है। यही सहानुभूति उत्पन्न कर देनेवाला कवि इस प्रक्रिया में जिस मात्रा में सफल होता है उसी मात्रा में वह महान् होता है। कालिदास का 'ऋतुसंहार' यद्यपि उच्चकोटि के काव्य के रूप में आलोचक की दृष्टि से स्थान नहीं पा सकता—कम-से-कम उसकी गणना उसी कवि के 'रघुवंश,' 'कुमारसम्भव' और 'मेघदूत' के साथ एक साँस में नहीं की जा सकती—फिर भी इसी सहानुभूति के कारण, इसी कल्पना द्वारा प्रकृति को प्रायः चेतन कर देने के कारण, उसमें काव्य की धारा बह चली है। 'ऋतुसंहार' का यह गुण, जो उसका वस्तुतः एक ही गुण है, उस महाकवि की प्रत्येक कृति में अनेकधा प्रस्तुत हुआ है। जड प्रकृति—हिमालय, वन-प्रान्तर, समुद्र, ऋतु आदि—सजीव-सी हो उठती है और हमारा उससे मानो समानधर्मिता का सम्पर्क हो जाता है। वाल्मीकीय रामायण में सीता को खोजते हुए राम का पशु-पक्षियों और चेतन-अचेतन से पत्नी का पता पूछना एक ऐसी सहानुभूति और कल्पना का वास्तविक संसार खड़ा कर देता है जो सभ्यमानवीय है, सहज है, सत्य है, शोभन है, काव्योचित है।

इस प्रकार सहानुभूति की उत्पादक कल्पना, अलंकार की ही भाँति, उससे कहीं पुष्ट और सम्मोहक वस्तुतथ्य का आवरण है। वर्ण्य स्वयं सुन्दर हो सकता है परन्तु उसके सौन्दर्य को वहन करनेवाला और उसको उचित मात्रा में विचक्षणता द्वारा समावृत करनेवाला साधन यह कल्पना ही है। कवि निश्चय उसका अधिकाधिक उपयोग करे, उसे समुचित उपकरण के रूप में अंगीकार कर उसका उपयोग करे, परन्तु हाँ, मात्रनुकूल ही, अन्यथा उसका अतिसेवन वर्ण्य को संदिग्ध, अथच कृत्रिम, असत्य भी कर देगा। आवरण या परिधान नग्न सत्य की नग्नतामात्र ढँकने के लिए है, उसकी परुषता कोमल करने के लिए, उसे सर्वथा छिपा देने के लिए नहीं। कवि बराबर यह ध्यान रक्खे कि वह वर्ण्य को कल्पना के परिधान से अवगुण्ठित कर प्रभा-विहीन नहीं कर देता, ऐसा करके अपने उद्देश्य से विमुख नहीं हो जाता।

यहाँ पर मैं इस पर भी विचार कर लेना चाहूँगा कि साहित्य के और इस अर्थ में काव्य कला के मूलभूत आधार क्या हों ? मूलभूत आधार हैं या वह

सत्य, जिसका हम ऊपर निरूपण कर आये हैं, और रोमांचकता। काव्य के लिए दोनों आवश्यक हैं। दोनों में से किसी एक की कमी काव्यत्व को केवल दूषित ही नहीं कर देगी, उसके उपादानों के अभाव से अभिसृष्टि में बाधक हो जाएगी। यथार्थता अथव सत्य का अब और निरूपण न कर हम केवल रोमांचकता पर कुछ प्रकाश डालेंगे।

रोमांचकता का अभाव काव्यत्व का अभाव है। परन्तु उसके दो रूप होते हैं। एक निष्क्रिय दूसरा सक्रिय। निष्क्रियता का परिणाम, उसके गुण के अनुकूल ही पाठक को निष्क्रिय कर देना है। वस्तुस्थिति के वासनायुक्त वातावरण में पाठक को अपने मादक प्रभाव से और भी डुबो कर निष्क्रिय रोमांचकता उसे वातावरण के अनुकूल कर देती है। उसका शिकार अपने वातावरण की दुर्गन्ध से हटने का या उसे शुद्ध करने का कोई उपाय नहीं करता—उसी में 'रम' जाता है। जैसे कादम्बरी मनुष्य की चेतना-शक्ति को सुन्न कर देती है और एक स्वप्निल मधुर संसार मद्यप के लिए अभिसृष्ट कर देती है, जिस प्रकार अफ़ीम की मात्रा अपने सेवन करनेवाले को भ्रमित कर एक नये लुभावने संसार में उसे डाल देती है, जिससे वह अलग नहीं होना चाहता, उसी प्रकार रोमांचकता भी कल्पना और रोमांचकारी प्रभाव से पाठक को विक्षिप्त तथा मुग्ध कर देती है।

और स्वयं कवि भी उस काल्पनिक, निष्क्रिय रोमांचकता अथवा रोमांचक निष्क्रियता के अपने ही बिछाये जाल से बच नहीं पाता। इस निष्क्रियता का दूसरा परिणाम होता है एक असत्य असिद्ध नये संसार की स्थापना। यह काल्पनिक उडान रोमांचक है, सर्वथा रोमांचक, और उसी मात्रा में असत्य और झूठ।

ऊपर जो यह कहा है कि कल्पना यदि वर्ण्य का शोभन परिधान न रही तो वह उसका अलंकरण न होकर अवगुण्टन बन जाएगी, वह अभी की बताई सर्वांगीण तथा अतिमात्रिक रोमांचकता को भी निर्दिष्ट करती है। हिन्दी का छायावाद इसी रोमांचक काल्पनिक जगत् का निर्माता है।

इस निष्क्रिय रोमांचकता के विरुद्ध एक सक्रिय रोमांचकता भी होती है जो उस रोमांचकता का सही रूप है जिसे मैंने ऊपर सत्य के साथ काव्य का एक मूलभूत आधार माना है। यह सक्रियता यथार्थ पर आवरण नहीं डालती, उसके कठिन संघर्ष से भागती भी नहीं, वरन् उस भयावह स्थिति से लोहा लेने के लिए पाठक को प्रेरणा देती है। उसमें वह यथार्थ वस्तुस्थिति का प्रत्यक्ष करा उसी में जीवित रहने का व्रत भरती है जिससे सशक्त हो मनुष्य प्रण करता है कि वह अपनी उस भयावह स्थिति से भागेगा नहीं, उसे बदल देगा। यह सक्रिय रोमांचकता निश्चय तब काव्य का एक मूलभूत आधार और सदर्थ का साधक बन जाती है।

वास्तव में सक्रिय रोमांचकता और वर्ण्य की यथार्थता सभी महान् कवियों और सफल कलाकारों के समन्वित साधन हैं। उनका समुचित संयोग ही कवि और कलाकार को सफल करता है। वे ही उनकी कृतियों को शक्ति, मौलिकता और आकर्षण प्रदान करते हैं उन दोनों का में होना अनिवार्य है

इन्हीं के संयुक्त साधन से कवि स्वयं भी उस पंकिल स्थिति से मुक्त होता है और अपने पाठक को भी मुक्त करता है, जिससे माधुर्य की सरसता से चिपक जाना अन्यथा स्वाभाविक हो जाता। माधुर्य और राग की सीमाएँ समान हैं, और जहाँ माधुर्य का आस्वादन पदलालित्य और काव्य की एक मधुर देन है, वहाँ राग का शिकंजा मोह की भयानक पकड़ है, जिसे छू कर बाज के भी डैने सट जाते हैं और कल्पना की उड़ान कुण्ठित हो निधन को प्राप्त होती है।

इस स्थिति को कवि निश्चय अपने और अपने पाठकों से दूर रखेगा, क्योंकि 'शिव' उसका ध्येय है, और मानव को वह पंक में न गिरने देगा, न स्वयं गिरेगा। कला अथवा काव्य को जो कल्याणकर (ennobling) कहा गया है, उसकी सार्थकता इसी में है। और यही करके निर्लिप्त, निरुद्देश्य, जड़ प्रकृति से कवि ऊपर उठ जाता है—वरना प्रकृति से ऊँचा कलाकार कहाँ!

कवि क्यों लिखे और काव्य का मूलभूत आधार क्या हो, यह बता चुकने पर अब इस पर भी विचार करना आवश्यक है कि वह क्या लिखे, किस विषय पर लिखे? वह यथार्थ लिखे और उसमें अपनी कल्पना और रोमांचकता से सहानुभूति उपस्थित करे, यह तो सही, पर यथार्थ किसका?—मनुष्य का, मनुष्य के कार्यों का।

इसका यह अर्थ नहीं कि प्रकृति और वह जड प्रकृति जिसके अनन्त-अनन्त रूप मनुष्य के अन्तर को नचा देते हैं, कवि के उल्लास और गान के विषय नहीं हो सकते। वस्तुतः वे उसके आकर्षण के विषय रहे हैं, और हैं, परन्तु इस विषय में भी हमें विकास और प्रगति का सहारा लेना पड़ेगा। जिस प्रकार अन्य वस्तुओं के विकास ने मनुष्य को प्रकृति अथवा उसकी आदिमता से दूर और अपेक्षाकृत आज के समुचित समीप कर दिया है उसी प्रकार काव्य के क्षेत्र में भी काफ़ी विकास हुआ है, प्रगति हुई है।

एक समय था जब मनुष्य प्रकृति के नंगे और ऊर्जस्वित, अथवा कमनीय और रोमांचक आकर्षण को देख नाच उठा था और उसने उससे भय और रोमानी भावना लेकर उसे अपने गायन द्वारा व्यक्त और मुखरित किया था। ऋग्वेद का कवि उषा के भ्रामक, छलिया और रोमांचक आकर्षण से विक्षिप्त हो गा उठा था—

पुनः पुनर्जायमाना पुराणी समानं वर्णमभिशुम्भमाना।
श्वघ्नीव कृत्नुर्विज आमिनाना मर्तस्य देवी जरयन्त्यायुः। (१.९२.१०)

"पुराणी, तुम नित्य समान सुन्दर रंगों से सजे वस्त्र पहन आती हो और मर्त्यों के जीवन को, पक्षी को अल्प-अल्प कर काटते कसाई की भाँति, जीर्ण करती जाती हो!"

प्रायः यही उद्गार उस ग्रीक, अमर तिथोनस के हृदय से भी निकले थे जिसे उषा ने तरुणाई में अंगीकार कर अमरता का वरदान तो दिया था, परन्तु शाश्वत यौवन का नहीं। और जरा के पल-पल डसनेवाले दुःख से क्षुब्ध होकर तिथोनस कह उठा था 'रानी, तुम तो अपने उन्हीं नित्य के राग-रञ्जित वसनों में सजी अपने

रजत-रथ पर प्राची-गगन में उतर आती हो, परन्तु उससे नित्य मेरा जरा का शिथिल तन एक-एक दिन के परिमाण में शिथिल हो जाता है !"

तो इस प्रकार कवि तब प्रकृति के अत्यन्त निकट था। खुली प्रकृति का साहचर्य तब इतना हावी था कि मनुष्य बन्धुत्व को छोड़ उसकी ओर ही आकृष्ट होता था, यद्यपि उसी ऋग्वेद में उसके कवि ने अपने समानधर्मा मनुष्य के गान भी किये। अपने चारों ओर बढ़ते हुए भय और दिये जाते दान की प्रवृत्तियों को वह नहीं भुला सका। उनके भी उसने गान किये। शत्रुओं के प्रति उसका अमर्ष प्रखर हो उठा और उसने अपने इन्द्र से उनके लौह-दुर्गों पर वज्रपात करने की प्रार्थना की, साथ ही उसने राजाओं और श्रीमानों के दानकार्य के भी, उनके प्रेम-घृणा के भी, गान गाये। इस प्रकार ऋग्वैदिक प्राचीन कवि ने भी कवित्व के आदिम काल में ही अपने वातावरण के दृश्य अपने संगीत में मुखरित किये। उस काल प्रकृति के सौन्दर्य और संघर्ष के वैषम्य भी कवि की व्यञ्जना में घर कर चले थे।

अर्थात् कवि अतीत के प्राकृतिक रूपों का उपासक तो था ही, वह अपने चतुर्दिक् घटनेवाली सावधि घटनाओं से भी विमुख न था। वह प्रगतिशील था। उसकी दृष्टि और कला दोनों में निर्बाध प्रवाह था। अधिकाधिक वह अतीत को पीछे कर समान धर्मा मनुष्य की चेतनाओं, आवश्यकताओं, संघर्षों के अनुकूल पथ पर आरूढ़ हुआ।

यह स्थिति प्रगति के रूप में उत्तरोत्तर मानव के सम्पर्क में नित्य-प्रति स्पष्ट होती गई और रामायण काल में उसने इसे पूर्णतः चरितार्थ किया। वाल्मीकि की काव्य-धारा प्रकृति की हरियाली से ओत-प्रोत है, परन्तु क्या इसमें कोई सन्देह कर सकता है कि कवि का वर्ण्य वहाँ मानव है, महामानव, 'पुरुषोत्तम', जो प्रकृति का स्वामी है, उस पर शासन करनेवाला ? इस प्रकार कवि अतीत को जानता हुआ भी अपने चारों ओर देखने लगा और आदिम जीवन से हटकर समाज के व्यक्ति-सा आचरण करता हुआ मनुष्य के चरित्र का ही गान करने लगा।

उसने समझा और माना कि मनुष्य महान् है, उसके कार्य महत्तर हैं, प्रकृति से भी महत्तर, और वह उसकी प्रशस्ति में विभोर हो उठा। उसने स्पष्टतः देखा कि मनुष्य और केवल मनुष्य, सारी वस्तुओं का, सारे विचारों का, सारे भावों का स्रष्टा है। वही जादूगर है, चमत्कार का विधाता और प्रकृति की शक्तियों का भावी स्वामी। मनुष्य से परे कुछ भी नहीं है और वही अपने शम-दम से अपनी कमजोरियों, कुप्रवृत्तियों, लोभ, स्वार्थ, घृणा और भय के ऊपर उठ सकेगा। वही जीव्य-साधनों का स्रष्टा और उनका नियामक है। उसके साधन अनन्त और असमाप्य हैं। वही महाकाव्यों का कर्ता और उनका वर्ण्य विषय भी है।

वही मानव, जो कवि भी है और उसका वर्ण्य भी, अपनी आदिम प्रवृत्तियों को तोड़कर प्रकृतिस्थ भयों के ऊपर उठकर, सभ्यता के प्रगतिशील मार्ग पर चल पड़ता है। ही निर्भीक मानव निहत्था प्रकृति के विकराल बनैले जीवों से संघर्ष कर उन्हें जीत ता है फिर भय, आश्चर्य और श्रद्धा के परिणामस्वरूप धर्म की अभिसृष्टि करता है

उसका पहला काव्य-प्रयास मनुष्य के प्रकृति-सम्बन्धी ज्ञान, अनुभूति और विजय की प्रशस्ति में होता है, जो उसके जंगली, बर्बर, असभ्य शक्तियों के साथ संघर्ष का परिणाम है। प्रकृति पर विजय उसे गर्व और शक्ति देती है और वह अपनी सहज गेय प्रवृत्ति द्वारा अपने उस गर्व और शक्ति का रूपायन महाकाव्यों में कर उठता है। इसी से महाकाव्य उसकी प्रायः पहली कृतियाँ हैं, और जहाँ वे नहीं हैं वहाँ भी कम से-कम महाकाव्य (एपिक) का तत्त्व ही मूल-रूप में निबद्ध होता है। 'रामायण' और 'महाभारत' में, 'इलियद' और 'गिलगमिश' में, सर्वत्र उसी मानव की प्रतिष्ठा और प्रशस्ति ध्वनित है जो अपने असाधारण कार्यों से महामानव बन गया है। कहीं तो वह आसुर शक्तियों पर विजय पाने के प्रयास करता है, कहीं अन्याय के विरुद्ध अपना सीना अड़ा देता है और कहीं प्रलयकरी जलराशि की उत्ताल तरंगों के बीच से जीवों के जोड़ों की रक्षा कर कल्याण करता है। सर्वत्र विरोधी शक्तियों और प्रकृति पर विजय पाने का वह प्रयास करता है—समुद्र पर वह पुल बाँधता है, आप्लावित भूमि को वह अपनी क्षुद्र नौका से लाँघ जाता है।

अब उसके सामने प्रकृति के भयकारक और चकित कर देनेवाले देवता अद्भुत और अज्ञात नहीं रह जाते और वह स्वयं अपने महापात्रों को देवता के अनुरूप शक्ति और काया प्रदान करता है। मनुष्य की सामूहिक शक्ति मानो महाकाव्य के नायक में प्रविष्ट होती है और वही संयुक्त शक्ति अपनी सामूहिक एकता से उसकी आत्मा का सर्जन करती है। मनुष्य अपने कार्यों से कवि को काव्यादर्श प्रदान करता है, उसे गाने की प्रेरणा देता है और कवि उसके कार्यों को रूपायित करता है। मनुष्य के भावातुर, प्रेमातुर, कार्यातुर स्वभाव को, उसके सुकुमार, भावुक और सर्वथा भौतिक मन की प्रवृत्तियों को (जो अब प्राथमिक अथवा आदिम नहीं, वन्य नहीं, सभ्य समाज की हैं) कवि खोलकर रख देता है। जब आत्मा या अन्तर भावों से इतना भर जाता है कि उसके भीतर वे समा या अँट नहीं पाते तब हृदय उमड़ पड़ता है और उसके हर्ष-विषाद अनिवार्यतः बाहर, सुननेवालों के कानों में, बह चलते हैं।

यह व्याख्या और रूप है उदात्त मानव का, जिसे 'एपिक'-कवि ने मूर्तिमान् किया, जिसकी प्रशस्ति को उसने गाया।

परन्तु उदात्त से परे भी कुछ है—वह जिसने यदि इकाई के रूप में कोई नायकोचित अथवा वीरोचित कार्य नहीं किया, तो जिसने पाप भी नहीं किया। इस प्रकार के निश्छल, निष्पाप, सर्वसाधारण का भी काव्य में स्थान है, और सच पूछिए तो उसका ही, जो अनन्त-अनन्त इकाइयों के रूप में, हिमालय की प्रबल श्रृंखला के आधारभूत कण-कण के रूप में, महाम्बुधि की प्रशस्त जलराशि के जलकण के रूप में विराट् है, जिसकी भाव-भंगी पर तालस्तोइ, गांधी और टैगोर रीझ गये और जिसकी सेवा में उन्होंने अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया।

असीम मानव-शक्ति का वह आदि बिन्दु शैतान के चक्कर में किस प्रकार घूम रहा है, किस प्रकार मकड़ी मक्खी को अपने जाले में उलझा कर उसे अपने तन्तुओं

मे तेज़ी से लपेटती हुई उसका लहू चूसती जाती है, काव्य के लिए इस स्थिति से बढ़ कर दूसरी नहीं हो सकती। इतना विराट्, इतना यथार्थ, इतना कल्याणकर वर्ण्य दूसरा नहीं होगा।

साहित्य मूलतः समाज की वस्तु है। समाज परिवर्तनशील है, इससे उसकी वस्तु भी परिवर्तनशील हुई। निरन्तर परिवर्तित होनेवाले समाज की प्रवृत्तियाँ, मूल आधार और बाह्य उपकरण भी परिवर्तित होते रहते हैं। जब जीवन और समाज मे ही परिवर्तन होते हैं तब उन आधारबन्धों पर टिके उनके उपकरण कैसे अपरिवर्तित रह सकते हैं ? जो लेखक, कवि अथवा कलाकार समाजगत परिवर्तनों का प्रक्षेपण नहीं करता, प्रगतिशील जीवन उसकी लेखनी की नोक से प्रवाहित नहीं होता, उसका काव्य-प्रयास व्यर्थ और निरर्थक है।

जो काव्य-कृति अपनी शक्ति से पाठक में कल्याणकर प्रवृत्ति नहीं भरती, जीवन में उसकी सार्थकता क्या है ? कला की जो कृति दर्शक को गतिमान् और सक्रिय नहीं कर पाती उसका कृतित्व असफल और असिद्ध है। जिस कृति को पढ़ कर सूना-सूना लगने लगता है, मानव का असीम, अमित, उत्पादक मस्तिष्क अथवा हृदय भी छूँछा लगने लगता है, जिसके दर्शन, श्रवण या वाचन से एक मायूसी पैदा होती है और अनेक बार इस जीवन की विषमताएँ दूर करने का प्रयास न कर जीवन को ही नष्ट कर डालने की प्रेरणा मिलती है, उसे सत्काव्य, सत्साहित्य या सत्कला कैसे कहा जा सकता है ? जो कला मनुष्य को उसकी घृणा, तृष्णा, वासना, लोभ, क्रोध, भय, स्वार्थ आदि से ऊपर उठाने में सहायता नहीं करती, उसे आदर कैसे मिल सकता है ?

कवि के लिए दैन्य, विरक्ति, अन्तर्दृष्टि वास्तव में कल्याणकर नहीं। कवि का भी एक उद्देश्य है, एक ध्येय है, जो अपहृत, दलित मानव के कल्याण को लक्ष्य बनाता है। कवि इस रूप में दलित का अभिभावक, उसका रक्षक बन जाता है; हेय, दयनीय, पतनोन्मुख समाज या स्थिति पर काव्य सिरज अपने पाठकों में सक्रियता प्रेरित करता है। कवि स्वयं तो प्रेरणा कर्म से ही लेता है परन्तु उसका काव्यगत भावोद्रेक क्षमता की अभिसृष्टि करता है। क्रौंच-वध पर आदिकवि का उद्‌गार करुणा-जनित एक प्रेरणा का प्रतीक है, परन्तु उसकी परिणति कवि की उस प्रक्रिया में हुई जिसका रूप काव्य-बद्ध रामायण है, जिसका नायक निम्नगामी प्रवृत्तियों से विरत, मूर्तिमती सक्रियता है, और जिसका आदर्श उस महाकाव्य के पाठकों में भी सत्कार्य की प्रेरणा भरता है।

अंग्रेज़ी में एक कहावत है जिसका भाव यह है कि निष्क्रिय व्यक्ति का मन दानव का कारखाना है। जो लोग जीवन के संघर्ष से दूर हैं, जन-संभार से अलग हैं, जन-स्थान जिन्हें काटता है, वे जब अपनी 'एकान्त साधना' मे रत हो अन्तर्मुख हो जाते हैं, तब उनके अन्तर में दानव साकार और सचेष्ट हो उठता है। जगत् की विविधता जन में सक्रियता का तथा आवेश और उत्साह का जनन करती है परन्तु एकाकी, अन्तर्मुख व्यक्ति अपनी वासना को अकर्मण्य रूप से स्वप्निल स्थिति मे चरितार्थ करता है।

कवि को सत्य, शोभन और कल्याणकर का वर्णन करना है। और यह सब मनुष्य की परिस्थितियों से ही विशेषतः सम्बन्धित होगा। हमारे जो आलोचक या विमार्गप्रस्थित कवियों के समानधर्मा, अतीत की दुहाई देकर वर्तमान की ओर पीठ कर लेते हैं वे इस बात को भूलते हैं कि स्वयं प्राचीन महाकवि अधिकतर अपने वर्तमान को ही लिखते आये थे और अपने अतीत-वर्णन में भी उन्होंने अपने वर्तमान की ही छाया डाली। सफल कवि वह है जो अतीत को जानता है परन्तु उससे कहीं अधिक वर्तमान में जीता है और सम्प्रति के हर पहलू को जानता और समझता है। आज के अधिकांश कवियों में, प्रगतिशील कवियों को छोड़, सम्प्रति के प्रति केवल उदासीनता ही नहीं वैमनस्य भी है, वरना क्या यह सम्भव था कि देश-विभाजन के बाद के इतने भयानक हत्याकाण्ड पर कोई काव्य न होता ? क्या यह सम्भव था कि बुद्ध और जीमूतवाहन से भी कहीं ऊँचा बलिदान करने पर भी गांधी किसी महाकाव्य के नायक न बन सकते ? आश्चर्य की बात तो यह है कि पिछली अनेक सदियों की सबसे बड़ी घटना, भारतीय स्वतन्त्रता, पर भी कोई काव्य नहीं लिखा गया ! एक सांकेतिक खण्ड-काव्य 'पथिक' को छोड़ हिन्दी काव्य-जगत् में मुझे कोई अन्य काव्य नहीं दीख पड़ता।

स्तालिनग्राद पर, हजारों मील दूर रह कर भी, दक्षिण अमेरिका का चीलियन कवि नैरूदा ऐसी ओजभरी कविता लिख सकता है जिससे हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं और उस युद्ध-केन्द्र में होनेवाले असंख्य बलिदान हमारी आँखों के सामने उठ खड़े होते हैं, परन्तु हमारे कवि इतने बड़े संघर्ष का झण्डा हाथ में ले जेल जा-जाकर भी एक समुचित राष्ट्रगान या झण्डा-गान तक नहीं लिख सके जो 'गेय इण्टर-नेशनल' के बराबर किसी मात्रा में रक्खा जा सके !

इस जनतन्त्र के युग में हमारा कवि फिर भी मनु और याज्ञवल्क्य बना शूद्र आदि निम्नवर्गीय जनता से विरक्त क्यों हो रहा है ? वह सूरज-चाँद बनकर जीवनदायिनी मरीचियों से जन-जन का स्पर्श कर उसके सामने प्रकाश का सोना क्यों नहीं बिखेर देता ? आज की सर्वहारा जनता कवि और साहित्यिक से अपना 'दाय' माँगती है। राहुल ने जब अपने पिता बुद्ध से अपना पैतृक और दाय माँगा तब उस महाभिक्षु ने उसे प्रव्रजित कर लिया और प्रव्रज्या के रूप में उसने अपना सर्वस्व उस बालक को दे डाला। क्या कवि और साहित्यिक भी अपनी प्रौढ़ कृतियाँ जन को केन्द्रीभूत कर नहीं सिरजेगा ? सर्वहारा जन को उसका वाल्मीकि चाहिए, जो क्रौंच-वध द्वारा प्रजनित करुणा से फूट तो पड़े पर अपने असाधारण उदात्त 'पुरुषोत्तम' के बदले सर्वसाधारण का चरित गाए।

परन्तु हमारे अधिकांश कवि तो अन्तर्मुख हैं। इस देश में औद्योगिक क्रान्ति नहीं हुई, फ्रान्सीसी क्रान्ति नहीं हुई, लाल क्रान्ति नहीं हुई, परन्तु स्वराज्य की क्रान्ति क्या किसी अर्थ में उससे कम थी ? किन्तु अपने राष्ट्र और संस्कृति का नाम नित्य जपकर भी पश्चिम की जूठन पचा जानेवाले अन्तर्मुख साहित्यिकों को प्रत्यक्ष वर्तमान से

क्या करना, उन्हें तो अज्ञात अतीत के चक्कर में राह काटनी है और जड़वादिता की अटूट नींद में जनतन्त्र का नाम घोखना है !

कब वह दिन आएगा जब हमारे कवि निद्रा को नहीं जागरण को देखेंगे, मनुष्य के प्रयास से बदली दुनिया को गुनेंगे और स्वप्न की दुनिया को सक्रियता से सच्ची होते देखेंगे ? कब वे, व्हिटमैन के शब्दों में, अपनी कृति के सम्बन्ध में अपने पाठकों को खबरदार करते हुए कहेंगे—"सावधान, यह पुस्तक नहीं, जीवन है; जो इसे छूता है, मनुष्य को छूता है !" या कब वे शेली की तरह रुदन और आनन्द, राग और विराग को कठिन जीवन में समन्वित और सच्चा करते गा उठेंगे—They learn in suffering what they teach us in song ! सचमुच अपने ध्वनिमय संगीत द्वारा कवि हमें तभी प्रेरित और प्रभावित कर सकता है जब उसने अपने वर्ण्य की पीड़ाएँ संघर्ष में स्वयं अनुभव की हों।

अन्त में हम एक बार फिर कवि के टेकनीक और साहित्य के कलेवर की ओर संकेत कर इस निबन्ध को समाप्त करेंगे। व्यक्ति पर जब घटनाओं और परिस्थितियों का दबाव और प्रभाव पड़ता है और जब उनसे प्रभावित, द्रवित और प्रेरित गायक अपनी वाणी में फूट पड़ता है तब काव्य की निःसृति होती है। परन्तु वह निःसृति प्रवाह बनकर सबको शीतल और शुद्ध करती है, किसी को वंचित नहीं रखती। और जो गायक मनुष्य-मनुष्य में भेद डालता है वह समाज का शत्रु और उसकी प्रवृत्तियों को दबा देनेवाला चोर है, या केवल एक वर्ग का चिन्तन करनेवाला स्वार्थी है।

परन्तु जब वह गान बन्द कर शब्दों के साधन से परिस्थितियों और घटनाओं को साहित्य में प्रतिबिम्बित करता है और उसमें विचारों की शृंखला खोलता हुआ उसके आनन्द को वर्ग-विहीन कर देता है तब वह सफल होता है। सरल, सार्थक, आशुधार्य उसकी भाषा उस सच्चे साहित्य का वाहन हो जाती है जिसकी कच्ची सामग्री जीवन की घटनाएँ और परिस्थितियाँ हैं।

भाषा अवश्य कवि की हो, पर दुरूह न हो, क्योंकि भाषा भाव का वाहन है। और साथ ही भाषा में ग्राम्यता भी न हो, अन्यथा वह साहित्य नहीं बन सकेगी। यदि साहित्य का प्रयास उद्देश्यपरक है और यदि कवि भी मनुष्य को उसके उचित स्थान में प्रतिष्ठित करने के पुण्य कार्य में हाथ बटाना चाहता है, तो निश्चय उसका साहित्य शक्तिमान् और प्रेरक होगा, और ऐसा तभी हो सकेगा जब उसमें कला होगी, काव्य-गुण होंगे। कवि और साहित्यिक ग्रामीण भाषा को संस्कृत कर उसके पढ़नेवालों में एक प्रकार की सुरुचि भी उत्पन्न करता है और इस दिशा में भी वह जनता का पथ प्रदर्शक है। जन-काव्य वास्तव में न ग्रामीण होगा न शब्दाडम्बर-पूर्ण।

कवि मनुष्य के पराक्रम, उसके संघर्ष और उसकी विजय से सम्बन्ध रखनेवाले करुण, ओजस्वी और गर्व भरे भावों की भारती काव्यबद्ध कर हमारे सामने रक्खेगा और उससे हम अपने आदर्श, अपनी शक्ति, अपना सन्तोष ग्रहण करेंगे। निःसन्देह ऐसे कवि की कृति हमारी होगी जो पुलकित हो हमें करेगा 'इसे पुस्तक न जानो जो इसे छुएगा मनुष्य को छुएगा '

७

नाटककार क्या लिखे ?

नाटक एक प्रकार की नकल है, परिस्थिति-विशेष की नकल। अतिप्राचीन काल से, जब साहित्य का निर्माण भी अभी सही-सही प्रारम्भ नहीं हुआ था तभी से, इस नकल की परम्परा चल पड़ी थी। नाट्य अथवा नाटक में नट और नर्तक दोनो की कला समन्वित है। इस समष्टि में कला की एक तीसरी धारा भी है जो कवि की है, और सरस्वती की भाँति प्रच्छन्न रूप से इस त्रिवेणी को प्रस्तुत करती है। कवि स्वय प्रकट न होकर भी नाटक मे अनेक रूपों से विद्यमान् रहता है। इसी कारण प्रायः सभी प्राचीन साहित्यों में नाटक को काव्य की परम्परा मे ही गिना गया है।

हाँ, इधर कुछ काल से विदेशों मे नाटककार को 'कवि' का नाम प्रायः नही दिया जाता। उसका विशेष कारण यह है कि नाटकों में अब नये चमत्कारों का समावेश होने लगा है और उनमें नाटक को काव्य बनानेवाली इतनी रसात्मकता नहीं, जितनी परिस्थितियों की शक्ति है, जो जीवन को कविता द्वारा नहीं, अपितु स्थिति की कारुणिकता आदि के द्वारा प्रकट करती है।

बर्नार्ड शा आदि सुप्रसिद्ध नाटककार इसी कारण कवियों की परम्परा में नहीं आते, यद्यपि उनकी कृतियों में विमुग्धकारी प्रसंग चरम सीमा तक होते हैं। पहले कवियों में से अधिकतर ने नाटक और काव्य दोनों का समान रूप से सृजन किया है। कालिदास, जयदेव, शेक्स्पियर आदि इसी कोटि के कवि और नाटककार हैं। संस्कृत के नाटकों मे तो गेय श्लोकों की भी इतनी प्रधानता है कि नाटककार का कवि कहलाना वैसे भी कुछ अजब नहीं।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, नाटक की प्राचीनता असाधारण है। नट से जो नाटक का सम्बन्ध है वह उसी काल का है जब काव्य की मात्रिक अथवा अमात्रिक गेयता अभी असिद्ध थी, यद्यपि हर्षोल्लास के परिणामस्वरूप स्वर के कम्पन का अभाव न था। नट और नाट्य का सम्बन्ध वस्तुतः नकल में इतना नहीं, जितना नट की करामात मे है। अपने करतबों से जो वह स्थिति में विचित्रता और असाधारणता प्रस्तुत कर देता है वही नाटक की परिस्थिति का भी भावात्मक आधार है।

नट के अद्भुत गति-क्रम में एक प्रकार की सधी हुई और अभ्यस्त व्यञ्जना थी जो शब्द की न होकर भी गति के परिचालन में पर्याप्त स्पष्ट थी। जब एक ही स्थिति अनेक बार, विविध क्षणों मे, एक ही रूप से प्रस्तुत की जाती है तब उसे 'कला' की संज्ञा मिलती है शब्दहीन होकर भी वह कला इस रूप में की लय प्राप्त कर

सकती है। और वही स्थिति जब बार-बार प्रदर्शित होते समय रूप में अन्यता अथवा व्यभिचार प्रकट करती है, तब उसमें कला की असिद्धि अथवा विकृत कला की दुर्बलता घर कर लेती है।

इसको और स्पष्ट करने के लिए उदाहरणतः यह कहा जा सकता है कि एक राग एक ही विशिष्ट विधि से गाया जा सकता है। मूर्च्छना के सप्तस्वरों के अपने-अपने स्थान और प्रयत्न है, और उनकी विकृति कला की विकृति है। इस प्रकार जब एक ही प्रदर्शन अनेक स्थलों और विविध कालों में एकधा प्रस्तुत होता है तब नट की वह प्रक्रिया कला का रूप धारण करती है। और जो बात नट की इस कला के सम्बन्ध मे सत्य है वही नर्तन के सम्बन्ध में भी सत्य है। नर्तन का आरंभ भी निश्चय उन्ही कारणों से, हर्षोल्लास की उन्ही प्रक्रियाओं से हुआ। परन्तु प्रतिक्रिया-रूप में अप्रत्याशित और आकस्मिक रूप से जब मनुष्य थिरक उठा तभी नृत्य का भी श्रीगणेश हुआ, यद्यपि उसमें अनभ्यास और अप्रायोगिकता होने के कारण कला का प्रादुर्भाव न हो सका।

परन्तु उसीने जब कर्पण के बाद एक ही प्रकार की गति से स्पन्दन और आवर्तन आरम्भ किया जो बार-बार उसी रूप में सचेतन कृत्रिमता से प्रदर्शित होने लगा तब वही नर्तन की कला कहलाई। 'कृत्रिम' शब्द का प्रयोग मैं जान-बूझकर कर रहा हूँ। उसे मैं 'आडम्बर' तक कहना कुछ बेजा न समझूँगा, क्योंकि ये दोनो शब्द प्रकाश्य अर्थ में इस सम्बन्ध में उतने ही सार्थक हैं जितने लाक्षणिक रूप से कला के भावार्थ में सिद्ध।

क्योंकि कला वास्तव में चाहे जितनी भी अपनी मात्रा में स्वाभाविक अथवा सहज हो जाए, इस अर्थ मे कृत्रिम ही होगी कि वह आकस्मिक अथवा अप्रत्याशित नही, बल्कि अभ्यास की वस्तु है और स्थिति को बारम्बार फिर से अभिसृष्ट कर सकती है। 'प्राकृतिक' की आत्मा वस्तुतः उसके अविकृत रूप से बार-बार एक ही लय, ताल मे उसे फिर-फिर प्रकाशित करने में है। एक स्थिति को एक ही रूप में लौटा-लौटा कर जीवित कर देना ही कला है और साथ ही यही कला की आत्मा 'कृत्रिमता' है। परन्तु यह कृत्रिमता अभ्यास से प्रसूत है और इसमें संक्रामक तथा एकस्थित सम्मोहकता है। इसका सहज होना वास्तव में स्पन्दन में अभ्यास की सिद्धि है, जो कला को मुखरित करता है।

इस प्रकार नर्तन भी नाट्य या नट-कार्य के अत्यन्त समीप है और दोनों मिल-कर स्थिति-विशेष की असाधारणता और उसके कलात्मक रूप को स्थिर करके नाटक को जन्म देते हैं। अर्थात् स्थिति-वैचित्र्य, नर्तन और उन दोनों के माध्यम से स्थिति-विशेष की नकल ही नाटक है। अभिनयन वास्तव में अनुगमन अथवा अनुनयन का ही एक दूरस्थ रूप है। उसे यदि हम 'रूप' न कहकर 'नाम' भी कहें तो शायद कुछ बेजा न होगा।

प्राचीन संगीत में, जैसा इस लाक्षणिक संज्ञा से स्पष्ट है, वाद्य, गान, और नृत्य तीनों का समाहार होता था संगीत में तीनों का योग था परन्तु स्पष्ट संगीत,

नाटक किसी अर्थ में न था। नाटक संगीत से कहीं व्यापक रूपायन था जो उसी का सा दृश्य और श्रव्य होता हुआ भी उससे भिन्न और परे है, यद्यपि उसे वह अंगीकृत करता है। संगीत में दृश्य कुछ भी नहीं, और जो कुछ है भी वह सर्वथा काल्पनिक अथवा ध्वनि से प्रस्तुत श्रोत्र-गम्य है। परन्तु नाट्य जहाँ पूर्णतः दृश्य है वहाँ वह संगीत के श्रव्य-भाव को भी अंगीकृत करता है।

उसे इसी कारण 'रूपक' कहा गया है। 'रूपक' का अर्थ काव्य में 'चित्र' होता भी है परन्तु वहाँ उसका प्रयोग काल्पनिक रूपायन के अर्थ में है। उधर नाट्य का रूपक सर्वथा दृश्य और प्रत्यक्ष है। कालिदास ने इसे मुनियों के अनुसार 'देवताओं का शान्त, चाक्षुष क्रतु (यज्ञ)' कहा है। उस महाकवि और असाधारण नाटककार के अनुसार नाटक सत्त्व, रज और तम आदि गुणों से प्रादुर्भूत जीवन में मनुष्य के विविध चरितों का प्रकाश करनेवाला है। त्रिगुणों से उत्पन्न नाना रसों से युक्त लोकचरित का समाराधक यह नाट्य भिन्न रुचिवाले जनों का प्रायः एकधा प्रसादन करता है। इसका तात्पर्य यह है कि लोग चाहे जितने भी विविध रुचियों के हों, नाटक सबका एकत्र मनोरंजन करता है।

प्रायः इसी प्रकार के विचार इस सम्बन्ध में 'नाट्यशास्त्र' के रचयिता भरत और 'दशरूपक'-कार धनंजय ने अपने ग्रन्थों में प्रकट किये हैं। नाटक को भरत ने 'ललिताभिनय' तो कहा ही है, 'अष्टरसाश्रय' भी कहा है। इससे भी काव्य के प्रायः सारे रसों का उसमें समाविष्ट होना भारतीय प्राचीनों ने माना है। और 'ललिताभिनय' शब्द में तो 'ललित' पद द्वारा कला का रूप भी ध्वनित कर दिया गया है। इस प्रकार नाटक में काव्य, नृत्य और नट-कर्म की विचित्रता तथा नकल का भी समन्वय है। 'समन्वय' कहना शायद इस भाव में सर्वथा समुचित न होगा, क्योंकि नाटक उनका समन्वय नहीं, अंगीकृत समष्टि है।

इसी अर्थ में वह अलग-अलग काव्य, नृत्य, वाद्य आदि से कहीं व्यापक, कहीं महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य दर्शक के रूप में अपनी जानी हुई, झेली हुई या रची हुई परिस्थिति को सामने आचरित होते देखता है। वह देखता है कि अभिनीत परिस्थिति प्रकटीकृत वह स्थिति है जिसे शायद वह प्रकट करना न चाहता। असल की यह नकल सफल तभी हो पाती है जब ललित कला द्वारा उसका सजीव और प्राकृतिक अभिनयन होता है।

'नकल' शब्द को भी यहाँ स्पष्ट कर देना उचित होगा। इस शब्द का एक व्यवहार भँड़ैती के अर्थ में भी होता है। दोनों वास्तव में इस अर्थ में इतने निकट हैं कि कुछ लोगों ने एक का अर्थ भ्रमवश दूसरे से भी लिया है। यह भ्रम वस्तुतः इस कारण हो गया है कि जैसे नाटक दृश्य और श्रव्य है वैसे ही 'भाण' भी। संस्कृत का 'भाण' ही आज की भँड़ैती है। 'भाण' नाटक के अनेक प्रकारों में से एक था, जिसका विस्तृत वर्णन शास्त्रों में किया गया है।

नकल अब चाहे जिस मात्रा में भी 'भाण' या भँड़ैती का पर्याय माना जाता

हो, पहले वह नाटक का ही आन्तरिक स्वरूप था। नाटक की प्रांजल, अभ्यस्त और प्रायोगिक भूमि ही उसके प्रकाशन की भूमि भी थी।

हिन्दी में नाटक लिखे गये हैं। उनको हम साधारणतः काल की दृष्टि से चार भागों में बाँट सकते हैं। उनमें से पहला तो वह काल है जब बँगला से नाटकों के अनुवाद हुए हैं। दूसरा काल या वर्ग उन नाटकों का है जो अपेक्षाकृत स्वतन्त्र रूप में भारतेन्दु-युग में लिखे जाने लगे थे। उनमें एक बात महत्त्व की थी और वह यह कि स्थिति की सत्यता उनमें प्रचुर मात्रा में अभिनीत हुई। परन्तु उनमें साहित्यिक गाम्भीर्य अथवा ललित मर्यादा की कमी थी। उनका साधारण प्रयोग प्राञ्जल न होकर प्रायः भँड़ैती पर उतर आया था। इसी काल, जिन पौराणिक परिस्थितियों का नाटक के रूप में अभिनय हुआ उन्हें पारसी कम्पनियों ने अपनी भयानक बर्बरता से प्रस्तुत किया और खेला। ये नाटक न साहित्यिक भावना से युक्त थे न कला की अभिव्यञ्जना से प्रयुक्त। इनको एक वर्ग की महत्ता देना भी अनुचित होगा।

तीसरा वर्ग ऐसे नाटकों का बना जो एक विस्मृत पृष्ठभूमि की नयी और पुनर्जाग्रत अनुचेतना थी। जिस प्रकार चित्रकला में हैवेल और अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रयास से प्राचीन लुप्त और मृत चित्रकला अतीत के प्रति नवजाग्रत भारतीय प्रेम से पुनर्नवा हुई, उसी प्रकार नाटक के क्षेत्र में भी एक रोमांटिक अतीतप्रियता सजग हुई। इसी चेतना के परिणामस्वरूप तीसरे वर्ग के नाटकों की अभिसृष्टि हुई। जयशंकर 'प्रसाद' के प्रयास से एक काल्पनिक जगत् की हिन्दी नाटकों में प्रसूति हुई परन्तु यद्यपि आकार-प्रकार तथा शब्दाडम्बर में अतीत की काया खिंच गई, फिर भी वह उनमें जीवित न हो सकी, न हो सकी। एक कृत्रिम, हेय, असत्य, सर्वथा काल्पनिक वातावरण ने दर्शकों का मनोरंजन शुरू किया, परन्तु सिवा स्वीकारात्मक तुष्टि के आभास के दर्शकों का मनोरंजन नहीं हो सका। हाँ, जब-तब उन्होंने अज्ञान को अंगीकार न कर सकने के कारण मनोरंजित होने की हामी जरूर भर दी।

परन्तु जो जानकार थे उन्होंने देखा कि यद्यपि आकार-प्रकार का आभास अतीत जैसा कुछ जरूर था, पर था वह वस्तुतः आभास ही, विगत की 'ममी' मात्र। उसमें न क्रियाशीलता थी, न स्पन्दित प्राण थे। मध्यप्रदेश की श्रद्धालु मिट्टी ने फिर कुछ ऐसे नाटक-आदर्श प्रस्तुत किये कि कला के क्षेत्र में उनके प्रति संकेत भी कला का अपमान करेगा।

लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अतीत को सपद किया, उसे गति दी, परन्तु वह भी उचित मात्रा में उठ न सका कि सक्रिय हो जाय। कारण कि अतीत के उस पुनरावर्तन में उपादेयता की सिद्धि न हुई। वर्तमान अतीत की धरणी पर खड़ा है। उसके द्वारा वह धारण किया हुआ है। अर्थात् दोनों की कड़ियाँ एक-दूसरे से युक्त हैं। परन्तु मिश्रजी के अतीत-विषयक नाटक में सिद्ध हैं इससे वर्तमान में असिद्ध उनके नवयुग-सम्बन्धी नाटक निश्चय रंगभूमि के अर्थ में सफल हुए यद्यपि

उनके भीतर ध्वनित अथवा वर्णित स्थितियाँ हमें ग्राह्य नहीं, क्योंकि उनकी भावना, उनका उपदेश, उनकी सक्रियता एकांगी है।

अन्तिम वर्ग उन नाटकों का है जो कुछ काल से हिन्दी साहित्य में अभिसृष्ट होने लगे हैं। उनमें से अनेक वर्तमान की पृष्ठभूमि पर खड़े हैं, यद्यपि उनकी भावभंगी कुछ वैसी ही है जैसी आज की हिन्दी की काव्यकृतियों की। उनमें स्थिति की कारुणिकता, परुषता अथवा अलौकिकता का सम्मोहन प्रस्तुत कर देने की क्षमता तो है, परन्तु उन्हें शोभन अथवा कल्याणकर किसी प्रकार और किसी अंश में नहीं कहा जा सकता।

शरीर—रुग्ण नहीं समर्थ शरीर—क्रियाशील है। उसकी रति, विरति, रंजन, आनन्द, भय और जुगुप्सा सब पिण्ड के आलम्बनमात्र हैं, उसके साधनमात्र, स्वयं उसके घटयिता अथवा निर्माता नहीं। शाश्वत जीवन के सपद अभियान में कर्मठता का प्राचुर्य होता है, जो यदि चाक्षुष दृश्य से, काव्य के जादू से, द्रवित और विनम्र न कर दिया जाय तो वह चटखकर टूट जायेगा और उसका अभिप्रेत सिद्ध न होगा। इससे रति, विरति, रंजन और आनन्द की उसे आवश्यकता होती है।

परन्तु प्रायः उसी मात्रा में, प्रायः उतनी ही बार, जितनी मात्रा में, जितनी बार शरीर को भोजन की आवश्यकता होती है। अत्यधिक भोजन करनेवाला पेटू कहलाता है, अत्यधिक आकर्षण में रति रखनेवाला कामुक। और शास्त्रतः भी उसी शरीरी की मर्यादा स्तुत्य है जिसके 'आहार-विहार' 'युक्त' होते हैं। वर्तमान नाट्य-कृतियों में व्यंजित परिस्थियाँ भी सक्रिय पर सम्मोहन डालकर निष्क्रिय का निस्तेज जाग्रत करती है, जो न शोभन हैं, न सत्य और न कल्याणकर।

आधुनिक नाटककार, जो शोभन, सत्य और शिव के उद्देश्य से प्रेरित नहीं, जो स्थिति को पर्यंकबद्ध होकर सोचता है, वह भ्रमित है, मृत्यु का सेवन करता है, अमरता का नहीं। अन्धकार से वह प्रकाश की ओर चलने का प्रयास नहीं करता। सत् से मुँह फेरकर वह असत् की उपासना करता है।

स्थिति की कारुणिकता, उसकी भयकर विषमता, उसका अन्याय अवसर-वितरण और अयुक्त अनुचित दण्ड क्यों नहीं हमारे नाटककारों को वस्तुस्थिति खोलकर रख देने में विवश करता ? क्यों उसकी चेतना 'पर्यंक-जन्य' है ? उसकी कला अमित मात्रा में उचित सन्देश क्यों नहीं दे पाती ? क्यों उसके नायक और चरित केवल उदात्त, कृत्रिम, परिमित, अलौकिक और असत्य तथा अनैतिहासिक रूप में रंगमंच पर उतरते हैं ? क्यों नहीं वे उस अतीत के निर्भीक कलाकार शूद्रक को ही प्रमाणस्वरुप ग्रहण करते, जिसने अपने "मृच्छकटिक" में शास्त्र को हटाकर सजीव लोक को प्रतिष्ठित किया, जिसने अपनी क्रान्ति द्वारा प्रमाणित कर दिया कि दरिद्र ब्राह्मण भी नाटक का नायक हो सकता है, वेश्या भी शान्त और नायिका हो सकती है, ब्राह्मण भी चोर हो सकता है और उसका यज्ञोपवीत भी सेंध लगाते समय 'प्रमाणसूत्र' का हो सकता है ? प्रकरण का सहारा लेकर भी जैसे शूद्रक ने साहित्यिक क्रान्ति की, हमारा

नाटककार वैसे क्यों नहीं करता ?

भवभूति ने "उत्तररामचरित" को रचकर भगवती जगदम्बा सीता के प्रति किये गये राम के अन्याय को चुनौती दी। दण्डी ने "दशकुमारचरित" द्वारा अपने घृणित, कामुक, नरकतुल्य समसामयिक समाज को वल्कल की भाँति खोलकर रख दिया। अतीत की ही उपासना करता हुआ हमारा वर्तमान नाटककार 'शम्बूकवध' की क्यों नहीं प्रतारणा करता ? क्यों नहीं दण्डी की भाँति ही वह समकालीन समाज के वैषम्य को, उसके असम वितरण को, उसकी अन्याय्य अवसरवादिता को, उसके कृत्रिम वातावरण को अपने अभिसृष्ट नाटकगत रंग में खोल कर रख देता ?

नाटक विशेषतः दो प्रकार के लिखे गये है—एक जो खेले जा सकते हैं और दूसरे जो केवल साहित्यिक भूख मिटाते हैं। प्राचीन काल में संस्कृत आदि में अधिकतर खेले जानेवाले नाटक ही लिखे गये—उनका प्रचल एक रूप मे 'चाक्षुष' था। इधर विशेषकर यूरोपिय साहित्य से प्रभावित ऐसे भी कुछ नाटकों की हिन्दी में अभिसृष्टि हुई है जो रंगमंच के इतने उपयुक्त नहीं जितने साहित्य के आस्वादन के योग्य।

मुझे साहित्यास्वादन के निमित्त लिखे नाटकों से विरोध नही—यदि वे साहित्य के प्रगतिशील आदर्श का पोषण करते हों और समाज की हित-कामना को सामने रखते हों। परन्तु नाटक का वास्तविक तात्पर्य तभी सिद्ध होगा जब वह रंगमंच पर विधिवत् खेला जा सके। नाटक की सार्थकता उसकी रंगमंचीय उपादेयता में ही है। यदि सच पूछा जाय तो साहित्यास्वादन के लिए लिखे गये नाटकों की व्यावहारिक तथा मूल अर्थ में कोई सिद्धि नहीं, क्योंकि उस स्थिति में रंगमंच-सम्बन्धी उनके आदेश निरर्थक सिद्ध होंगे।

अभी तक मेरे देखने में ऐसा कोई नाटक नहीं आया जो रंगमंच से सम्बन्ध न रखता हो, जिसमे रंगमंच-सम्बन्धी आदेश न हों, पात्रों के 'प्रवेश' और 'प्रस्थान' आदि का निर्देश न हुआ हो। यदि नाटक केवल पढ़े जाने और रस के एकाकी आस्वादन मात्र के लिए हैं, तो निश्चय इन निर्देशों का कोई अर्थ नहीं। सच तो यह है कि जिन नाटकों में भावार्थ-सिद्धि होती है परन्तु अभिनय-सिद्धि नहीं, उन्हें हम रंगशाला में पृथक् करके साहित्यानुवाचनामात्र मान लेते हैं। परन्तु यहीं उनकी असिद्धि है।

नाटक की सिद्धि उसके खेले जाने पर निर्भर करती है, और खेले जाने पर ही नहीं, बल्कि निदर्शन और अभिनय द्वारा उन परिस्थितियों और रसों के परिपाक पर जिनके निदर्शन के अर्थ नाटकीय वस्तु का अभिग्रथन हुआ है। कालिदास और "नाट्यशास्त्र" के रचयिता भरत की ओर बार-बार इस सम्बन्ध में हमें झुकना पड़ता है, जिन्होंने नाटक को सच ही "शांतं, क्रतुं, चाक्षुषम्" माना है—सच ही वह शान्त, चाक्षुष यज्ञ है। शान्त यज्ञ का संकेत उस सामाजिक सुव्यवस्था से है जिसके लिए जागरूक साहित्यिक सदा अपने वर्तमान में सयत्न रहता आया है, वही उसकी कल्याण कल्पना है, वही उसका शान्त यज्ञ है

और वह सर्वथा 'चाक्षुष' है—नाटक-ग्रन्थ के लिखे अथवा छपे पृष्ठों पर दृष्टि का निपात नहीं, बल्कि रंगमंच पर तिरस्करिणी से तिरस्कृत और प्रसंगवश प्रकट और दुरित होनेवाले दृश्यों का स्पष्ट प्रत्यक्षीकरण। नाटक का सार्थक होना वास्तव मे शोभनता और उपादेयता के विचार से परिस्थिति की नकल ही है और उसकी सफलता उस नकल की आनुपातिक मात्राओं द्वारा सीमित होती है।

"प्रसन्नराघव" का समाज लम्बे डग भरता अपनी वस्तुस्थिति को दूर पीछे छोड बहुत आगे निकल गया है। "वेणीसंहार" सुषुप्त अतीत को झकझोर कर फिर एक बार स्वयं उसी में विलीन हो गया है और अब जो उसकी चेतना फिर से लौट सकती है तो एक ही रूप में—'वर्ग-संहार' के रूप में। परन्तु इस ओर क्या आज के नाटक-कार की दृष्टि जाती है?

समाज की बहती धाराओं को पाश से अवरुद्ध करने का प्रयास किया जा रहा है और वे धाराएँ पाश के तन्तुओं को तोड़ती बह चली हैं—फिर यह अस्वाभाविक प्रयत्न क्यों? वस्तु का विषय क्या हो, यह पहले, विशेष कर "कवि क्या लिखे?" निबन्ध में, लिखा जा चुका है। परन्तु उसके लिए विशेष गणना की भी आवश्यकता नहीं। अनन्त-अनन्त घटनाएँ हमारे चारों ओर आज स्थिति की विषमता से घट रही हैं, जो साहित्यिक, विशेष कर नाटककार की लेखनी को धन्य कर सकती हैं। उनका परिमाण सामाजिक वैषम्य के अनुपात मे होने के कारण नितान्त असीम है। हाँ, उनकी इकाइयों को जौहरी की आँख से चुनना साहित्यिक का काम है।

नाटककार साहित्य-शिल्पी का सबलतम रूप है, जैसे नाटक साहित्य का परम प्रबल रूप है। साहित्य की सफलता इस बात और इस मात्रा में स्वीकृत होती है कि वह प्रच्छन्न और नेत्रान्तरित को अथवा धूमिल और अस्पष्ट को बुद्धिगम्य कर दे, नेत्रों के सामने मूर्तिमान् कर दे अर्थात् अपेक्षाकृत 'चाक्षुष' कर दे। चाक्षुष कर देना उसका अन्तिम लक्ष्य है। परन्तु नाटक का 'चाक्षुष' आधार आधारमात्र है, जिस पर जीवन की समाजगत आवृत्तियाँ पुनरावृत्त होकर खड़ी होती हैं। अर्थात् काव्यादि साहित्य का जो चरम है वह नाटक का सहज अंग है—उसका बहिरंग और अन्तरग दोनों। और इसीलिए कि उसका रंगमंच पर प्रदर्शित होना ही सार्थक है।

विगत घटना नट की चातुरी से, संगीत के स्पन्दन से, अभिनय के जादू से, लौटा कर मंच पर खड़ी कर दी जाती है, जहाँ उसे सब देख लें, और उसकी शक्ति उसके जीवन की उस मात्रा तक सीमित रहती है जो नाटककार की शक्ति और सफलता की परिचायक है।

तो फिर हम नाटक के गर्भांक 'नकल' की स्थिति को ही पहुँचे। नाटककार का इसलिए यह कर्तव्य हो जाता है कि अपने चतुर्दिक् घटनेवाली घटनाओं को मांस और मज्जा देकर, रक्त के प्रवाह से उष्ण करके उनमें प्राण फूँके और शब्द के रूप में उनमें तेज भरे नाटक जीवन का जितना प्रतिबिम्ब है उतना साहित्य का दूसरा कोई

अरा नहीं। वास्तव में नाटककार को उसकी कला की व्यंजना ही उसकी परिधि में रहने को मजबूर करती है। क्योंकि काव्यादि साहित्य में अघटनीय कल्पना का भी आभास शब्द और राग मे बाँधा जा सकता है, परन्तु नाटक में वह नहीं बाँधा जा सकता—रूपायन और मूर्तन अरूप और अमूर्त का नहीं हो सकता, रूप और रेखा का ही हो सकता है। इसलिए प्राकृत साहित्यानुबन्धों ने स्वयं ही नाटक की परिधियाँ बाँध दी हैं, जिनके बाहर निकलने का प्रयास करनेवाला नाटककार हास्यास्पद हो उठता है। यह सम्भव है कि कोई शेक्सपियर "मिड्समरनाइट्स ड्रीम" लिखकर अद्भुत और अघटनीय तथा असम्भव को रंगमंच पर प्रस्तुत कर दे, परन्तु वास्तव मे दर्शकों को जो बात सन्तुष्ट करेगी वह निश्चय प्लॉट अथवा वस्तु के अंक-गत दृश्य न होंगे, बल्कि हास्यादि को उत्तेजित करनेवाली परिस्थितियाँ होंगी या शब्द-योजना की सम्मिलित, शक्तिमयी प्रेरणा होगी। निश्चय एक का सिर उतार कर दूसरे के कन्धे पर रख देना घटना के रूप में कोई अर्थ नहीं रखता और उसकी स्वाभाविकता मे न तो तब के दर्शकों का विश्वास था न अब के दर्शकों का होगा। नाटक के रूप में पदलालित्य और अभिनयास्वाद से हम चाहे कितने भी प्रभावित क्यों न हो जायँ, उसे हम उच्च कोटि का नाट्यतत्त्व नहीं कह सकते।

फिर मनुष्य के दृष्टिकोण में उसकी प्रवृत्तियों आदि में भी इन सदियों ने कुछ कम अन्तर नहीं डाला है। जो कभी केवल कुछ जनों की वृत्ति थी, जो कुछ और वर्गविशेष की रुचि और सत्ता का आकर्षण और बोधक थी वह आज एक क्षितिज से दूसरे क्षितज तक फैल कर आकार धारण कर चुकी है, कपर्दी की जटा की भाँति वह आज आकाश को घेरे हुए है। कपर्दी की वह जटा आज का जनसंकुल समाज है जो वर्णों की व्यवस्था अथवा वर्गों के दबाव से विचलित होकर अपने स्वाभाविक बन्धनों को छोड़ चला है।

उसके प्रयास का पग-पग स्तुत्य है और साहित्यिक के स्तोत्र-गायन का विषय बन सकता है। परन्तु उसका सबसे शक्तिमान् प्रतिबिम्ब नाटककार के निर्मल आदर्श पर पड़ेगा जिसकी कला की निर्मलता के अनुपात मे ही छाया की स्पष्टता झलकेगी। नाटककार इसलिए मूल में संघर्षयुक्त, रूप में विषम और परिणाम मे कल्याण कर उस घटना के मूर्तन से अपनी लेखनी को पवित्र और सफल करे।

नाटककार को आज जो अवसर प्राप्त है वह कालिदास और भवभूति को कभी प्राप्त न था। क्षत्रिय संरक्षकों और राजदरबारों पर वस्तु-निर्माण की सीमाओं से परिमित प्राचीन कवियों और नाटककारों को नाटक की यह खुली ज़मीन मुअस्सर न थी जो आज के नाटककार को है। आज वर्ण-वर्ण—वस्तुतः वर्णहीन समुद्रवत् जाग्रत समाज—नाटककार की लेखनी का विषय है और वह समाज भी कुछ अचेत नहीं, सीमाओं में बद्ध नहीं, शृंखला-रहित है, अगोप्य है, अनन्त है, प्रत्यक्ष है। उसकी घटनाओं की अनन्तता उसके अपरिमित विस्तार के समान ही असीम है।

और वह समाज गतिमान् है सक्रिय है सचेत है अपनी शक्ति का उसे उतना

ही ज्ञान है जितना अपने अधिकारों का और अपने लक्ष्य का जिसकी ओर सपद गति से निरन्तर वह बढ़ता जा रहा है। उसका संकट और उस संकट को जीत लेने का उसका पल-पल प्रयास जितना ही प्रत्यक्ष है उतना ही अकृत्रिम। उस यथातथ्य को यदि चाहे तो जैसे का तैसा वह रंगमंच पर खड़ा कर सकता है और यदि उसे उसमें कुछ जोड़ना होगा तो बस इतना कि लक्ष्य शत्रु-शक्तियों के आवरण से आच्छन्न न हो जाए, गति धीमी न पड़ जाय, विजय का उल्लास तब तक बना रहे जब तक वैषम्य की बेडी टूक-टूक न हो जाय।

पृथ्वी जिस प्रकार सूर्य के चतुर्दिक् घूमती हुई अपनी धुरी पर भी घूमती है, उसी प्रकार समाज भी अपनी विषमताओं के विरुद्ध असामान्य संघर्ष करता बढ़ रहा है और साथ ही उसकी इकाइयाँ भी अपने गिर्द में चक्कर ले रही हैं। नाटककार का यह कर्तव्य होगा कि वह समाज के असामान्य संघर्ष का मूर्तन करने के साथ ही उसकी इकाइयों के वृत्त का भी रूपायन करे। परन्तु उसका यह सर्वथा कुशल प्रयोग होगा यदि यह देखे कि इकाइयों और समाज के आवर्तन का केन्द्र समान है। इकाइयाँ और समाज समान-केन्द्रीय ही बनें, विषम-केन्द्रीय न बन जायँ, यह विशेषतः नाटकार को देखना है। अर्थ यह है कि व्यक्ति की चेतना और उसके प्रयास का मूर्तन करते समय वह कहीं भूल न जाय कि व्यक्ति की समाजानुकूल भावना ही स्वस्थ, समुचित, शोभन और कल्याणकर है। वह इस इस बात को भले प्रकार स्पष्ट कर सकता है कि जहाँ व्यक्ति का स्वार्थ समाज की गति, उसकी तुष्टि और कल्याण में बाधक होता है, वहाँ दोनों में विषम परिस्थितियाँ रूप धारण करने लगती हैं और इकाई पितृहन्ता का रूप धारण करने लगती है, जो घृणित पाप है।

मोटे रूप से नाटक और एकांकियों में जो सम्बन्ध है वही सम्बन्ध समाज और उसकी इकाइयों में है। यह उदाहरण वास्तव में बहुत वैज्ञानिक नहीं, परन्तु सहजग्राह्य अवश्य है और इसी कारण इसकी सार्थकता भी सिद्ध है। नाटक अपने अनेकांकों और बहुदृश्यों के संयोग से समाज के बहुगत आचरितों का अभिनयन कर सकता है। उसका वृत्त बड़ा है, उसकी व्यापकता समाज की गति, उसके परिमाण और अलब्ध लक्ष्य द्वारा ही सीमित है। एकांकी इसके विपरीत (वस्तुतः विपरीत नहीं, अतिरिक्त) एकगत को रूपायित कर सकता है। वह व्यक्ति की चेतना, उसकी परिधि और चरित को अंकित करेगा। हल्की, देखने में छोटी, अपेक्षाकृत परिमित परिस्थितियाँ अथवा घटनाएँ एकांकी का क्षेत्र होंगी, जैसे नाटक अपरिमित अथवा विराट् समाज-चरित के बृहदाकार का चित्रण करेगा।

यहाँ एक भ्रम हो जाना अत्यन्त सहज है। वह यह कि नाटक और एकांकी क्या परस्पर आकार की विषमता से ही विशिष्ट है ? नहीं, दोनों में अन्तर है—जैसे आकार का वैसे ही अपेक्षाकृत प्रकार का भी। परन्तु जहाँ एकांकी क्षुद्र को विराट् करके देखेगा, वहाँ नाटक अनेक को एकस्थ करके उनके अंगांगीय सामंजस्य का विधान करेगा एकांकी वस्तुत साहित्य के अनेक रूपों की ही भाँति पश्चिम की देन है

यद्यपि संस्कृत अथवा प्राचीन साहित्य में इस प्रकार के लघुतम प्रकरणों का सर्वथा अभाव नहीं है। वास्तव में जिस प्रकार उपन्यास और कहानी में पारस्परिक सम्बन्ध है, उसी प्रकार नाटक तथा एकांकी में भी पारस्परिक सम्बन्ध है। नाटक बहुत को एकत्र करके देखता है और एकाकी एक को वृहदाकार करके, यह ऊपर कहा जा चुका है। परन्तु इसका अर्थ किसी अंश में यह नहीं कि दोनों में उसी प्रकार का पारस्परिक विरोध है जैसा कुछ लोग समाज और व्यक्ति में समझते हैं।

व्यक्ति समाज के विरुद्ध नहीं, उसकी इकाई है, उसकी शक्ति का परिचायक। जिस प्रकार शृंखला की सबसे कमजोर कड़ी से उसकी शक्ति का परिचय होता है वैसे ही व्यक्ति की शक्ति से, अर्थात् उस सामाजिक इकाई से, समाज के सुख और उसकी शक्ति का परिचय मिलता है। व्यक्ति की आवश्यकताएँ समाज की आवश्यकताओं से भिन्न नहीं और न विरोधी हैं, क्योंकि जैसे ही वे भिन्न और विरोधी सिद्ध हुईं वैसे ही वे वैषम्य का प्रसव कर समाज को नष्ट कर डालेंगी। उसी वैषम्य को नष्ट कर देना, समाज के विरोध में वैयक्तिक चेतना को सचेत न होने देना, समाज के कुशल-क्षेम चाहनेवाले साहित्यिक का कर्तव्य होगा। नाटक और एकांकी जहाँ समाज और व्यक्ति के चित्रगत् को अभिनीत करेंगे वहाँ वे स्पष्टतः इस सम्बन्ध में भ्रम न उत्पन्न होने देंगे कि समाज और व्यक्ति के अर्थ समान-केन्द्रीय हैं, जो एक का कल्याण है वही दूसरे का है।

चतुर्दिक् प्रगतिशील समाज का जो विषमताओं से संघर्ष हो रहा है, उसकी कुछ अपनी समस्याएँ भी हैं और जहाँ हमारे नाटक और एकांकी संघर्ष के विरुद्ध सचेत प्रयास का अभिनयन करेंगे वहाँ उन्हें उन समस्याओं को भी अंगीकृत करना पड़ेगा। नयी परिस्थितियों से उत्पन्न नयी समस्याओं पर विचार करके नाटककार उनका समाधान करेगा और अनागत परन्तु लक्ष्य के मार्ग में उठनेवाली समस्याओं को पहले से देख कर उनके सामाधान का भी वह प्रयास करेगा।

साहित्य इस प्रकार केवल मनोरंजन का साधक न होकर समाज के हितों का होगा। समाज की स्थिति का निरूपण करने मे जितना समर्थ नाटक हो सकता है, उतना अन्य कोई साहित्य नहीं। इसलिए नाटककार सचेत होकर जन-जन की कल्याणकर प्रवृत्तियों का चरित रंगमंच पर प्रकाशित करे और मनोरंजन के साथ ही प्रगति की मंजिलें तै करने में सहायक हो।

कथाकार क्या लिखे ?

जिस प्रकार उल्लास और विषाद, हास्य और रुदन मानवता के लिए प्रकृति-सिद्ध हैं, उसी प्रकार कथा भी मानवभाषा की प्रारंभिकतम कृति है। परन्तु जैसे उल्लास और विषाद अनुभूति की अकृत्रिम व्यञ्जनाएँ हैं, परिपक्व भावनाओं के परिचायक नहीं, वैसे ही कथा भी प्रारम्भ में शुद्ध मनोरंजन अथवा असाधारण के द्योतन का साधन रही है।

जिस प्रकार आज का मनुष्य सर्वत्र, और जहाँ-तहाँ नितान्त प्रकृत होता हुआ भी, भाषा द्वारा अपने विचार प्रकट नहीं करता है, फिर भी सर्वत्र ही वह भाषा साहित्य नहीं बन जाती, उसी प्रकार सभी कथाएँ भी साहित्य नहीं। वास्तव में साहित्य की एक ऐतिहासिक प्रगति होती है। 'ऐतिहासिक प्रगति' से मेरा तात्पर्य साहित्य के ऐतिह्य से इतना नहीं जितना उसकी 'प्रगति' से है। प्रगति विकास है, विकास चाहे क्रान्तिक हो चाहे अक्रान्तिक, है वह प्रगति। प्रगति का अर्थ है परिवर्तन।

परिवर्तन, जो प्रगति का कारण है, किस प्रकार का हो, इसकी व्याख्या करना मुझे यहाँ अभीष्ट नहीं; अभीष्ट केवल यह बताना है कि विकास प्रगतिक होने के कारण परिवर्तनशील है और परिवर्तन ही प्रगति और विकास का मानदण्ड है। जिस मात्रा में परिवर्तन होते हैं, उसी मात्रा में गति प्रखर होती है और उसी के अनुरूप विकास होता है।

जिस प्रकार प्रातः-समीरण और बाल-रवि की किरणों के स्पर्श से कलियाँ देखते ही देखते चटाचट चिटकती जाती हैं, जिस प्रकार चित्र-पट पर नये दृश्य यान्त्रिक प्रकाश के स्पर्श से झट-झट खुलते जाते हैं, उसी प्रकार विकास भी वास्तव में गति की अपनी मंज़िलें तै करता है। परन्तु पिछले उदाहरणों की भाँति उसकी गति दृष्टि-गम्य नहीं हो पाती, जैसे घड़ी की घंटे और मिनिट की सुइयों की गति दृष्टि-गम्य नहीं। परन्तु उन सुइयों में गति है. और इतनी कि चौबीस घंटे के भीतर सूर्य के चतुर्दिक् भ्रमण करनेवाली पृथ्वी की लाखों मीलों की परिधि की वे मानदण्ड बन जाती हैं।

इस रूप में विकास प्रगतिशील होकर निरन्तर होनेवाले परिवर्तनों का परिचायक है। परन्तु जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है क्रान्तिक परिवर्तन ही दृष्टि-गम्य है, क्योंकि दृष्टि-गम्य वही होता है जो सतत गतिमान् है अथवा जो निर्बाध परिचालित है तीव्र-गति अथवा आशु-परिवर्तनशील मानव ही साहित्य का निर्माण करता है कर सकता है कर सका है यही अन्तर भाषा और साहित्य का भी अन्तर है

ऊपर से यह अन्तर कारण-रूप में साधारणतः अजीब लगेगा, परन्तु है यह अजीब नहीं और इस पर विचार करने से इसकी गाठें अपने-आप खुलती चली जाएँगी।

तो, जिन मानव-जातियों में परिवर्तन त्वरित नहीं होते उनकी सामाजिक गति कुंठित रह जाती है और उसके कुंठित होने से उनकी भावना भाषा के आधार से उठ कर साहित्य की अभिव्यञ्जना नहीं प्राप्त कर पाती, वह भाषा तक ही सीमित रह जाती है। इसी कारण असभ्य और प्रकृत जातियाँ केवल भाषा बोलती है, न उनके पास लिपि है, न साहित्य, न इतिहास।

लिपि, साहित्य और इतिहास में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। लिपि-बद्ध भाषा धीरे-धीरे ऐतिहासिक प्रगति के माध्यम से साहित्य का रूप धारण कर लेती है। यहाँ इन तीनों के क्रम पर विचार नहीं करना है। इतिहास तो सबसे प्राचीन है ही, क्योंकि वह सदा का है, क्योंकि वह परिवर्तन है और परिवर्तन प्रकृतिका है, प्रकृति के बराबर ही पुराना—बल्कि प्रकृति का रूप स्वयं परिवर्तन का ही दृष्टि-गम्य रूप है।

इसे स्वीकार करने मे तनिक भी कठिनाई न होगी कि साहित्य लिपि से प्राचीन है। सारी मानव-जातियों मे साहित्य पहले और लिपि बाद मे है, परन्तु साहित्य भाषा का है और भाषा के बाद का। प्रारंभिक जातियों में ऐतिहासिक परिवर्तन अत्यन्त अल्प होने के कारण विकास की गति भी स्वल्प होती है और ऐतिहासिक परिवर्तन प्रायः न होने के कारण उनमें साहित्य नहीं बन पाता।

कथा निश्चय ही साहित्य का अंग है, परन्तु प्रारंभिक मानव के आश्चर्य से सभूत घटना का विवरण कुछ अंश तक कथा होकर भी साहित्य नहीं है। घटना जब अनुभूति की एकता के कारण सार्वभौम बन जाती है और सहानुभूति, संवेदना तथा कल्पना से अभिव्यञ्जना होकर रस के संचार से रोमांचक अथवा लोमहर्षक बन जाती है, तब वह साहित्य का रूप धारण करती है।

प्रकृत विवरण साहित्य नहीं कहला सकता, यदि वह सर्वथा दूरस्थ स्थिति का यथावत् वर्णन कर दे। इस प्रकार के प्रकृत पुरुष के जातियों के इतिहास मे अनेक वर्णन हैं जो साहित्य नहीं। मिश्र के पिरेमिडों से कही प्राचीन, वहाँ के राजवंशो के प्रारम्भ से भी पूर्व की कुछ कथाएँ है जिन्हें साहित्य कहने मे प्रायः सभी को आपत्ति हो सकती है, परन्तु उन्ही मे कुछ ऐसी भी हैं जो निश्चित रूप से साहित्य की परिधि मे आ जाती हैं। उन्ही में 'परित्यक्त' नाम की भी एक कहानी है जो लेनिनग्राद के 'हरमिटेज' संग्रहालय मे १८८० ई० में गोलेनिशेफ़ को अचानक मिल गयी थी। किसी को पता नहीं कि वह कहानी पहले कहाँ मिली और कब और कैसे उस रूसी संग्रहालय मे जा पहुँची। यह कहानी मिस्र के बारहवें राजवंश-काल की है और जैसे उन्नीसवे वंशकाल की 'दो भाइयों' की कहानी विशिष्ट हो गयी है, सात वंश-काल पहले यह 'परित्यक्त' नाम की कहानी भी वैसे ही विशिष्ट हुई। 'परित्यक्त' कहानी पढ़ कर माँझी सिन्दबाद की याद आ जाती है: अन्तर केवल इतना है कि जहाँ सर्पो का संयोग सिन्द-बाद के लिए सौभाग्य का सृजन करता है वहा मिस्री माझी का उनका अनुभव

विपज्जनक है[1]।

'परित्यक्त' की कहानी यात्रा का वर्णनमात्र नहीं, बल्कि एक सम्मोहक कल्पना के संयोग से अभिव्यंजित साहित्य-कथा है। कथाकार दर्पण की भाँति अपनी यात्रा को प्रतिबिम्बित नहीं करता, वरन् उसके भीतर पैठ कर रोमांचक तथा लोमहर्षक कल्पना द्वारा सुननेवालों के भाव-तत्त्वों को झंकृत कर देता है। एक प्रकार का प्रभाव, जो सर्वथा अचिन्त्य, अद्भुत से परे है और भयानक होकर भी अन्तर में लालित्य का रस-विधान करता है, उस अभिव्यंजना की ओर संकेत करता है जिसे साहित्य कहते है। 'परित्यक्त' साहित्य की सम्भवतः पहली कथा है और उसका कथाकार संसार का शायद पहला कहानीकार है।

इस मिस्री कथाकार को पहला कहानीकार कहते हुए इस बात का भी ध्यान आ जाता है कि संसार की प्रारम्भिक कथाएँ सम्भवतः उसका अन्वेषण करनेवाले यात्री मॉझियों ने ही लिखीं।

संसार की दूसरी कहानी भी, जो यदि इस मिस्री कहानी से पहले की नहीं है तो दूसरी है, जल-प्लावन तथा समुद्र और उसकी सतह पर सुदूर उत्तर की यात्रा से ही सम्बन्ध रखती है। वह सुमेर और बाबुल की भूमि पर दजला और फ़रात नदों के मध्य-वर्ती अतिप्राचीन जल-प्लावन से सम्बन्धित है और 'गिल्गमेश' के नाम से पुराविदों में प्रसिद्ध है। जिस प्रकार वह संसार का पहला महाकाव्य है, सम्भवतः वह संसार की भाषागत पहली साहित्यिक कथा भी है। उसमें भी घटना के ऐतिहासिक वर्णन पर कल्पना और अघटनीय का सम्मोहन फिरा है।

परन्तु, जैसा साधारणतः जाना हुआ है, भारत की कथाएँ कथा के रूप में, और विशेषतः साहित्य के रूप में, संसार में सम्भवतः सब से प्राचीन हैं। 'बृहत्कथामञ्जरी' 'पञ्चतन्त्र' तथा 'कथा सरित्सागर' आदि की कहानियाँ पर्याप्त प्राचीन हैं यद्यपि वे जातक-कथाओं से पीछे की हैं। और ये जातक-कथाएँ, जिनमें से, कम-से-कम, कुछ बुद्ध द्वारा कही गई हैं, निश्चय ही भारत के अलिखित साहित्य में वर्तमान थीं। हमें यह स्वीकार करते तनिक भी आपत्ति नहीं होती कि 'शतपथ ब्राह्मण' की जल-प्लावनवाली कथा, जातकों से पूर्व की है और यह कथा स्वयं सुमेरी-बाबुली 'गिल्गमेश' कथा की भारतीय अनुकृति अथवा संस्करणमात्र है, और इसी कारण उससे पर्याप्त पीछे की है।

परन्तु जिस अर्थ में आज हम कहानी या उपन्यास की चर्चा करते हैं उस अर्थ में उसका प्रारंभ प्रायः सभी विद्वानों द्वारा स्वीकृत सिद्धान्त के अनुसार भारत में ही

१. 'परित्यक्त' की धार्मिक कहानी उपन्यास के रूप में प्रस्तुत हुई है। उसका द्वीप मरी आत्माओं की भूमि है, जिसका अध्यक्ष सर्प है। वर्णित यात्रा परलोक की है, जो रहस्यपूर्ण पश्चिमी समुद्र के मार्ग से हुई है और जिसका अन्त मृत आत्माओं की निवास-भूमि में जाकर हुआ है। कहानी का आधार तत्त्व मिस्री है। इच्छा रहते भी मैं उसे यहाँ उद्धृत करने में असमर्थ हूँ, परन्तु उसे मैं सांस्कृतिक निबन्ध में प्रकाशित कर चुका हूँ जिसे पाठक उसे पढ़ कर अपनी जिज्ञासा मिटा सकते हैं —लेखक

हुआ। साहित्य का सर्जन सचेत रूप से—"करता हूँ" के अर्थ में—इसी देश में पहले-पहल प्रारम्भ हुआ। वासवदत्ता, हजार वर्ष पुराना उपन्यास, निश्चय उपन्यास के रूप में संसार की पहली साहित्य-कृति है। बाणभट्ट की लिखी कादम्बरी साहित्य कोटि की ही एक कथा है जो सर्वथा काल्पनिक होने के कारण केवल भाव-बुद्धि को सन्तुष्ट करती है, कर्तृ-बुद्धि को नहीं।

इसी कारण यूरोप इस दिशा में पीछे जागरूक होकर भी भारत से आगे बढ़ गया, क्योंकि उसने साहित्य का पहला सावधि उपन्यास प्रस्तुत किया। इसमें सन्देह नहीं कि भारत ने 'एक राजा था—'की परम्परा का कहानी-साहित्य में आरंभ करके इस साहित्यांग को जन्म दिया और उस 'पंचतन्त्र' को प्रस्तुत किया जिसके 'एक राजा था—' की प्रवृत्ति को साहित्यिक अर्चना के रूप मे अन्य साहित्यों ने भी स्वीकार किया। परन्तु वहाँ भी विजय विशेषतः पश्चिम की ही हुई, क्योंकि कथा-साहित्य मे पहला होकर भी सावधि कला क्षेत्र मे भारत बहुत पिछड़ गया और उसने कहानी का साहित्य के क्षेत्र मे नये रूप मे जो सृजन किया तो उन्नीसवीं सदी में यूरोप का पश्चात्पदीय होकर। (स्वय यूरोप मे भी वैसे 'ईसाप' की कथाओं का प्रचार प्राचीन काल में ही हो चुका था।)

हमें यहाँ एक क्षण इस पर विचार कर लेना आवश्यक जान पड़ता है कि हम किसी कथा और कथाकार के साहित्यिक सिद्धान्त का विवेचन कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में, आरंभ में ही, यह कह देना उचित होगा कि जिस कथा-साहित्य का साहित्यकार की कृति रूप में, हम यहाँ विश्लेषण करने जा रहे हैं वह कथा-साहित्य प्राचीन मिस्री 'परित्यक्त', सुमेरी-बाबुली 'गिल्गमेश' अथवा भारतीय 'पचतन्त्र' का जातक-कथाओं के क्षेत्र से बाहर की वस्तु है। हमारा दृष्टिकोण आज 'एक राजा था—' की सीमाएँ तोड़ कर बाहर निकल गया है।

इसमें सन्देह नहीं कि 'एक राजा था—' में 'था' का संकेत हमारे दृष्टिकोण की काल-सीमाएँ भी निर्धारित करेगा क्योंकि वह विगत और घटित अर्थात् इतिहास की ओर निर्देश करता है। परन्तु उस दृष्टिकोण में इस सम्बन्ध में भी एक अन्तर है। वह 'था' जहाँ पहले केवल एक अनिर्दिष्ट सामान्य भूत की कल्पना करता था, आज का दृष्टिकोण असामान्य और स्पष्टतः सावधि भूत की ओर संकेत करता है। 'सावधि भूत' अनेक पाठकों के मन में विषम की शंका उत्पन्न करेगा क्योंकि 'सावधि' और 'भूत' दोनों का विशेषण–विशेष्य सम्बन्ध दो विषम स्थितियों को एकत्र करता है। 'सावधि' कहते हैं समकालीन-वर्तमान को और 'भूत' विगत अतीत है। परन्तु दोनों का सम्पर्क ही इस बात को निश्चित करता है कि स्थिति विगत हो कर भी नितान्त समीप की है, प्रायः वर्तमान की, सावधि। यही इस साहित्य के ऐतिहासिक काल-क्रम की अवधियों या परिमाण-सीमाओं की कुंजी है। साहित्य सावधि होगा और कथा साहित्य यदि प्रगतिशील, सभ्य मानवों के शोभन कल्याण के सृजन की कामना करता है तो वह निश्चय उनकी स्थिति का उदाहरण प्रस्तुत न करेगा जो विगत और मृत है बल्कि उनके सामने रखेगा जो संघर्ष में लगे हैं और सभ्य मानव पर बर्बर और

स्वार्थ को असामाजिक चोट करनेवाले मानवता के शत्रुओं के विरुद्ध रक्षा के लिए निरन्तर प्रयत्न कर रहे हैं।

यह तो हुई, साहित्य और कथा-साहित्य समकालीन हो अथवा पूर्वकालीन, इसकी बात, अब यह देखना है कि 'एक राजा था—' के वास्तविक अथवा प्राणभूत सिद्धान्त का हमारी दृष्टि मे कहाँ तक निर्वाह हो सकेगा। वह प्राणभूत सिद्धान्त अथवा आधार 'राजा' है जिसकी कहानी प्राचीन साहित्य-कथा में अनुप्राणित है। वह राजा है, साधारण मानव नहीं, और साहित्य में उसका स्थान कथा-रूप में उतना ही उसी मात्रा में होना चाहिए जितना समाज में है। राजा जनता के अनुपात में नितान्त स्वल्प है, सर्वथा नगण्य। उसका चरित भी परिणामतः नगण्य होना चाहिए।

एक समय था जब राजा का चरित ही कथा का प्राण समझा जाता था। वास्तव मे राजा की ही कथा राजा अथवा राजपुत्रों के बोध के लिए 'मृगाखुवत्' अथवा मृग, चूहे आदि के साधन से कही जाती थी। उस कथा मे सभ्यता के निर्माता मनुष्य की सक्रियता कहीं नहीं होती थी, केवल राजा की ही कीर्तिमत्ता उसमें ग्रथित थी। साधारण मनुष्य उससे अलग था, दर्शक मात्र, या शायद दर्शक भी नहीं।

ये कथाएँ, और केवल ये ही कथाएँ, जिनमे 'वस्तु' राजा अथवा उसके दरबार के चतुर्दिक् ही घूमती थी, क्यों लिखी गई? इसलिए कि राजा समाज पर सबसे अधिक प्रभाव रखता था और लेखक उसके अधीन उसका संरक्षित था। आज समाज पर राजा का प्रभाव नहीं है। वह प्रभाव कई सदियों से घटता आ रहा है और उसका रहा-सहा प्रभाव फ्रान्सीसी क्रान्ति ने अट्ठारहवीं सदी के अन्त में सर्वथा तोड़ दिया। राजा अपने प्रभाव की रक्षा के लिए उसके बाद भी लड़ता रहा है, परन्तु निरन्तर उसकी क्षति होती गई है। आज के अनेक राष्ट्र इस अर्थ में अराजक हैं और उनके राष्ट्र पर जनतन्त्र का सचालक प्रतिष्ठित है।

इसलिए कथा-साहित्य में 'एक राजा था—' का चरित नहीं चलेगा। परन्तु राजा के स्थान पर राजावत् प्रभाव की फिर भी प्रतिष्ठा हो गई है जो न तो साधारण मानवता के कल्याण के अनुकूल है और न उसका अपना है। वह स्थिति-विशेष से प्रादुर्भूत जनता के अज्ञान, उसकी निर्बलता और उसको मूढ़ रखनेवाली शक्तियों से प्रभावित है। इस स्थिति के सम्बन्ध का साहित्य भी पिछली सदियों मे राज-सम्बन्धी ह्रास और उस नव-शक्ति सम्बन्धी उत्कर्ष के अनुपात मे ही बना है। परन्तु निश्चय ही वह साहित्य भी सामान्य मानव की सम्पत्ति नहीं, क्योंकि वह उसके कल्याण की न तो कामना करता है न उसकी ओर संकेत। यह स्थिति वर्ग-शक्ति अथवा पूँजी-शक्ति के परिणामस्वरूप उपस्थित हुई। राजा और वर्गस्थ (वर्ग से मेरा तात्पर्य यहाँ केवल शोषक वर्ग से है) प्रभाव के विरुद्ध सर्वहारा शोषित मानव सजग हो कर अपनी शक्ति प्रतिष्ठित करने के लिए निरन्तर प्रयास कर रहा है। उसकी विजय ही उस प्रगति की विजय होगी जिसका प्रारम्भ आदि मानव ने ही प्रकृति की बेड़ियाँ तोड कर आरम्भ कर दिया था अब का कथा-साहित्य, यदि वह पृष्ठप्रेक्षी नहीं है प्रगतिशील है

हो निश्चय उसी संघर्षशील मानव के पक्ष में होगा, उसके संघर्षमय प्रयास और विजयापेक्षी इष्ट का समाधान करेगा।

"कस्मै देवाय हविषा विधेम ?"—साहित्य किसके लिए हो ? रस की आहुति किस पर चढ़े ? अनेक बार यह प्रश्न उठाया गया है और अनेक बार अनेक प्रकार से इसका उत्तर भी दिया गया है। यहाँ भी उस सम्बन्ध में कुछ कहना अनुचित न होगा।

कहते हैं, आज का युग जनतन्त्र का है, अर्थात् तन्त्र अथवा शासन साधारण जनता का है जो उसी के पक्ष में सम्पन्न होता है। यहाँ इस पर विचार अभिप्र नहीं कि जनतन्त्र की यह परिभाषा कहाँ तक सही है और उसकी व्यवस्था किस रूप में, किस मात्रा में, किन कारणों द्वारा परिमित है। तात्पर्य केवल इतना है कि यह जनतन्त्र का युग है, ऐसी ध्वनि आज की हवा में सर्वत्र है। वास्तव में आधार रूप में ही इस विचार की व्यावहारिक स्थिति समाज के बनते ही सम्पन्न हो जानी चाहिए थी और उस आरंभिक काल में निश्चय इस प्रकार की प्रवृत्ति केवल विचारों की परिधि में न थी, बल्कि उसे लाँघ कर प्रयुक्त सत्य बन गई थी। परन्तु वह स्थिति बनी न रह सकी, उत्पादक साधनों से जब उत्पादन की प्रचुरता हुई तब उससे प्रादुर्भूत धन का संचयन कम-से-कम और संयोजित साधनों के द्वारा कुछ थोड़े-से व्यक्तियों के हाथों में पहुँचने लगा। अनेक स्थितियों को पार कर पूँजीवाद का युग आया और उसने प्रारंभिक सामूहिक विधान को नष्ट-भ्रष्ट कर अपने पक्ष में नये विधान प्रस्तुत किये। और जैसे-जैसे अर्थ का संचय मात्रा में उसके पक्ष में बढ़ता गया वैसे ही वैसे राजनीति की समस्याएँ भी उसके पक्ष में ही हल होती गई। और वैसे ही वैसे साहित्य भी उसकी ओर रुख करता गया। अथवा यों कहिए कि उसके द्वारा संरक्षित साहित्यकार उसी के लिए, उसके प्रसादन और मनोरंजन के लिए ही, साहित्यिक का सृजन करने लगे।

यह बात परिणाम रूप में अत्यन्त बेतुकी हो गई। उसका अनोखापन विशेष कर तब और पैना हो गया जब जन-तन्त्र का नारा नये रूप से बुलन्द हुआ। यह जनतन्त्र का नारा वास्तव में उन्होंने ही बुलन्द किया जो स्वयं जन से अत्यन्त दूर थे और उसके साधनों और शक्ति को स्वार्थ में प्रयुक्त करते थे। जिस प्रकार धर्म का मादक घूँट देकर संसार के एक वर्ग ने प्रत्येक जाति में एक काल तक एक विपन्नावस्था ला दी थी उसी प्रकार जन-तन्त्र और जन-हित का नाम लेकर उन कुछेक व्यक्तियों ने संसार की सारी सुविधाएँ और सुख स्वायत्त कर लिए।

परन्तु वे अपने को जन-हितों का संरक्षक निरन्तर कहते रहे। जो भी हो, जब जन-रुचि किसी अंश और मात्रा में जन-तान्त्रिक हो चली है तब यह प्रश्न उठाना, कि साहित्य किसके लिए हो, कहाँ तक उचित है ? वह तो स्वतःसिद्ध है। यदि राष्ट्र जनता का है और जनता के लिए है तो उसके साधन, सुख आदि सभी जनता के लिए है और साहित्य भी जनता का ही है। परन्तु जिस प्रकार इन कुछेक प्रतिष्ठित जनों को 'तन्त्र' और विधान को अपने अँगूठे के नीचे दबा रखने का मोह जकड़े हुए है,

उसी प्रकार साहित्य में भी अपने को ही प्रतिबिम्बित देखनेका मोह वे संवरण नहीं कर पाते ।

उनसे सम्बन्धित अथवा संरक्षित साहित्यिकों में भी यह प्रश्न कुछ सामान्य रूप से उपस्थित नहीं—यद्यपि यह उनके सामने उत्कट व्यंग्य का रूप धारण कर लेता है। सामान्यतः वे जन-वर्ग के हैं, परन्तु वे दो-तरफी मार के घायल हैं, जिससे वे अपनी स्थिति के दायरे से बाहर नहीं निकल पाते । एक तो वे उसी स्थिति में बढ़े और पले हैं जिसमें नौकर का लड़का माँ-बाप द्वारा घर के मालिक के नौकर के रूप में ही बढ़ाया और पाला-पोसा जाता है । उसकी स्थिति मालिक के लिए ही होती है और उस स्थिति से निकल जाने के लिए उसको असामान्य दृढ़ता की आवश्यकता होती है, क्योंकि अपनी उस दयनीय स्थिति को भी वह स्वाभाविक ही समझने लगता है । जिस प्रकार फोड़े के कष्टवाला रोगी जर्राह से डर कर फोड़े को तन से चिपकाये रखता और उसकी पीड़ा दिन-रात सहता रहता है, वैसे ही ऐसा साहित्यिक भी अपनी उस स्थिति को, जिसमें वह जन्मा है, अपनी इच्छा से, अपने पूर्वाग्रह से, कायम रखना चाहता है। वह अपने ऊपर स्वयं व्यंग्य बन गया है और परिस्थिति का शिकार है ।

दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार मोह और मद मनुष्य को अंधा कर रखते है, जिस प्रकार विषय का भोग नये भोगों की ओर निरन्तर आकृष्ट करता जाता है उसी प्रकार अनेक साहित्यिकों के लिए वासना और इन्द्रियपरायणता इतनी सहज हो चुकी है कि साहित्य का दूसरा, स्वस्थ और प्रांजल, रूप वे देख ही नहीं पाते । उनकी इस दृष्टि में सामन्तों और धनी विलासियों का विलास आग में घी का काम करता है। वे नग्न और यौनप्रवृत्तियों को रस का साधन मानते हैं और यद्यपि आचार के नाम पर वे उँगली दूसरों की ओर उठाते हैं, किन्तु वस्तुतः स्वयं उससे भ्रष्ट होकर उस प्रक्रिया को गले लगाते हैं जिसके परिणामस्वरूप मंदिरों के बहिरंग तक पर यौनचित्रण अट्टहास कर उठे थे।

स्पष्ट है कि ऐसे साहित्यिक उन्हीं के लिए साहित्य प्रस्तुत करेंगे जिनके लिए प्रेम और प्रणय जीवन के केवल एक अङ्ग और सहायक न हो कर उसके सर्वस्व होंगे। उनकी चेतना में सरस्वती नहीं रति जागरूक होगी और उनके सामने मार का बुद्ध द्वारा विजित होना अथवा काम का शिव द्वारा भस्म होना कल्पना की ही वस्तु होगी !

कथा साहित्य के सँवारनेवालों ने भी अन्य क्षेत्रों के साहित्यकारों की ही भाँति विपन्न जन को अपनी परिधि से दूर रखा है । वे अपने कथा-साहित्य को उनके स्पर्श से दूषित नहीं करना चाहते । अस्पृश्यता की कृत्या केवल समाज और धर्म की सीमाओं में ही नहीं, बल्कि उन्हें पार कर साहित्य में भी (क्योंकि साहित्य समाज का ही है) पैठ चुकी है । और इसका अन्त भी उसी प्रकार करना होगा जैसे समाज में किया जा रहा है ।

उपन्यासों और कहानियों में अब तक न तो साधारण जन नायक बना और न उन्हें उसको इष्ट करके लिखा गया हिन्दी के कथा-साहित्य में उपेक्षित जन को

इष्ट मान कर पहले पहल प्रेमचन्द ने साहित्य-रचना की। पहले-पहल उन्होंने ही उपेक्षित जनता को, गाँवों और नगरों के 'ओछे' निवासियों को, साहित्य-मंदिर में देवता के रूप मे प्रतिष्ठित किया। इसमे सन्देह नहीं कि सैद्धान्तिक निरूपण के अनेक विन्दु प्रेमचन्द की लेखनी की परिधि के बाहर छूट गये, परन्तु इसका कारण यह न था कि उनको अभिव्यक्त करने की इच्छा या क्षमता उनमें न थी। कारण उसका यह था कि सिद्धान्त और संघर्ष की सीमाएँ पूर्णतः उनके सामने अभी स्पष्ट नहीं हो पाई थीं, जिससे अनेक वार उनकी दृष्टि से भी सत्य ओझल हो गया। फिर भी उन्होंने यथासम्भव और यथा-शक्ति इष्ट और तथ्य को साधा, यद्यपि मोहवश अज्ञान से आवृत हो जानेवाले नर की ही भाँति उनके हाथ से भी 'कायाकल्प' की-सी कृति की सृष्टि हो गई।

साधारणतः प्रेमचन्द्र की दृष्टि शुद्ध और निरावृत है। उनकी अनेक कृतियाँ, विशेष कर 'गोदान', सहज मानव के अधिकारों और चेष्टाओं का निरूपण है। और वह अपूर्व 'मंगलसूत्र' तो उस दिशा की ओर संकेत करता है जिधर सामान्य मानव का लक्ष्य स्पष्ट चमक रहा है।

प्रेमचन्द की कहानियाँ उनके उपन्यासों से भी अधिक चुटीली है और यद्यपि उनका सब कुछ ग्राह्य नहीं, फिर भी उनका केन्द्र और लक्ष्य असन्दिग्ध है।

हिन्दी का क्षेत्र इस दिशा में अभी तक संकुचित है, यद्यपि उसकी चेष्टाएँ हमे निराश नहीं करतीं। यशपाल ने इधर उपन्यास और कहानियाँ लिखने में पर्याप्त कीर्ति अर्जित की है, यद्यपि उनको आदर्श मानने में सही आपत्ति की जा सकती है और की गई है। शुद्ध कला के दृष्टिकोण से निश्चय उनकी सफलता स्वीकार करनी होगी परन्तु कला के चरम लक्ष्य और साहित्य के कल्याणकर उद्देश्य को निश्चय वे पूरा नहीं कर सके। 'देशद्रोही' सुन्दर कृति है और 'मनुष्य के रूप' भी उसी परम्परा में है, परन्तु दोनों का आधार 'राग' है, दोनों मे वह राग इतना गहरा हो गया है कि उद्देश्य और लक्ष्य निरन्तर दूर हटते चले गये है, और 'मनुष्य के रूप' में तो इष्ट का, यदि वह 'राग' से परे है, कहीं पता नही लगता। परन्तु यहाँ यशपाल के उपन्यासों और कहानियों की हमें आलोचना नही करनी है। इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि हमें उनसे इस सम्मोहक 'राग' से भिन्न 'दादा कामरेड' और 'पार्टी कामरेड' की दिशा में सिरजे साहित्य की आशा है।

प्रयास हुए है, प्रयास हो रहे हैं। उनका अभी शैशव है। उनके सबल होने की आशा भी है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि प्रस्तुत सामग्री को देखते हुए हमे वर्तमान पर बहुत भरोसा नहीं होता। साहित्य के जो साधन अथवा साहित्यकारों का जो रूप हमारे सामने है उससे लक्ष्य की प्राप्ति निकट भविष्य मे होती नहीं दीखती। जिस दृढ़ और सर्वथा साहसी दृष्टिकोण को प्रेमचन्द ने अपनाया था वह भी, लगता है, कमजोर पड़ता जा रहा है। ऐसा होना नहीं चाहिए था, पर है जरूर क्योंकि प्रेमचन्द के आगे उस दिशा मे विशेष प्रगति नहीं हुई। उस दिशा से मेरा तात्पर्य केवल साहस पूर्वक जनता के अधिकारों के पक्ष में, उसके संघर्ष का लक्ष्य करके, साहित्य को प्रस्तुत करना ही नहीं

सको साहित्य का केन्द्र मान कर उन तथ्यों को भी जीवित रखना आवश्यक है जो त्य को साहित्य ... का अधिकार देते हैं।

उपन्यास और कहानियाँ जनता के हित और अधिकारो का बड़ी मात्रा मे साधक हो सकता है, यदि उनका सृजन उचित प्रकार से हो; उनका उत्पादन सार्थक और सोद्देश्य हो और उनमें घृणित मोह को त्याग कर मनुष्य की उदात्त भावनाओं का निरूपण हो; स्वच्छ और स्वस्थ प्रवृत्तियाँ साहित्य का आवरण पहने और लोक-कल्याण मे अपने कधे लगाये।

'चन्द्रकान्ता सन्तति' और 'भूतनाथ' की काल्पनिक रंगभूमि बहुत पीछे छूट चुकी है; आगे की प्रशस्त भूमि पर इल्या ऐहरेनवर्ग, इलोकाव, सोलेम ऐश, फ़ास्ट, पर्लबक, लिनयुताङ्ग और लुइस सिनक्लेयर खड़े हैं। क्या हिन्दी का कलाकार उनके बराबर नहीं खड़ा हो सकेगा ?

वास्तविक तथ्य तो यह है कि संघर्ष अथवा युद्धो की ओर संकेत कर देना ही पर्याप्त नहीं, उस संघर्ष मे खड़ा भी होना होगा। इधर के कुछ साहित्यकारो ने यथार्थ को खोज कर रख देने में ही अपनी साधना की इतिश्री समझ ली है। उन्हे यह न भूलना चाहिए कि साधना का भी एक मूल्य है और वह स्पष्ट भौतिक मूल्य है। त्याग और बलिदान निरर्थक करनेवाला और करानेवाला दोनों राष्ट्रीय 'साबोटेज' के अपराधी हैं। त्याग में एक तत्परता होगी, तत्परता मे एक पुकार होगी, पुकार के साथ प्रयत्न होगा और वह प्रयत्न सिद्धान्ततः, प्रकृतितः, प्रयोगतः, सामने के लक्ष्य की ओर संकेत करेगा।

केवल स्थिति की सत्यता मायूसी पैदा करेगी, क्योंकि स्थिति की सत्यता मे केवल वर्तमान है, और वर्तमान मे अन्याय और दर्द है, और दर्द के अविरोध सहन मे मायूसी है, निष्क्रियता का पाप है, अनुचित को शाश्वत करने का पापाचरण है। स्थिति-विशेष को प्रकट करके साहित्य में कहानी और उपन्यास में उन परिस्थितियों की प्रेरणा होनी चाहिए, जिससे पाठक में जैसे को तैसा स्वीकार करने के बजाय उसे उखाड़ फेकने की तत्परता आए, जिससे वह स्थिति को असह्य मान कर उसके नाश के लिए कर्मठ हो उठे। जिस प्रकार 'फाँसी के तख़्ते' से 'फ़ूचिक' की आवाज कुछ कर गुजरने के लिए तत्पर कर देती है, जिस प्रकार सिनक्लेयर के अनेक उपन्यासों में प्रस्तुत महासमर का विषम अन्तरंग प्रत्यक्ष हो कर पाठक को सक्रिय चेतना की ओर खींचता है, जिस प्रकार 'पेरिस का पतन' की कथा राष्ट्र के सही साधकों और शत्रुओं से साक्षात करा देती है, उसी प्रकार हिन्दी का कथाकार भी सबल लेखनी द्वारा स्थिति, उसके अनौचित्य, उसके विरोध और उसकी पराजय में दत्तचित्त लड़ाकों की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करे। यही समाज का कल्याण चाहनेवालों की एकाकिनी कामना होगी।

हिन्दी के साहित्य-क्षेत्र मे इधर इतना शोर मचा है कि यदि आवाज के भारीपन और बुलन्दी का ख्याल करें तो यह क्षेत्र भरा लगेगा पर जब समीक्षक झाँक कर देखता है तब उसे सर्वत्र सूना ही सूना प्रतीत होता है प्रेमचन्द को छोड़कर उच्च कोटि

के आधे दर्जन उपन्यासकारों या कहानीकारों के नाम जबान पर नहीं आ पाते। प्रेमचन्द को छोड़ कर अभी तक संसार के उपन्यासकारों अथवा कहानीकारों की पंक्ति में खड़ा होनेवाला वस्तुतः एक भी व्यक्ति नहीं हुआ। एक भी ऐसा नहीं जिसे हम आगे करके कह सकें—"लो, देख लो इसे, यह हमारे उदीयमान साहित्य का प्रतिनिधि है।"

ऐसा नहीं कि सुरुचि न हो, कला न हो, चिन्तन न हो, क्षमता न हो। हमारे कथाकारों में प्रायः यह सब कुछ है, परन्तु विशेषतः जो कमी है वह लक्ष्य की स्पष्टता की, प्रत्यक्ष उद्देश्यपरकता की, दृढ़ता की, और सबसे बढ़ कर जीवन से सक्रिय सम्पर्क की। अनेक बार हमारा कलाकार अपनी 'वस्तु' को नहीं देख पाता, क्योंकि वह लक्ष्य-भ्रष्ट है, उसका उद्देश्य कुहरे से ढँका है और वह इसलिए कि वह संघर्ष से दूर है।

यह हमें स्वीकार करना होगा कि आज की हिन्दी का प्रगतिशील कलाकार भी अपनी त्वचा को इस तरह बचा कर चलता है कि उसमें जरा खरोंच न लग जाय। बुद्धिजीवी विचारों में प्रगतिशील होकर भी कर्मठता में नितान्त कुण्ठित है। साहस की कमी उसकी दृढ़ता में कमी उत्पन्न करती है और वह दिशाभ्रष्ट पोत की भाँति चक्कर खाने लगता है। वह अपने को मेज का लड़ाका समझता है, जिसकी क्रियाशीलता की इतिश्री केवल इसमें है कि वह मोर्चे के लड़ाकों के लिए साहित्य उपस्थित करता जाय।

यह एक पक्ष है और इस मात्रा में, कि वह मोर्चे के लिए कुछ प्रस्तुत कर रहा है, सर्वथा नगण्य नहीं। परन्तु निश्चय यह सत्य का अंशमात्र है। प्रश्न तो यह है कि यदि उसका साक्षात्कार मोर्चे से नहीं तब क्या वह उसके लिए उचित साहित्य प्रस्तुत कर सकता है? वास्तव में उसे स्वयं साहित्य-सर्जक के साथ ही लड़ाका भी होना पड़ेगा जिससे वह संघर्ष के मोर्चों को समझ सके और उसके उपयुक्त सत्साहित्य की अभिसृष्टि कर सके।

आज का प्रगतिशील बुद्धिजीवी भी केवल बुद्धिजीवी है और अपनी कला, सुरुचि तथा क्षमता का भय के कारण उचित प्रयोग नहीं कर पाता। संघर्षोपरान्त सफलता के मीठे फल तो वह पूर्णतः चख लेना चाहता है, चख लेता है, परन्तु संघर्ष की कटुता सामने आने पर वह 'दूध पीनेवाला' मजनू बन जाता है। जब तक वह यह साहित्यिक 'फ़िलिस्टिनिज़्म' त्याग कर खुले मोर्चे पर नहीं आयेगा तब तक उसकी कृतियों में प्राण पनप नहीं सकता। उसका संकल्प दुष्कल्प अथवा कम-से-कम विकल्प में परिणत होता रहेगा और उसका दिशा भ्रम बना रहेगा।

इतना ही नहीं। इसी कारण वह लिखना कुछ चाहेगा और लिख जायगा कुछ। चेतना को रूप देने के लिए पहले नेत्र चाहिए, फिर दृढ़ता। सिद्धान्त की दृढ़ता कल्पना और सुरुचि की सहायता पाकर कर्मनिष्ठ कलाकार की क्रियाशीलता से साहित्य बन जाती है। परन्तु हमारा साहित्यकार कितना भीरु कितना निष्क्रिय अथच कितना मोहान्ध है! भीरुता सावधि स्थिति के छूट जाने अथवा उसके मोह के कारण उत्पन्न होता है संघर्ष की चोट की परिधि में न आने के कारण भी ऐसा अक्सर

हो जाता है। भीरुता के निराकरण का विशेषतः उपाय एक है, और वह है क्रोध।

क्रोध भीरुता को नष्ट कर देता है। कायर से कायर भी क्रुद्ध होकर शत्रु की शक्ति अथवा प्रभुता की मात्रा को कुछ नहीं गिनता। तर्क उसमें विकल्प उत्पन्न करता है, उपस्थित अन्यायपूर्ण परिस्थिति के प्रति असहिष्णुता और तज्जनित वैमनस्य के प्रतिक्रोध. लेखनी में साहस और दृढ़ता भरेंगे और भीरुता का नाश करेंगे। परन्तु इसके लिए त्याग की बड़ी आवश्यकता है। यदि इस सामन्तीय अथवा पूँजीवादी परम्परा या पूर्वाग्रह के प्रति तनिक भी लोभ या मोह कलाकार के मन में उत्पन्न होगा तो निश्चय उसकी सारी साधना पथभ्रष्ट हो जायगी।

जब स्थिति के प्रति उसका असन्तोष अदम्य हो उठेगा तभी वह उसको बदल देने का प्रयत्न करेगा और इस बदल देने के प्रयत्न में उसकी लेखनी आग उगलती रहेगी।

कल्पना को पीछे करके अथवा उसे केवल सहायक मानकर जिन लोगों ने यथार्थ अथवा सिद्धान्त या यथार्थ और सिद्धान्त का अपने कथा-साहित्य में प्रणयन किया है वे इने-गिने हैं। 'अज्ञेय' ने 'शेखर-एक जीवनी' में यथार्थ को भले प्रकार साधा है। एक नवयुक सामान्यतः कर्मठ और प्रमादशील होकर भी समाज का प्रायः दर्पण हो जाता है और जो उसके पक्ष में सत्य है वही अधिकतर युवकों के पक्ष में सत्य है। अत्यन्त साहसपूर्वक लेखक ने गोप्य को भी उल्वण कर दिया है जिससे क्रान्तिकारी मध्यम वर्ग के युवक की स्थिति खुलकर हमारे सामने अपने सारे वैभव, मान्यताओं, संकल्पों के साथ नंगी आ जाती है। परन्तु लेखक सशक्त कैमरामैन के सिवा और कुछ नहीं। वह उद्देश्य-भ्रष्ट है, अथवा यों कहिए कि 'शेखर' में उद्देश्य अथवा लक्ष्य का आलोक ही नहीं। मर्म को छू देनेवाली अनेक घटनाएँ उस औपन्यासिक जीवनी में घटती हैं, परन्तु बलिदानों, त्यागों और सहन की वह समाधिमात्र है। सहज ही पाठक पूछना चाहता है—"क्यों ? यह सब क्यों ?" निश्चय जिस दृढ़ता से, जिस मात्रा में, शेखर स्थितियों को झेलता अथवा उनसे लड़ता है उससे उद्देश्य की सिद्धि हो सकती थी, परन्तु लेखक उधर से उदासीन है।

यशपाल में कल्पना है, उद्देश्य की हीनता भी नहीं और अपने पात्रों को वह सघर्षों के पास तक ले भी जाते हैं, परन्तु मोह उन्हें प्रायः अन्धा कर देता है, कल्पना उनके सत्यको अपने लसलसे डैनों से ढक लेती है, वासना और राग अनुचित मात्रा में उन्हें और उनके पात्रों को बेकाबू कर देते है, आलस्य और प्रमाद उनकी कर्मठता को निस्पन्द कर देते हैं। आखिर प्रेम अथवा प्रणय जीवन का सहायक है, इसे यशपाल स्वीकार भी करते हैं और ऐसा उन्होंने 'मनुष्य के रूप' में दृढ़ता से कहा भी है; परन्तु क्या वे जीवन और प्रेम की मात्राओं को यथोचित निभा पाते !

राग का रंग घुलकर इतना घना हो जाता है कि उनके उपन्यास का पृष्ठ-पृष्ठ, उनकी कहानी का पैरा-पैरा उससे आक्रान्त हो उठता है। उनमें कला है, सुरुचि है, उद्देश्यपरकता भी है और आरम्भ भी वे उचित स्थल और स्थिति से करते हैं, परन्तु जैसे-जैसे कथा आगे बढ़ती है वैसे ही वैसे क्रियाशीलता का मैदान सकुचित होने लगता

है, उदात्त भावुक हो चलता है, कर्म-क्षेत्र शयन कक्ष में सिमिट जाता है और शयन-कक्ष पर्यंक के परिमाण से बड़ा नहीं रह पाता। मोह, काम और राग कथाकार के पात्रों को ढक लेते हैं, और पात्र विषम के प्रति विरक्त होकर भी निश्चेष्ट हो जाते हैं, अखाड़े के पास जाकर द्वन्द्व से दूर-दूर कावा काटते हैं। उनमें रणाभास होता है, पर गदाधर की चोट नहीं। इसका परिणाम यह होता है कि उद्देश्य धीरे-धीरे आँखों से ओझल होने लगता है और अन्त में केवल मोह पाठक को जकड़ लेता है, उसे निस्पन्द, निष्क्रिय और प्रमादी बना देता है, मन में एक मायूसी पैदा कर देता है।

परन्तु सब कुछ निराशा का ही कारण नहीं। कुछ ऐसे भी उदीयमान रत्न हैं जिनकी आभा हमारे हृदय में आशा का संचार करती है और हमें विश्वास होता है कि मंजिलें निश्चय आलोक में तय होंगी। जिस नागार्जुन ने अनेक क्षेत्रों में अपनी निर्भीक प्रतिभा का परिचय दिया है उसकी लेखनी ने कथा के क्षेत्र में भी एक क्रान्ति उपस्थित की है। यदि उसकी क्षमता कायम रही, और कोई कारण नहीं कि वह कायम न रहे, तो निःसन्देह हमारा भविष्य स्वर्णमय है।

जब हमारा कथाकार सहज, संघर्षमय, सत्य, शोभन और कल्याणकर साहित्य का स्पष्ट रूप से, निरालस और निर्भीक होकर सृजन करने लगेगा तब सरस्वती का कलेवर वस्तुतः सजेगा। अनेकार्थ में साहित्यिक विपन्न है, पर निर्भीकता, शक्तिमत्ता और संघर्ष में सफलता का आदि-बिन्दु विपन्नता ही है, परन्तु विपन्नता स्वभाव की नहीं, स्थिति की, जिससे खिन्न होकर सर्जक पहले रुद्र का कोप धारण करे फिर विष्णु का—एक बार पुकार कर सावधान कर दे—यह न रहेगा, इसे न रहने देंगे—फिर, "क्या होगा ?" की रूपरेखा निश्चित करके साहित्य में उसे 'कोर' दे।

४

आलोचक क्या लिखे ?

समालोचक साहित्य का प्रहरी है, जैसे पत्रकार समाज का। जिस प्रकार जागरूक प्रहरी उचित और वांछित व्यक्तियों को ही द्वार से प्रविष्ट होने देता है उसी प्रकार समालोचक भी उचित आलोचना द्वारा साहित्य में प्रविष्ट होनेवाली कृतियों के प्रवेश की अनुमति देता है, अथवा, उनके अनुचित होने पर, उन पर लेखनी द्वारा कुठाराघात करता है। वह साहित्य का रक्षक है।

वह आलोचक है, समालोचक। सम्यक् रूप से वह 'आलोचन' करता है—समुचित दृष्टिपात। उसकी दृष्टि कहीं रुकती नहीं, कहीं से लौटती नहीं, वस्तु में घर कर जाती है और उसमें पैठ कर उसके अंतरंग को वह देख लेती है। जैसे सूरज और चाँद चराचर जगत् के चक्षु हैं वैसे ही वह भी साहित्य की आँख है। जिस प्रकार वरुण के चर सर्वत्र अनुचित और अपराध की खोज में फिरते रहते हैं, जिस प्रकार यम नियमों की रक्षा में सतर्क रहता है, उसी प्रकार आलोचक भी साहित्य-क्षेत्र में घटनेवाली घटनाओं को पूर्णतः प्रत्यक्ष करता और उनकी गति-विधि पर अपनी आलोचनात्मक प्रवृत्तियों से नजर रखता है।

उसकी दृष्टि व्यापक है, सीमित नहीं, और वह सहानुभूति और समवेदना से साहित्य का निरीक्षण करता है। वह त्रिकालदर्शी है, द्रष्टा, ऋषि, कवि। भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों उसकी सम्यक् दृष्टि के नीचे है और तीनों पर समान रूप से सूर्य की किरणों की भाँति उसके नेत्रों का आलोक पहुँचता है, जिससे साहित्य का कोना-कोना, उसका अन्तरतम, उद्भासित हो उठता है।

अपनी सहज जागरूकता, पैनी दृष्टि और त्रिकालदर्शिता से वह अपने पीछे, आगे और चतुर्दिक दृष्टि फेंकता है और इस प्रक्षेपण, पर्यवेक्षण और निरीक्षण से प्रच्छन्न रत्न और दोष समान रूप से चमक उठते हैं। जो उससे पूर्व था वह भूत का है, जो उसका सावधि है वह वर्तमान का है, जो नहीं है वह सम्भवतः होगा और भविष्य का है। आलोचक अतीत की कृतियाँ पढ़कर जानता है, उन्हें पढ़कर ही वह आलोचना का आधार प्रस्तुत करता है, उन्हीं को देखकर उसे साहित्यिक और सामाजिक न्यूनताओं और आवश्यकताओं का बोध होता है। क्या अपेक्षित है और क्या बन चुका है इससे दर्शन का प्रस्तुत होता है जो अगले मार्गों का आधार

साहित्य का अंग, उसकी शृंखला की प्रश्नात्मक कड़ी। पहले कृति है, आलोचना नहीं, क्योंकि आलोचना कृति की होती है। कृति से ही आकार का अनुमान और अनुगमन होता है, उसी की रूप-रेखा से परिमाण और परिधि बनती है और उसी के आधार से न्यूनताओं तथा आवश्यकताओं का बोध होता है। आलोचन तथा दृष्टिपात निश्चय ही कृति का अथवा कृति पर ही होता है। इसलिए पहले कृति है फिर आलोचन।

कृति का कलेवर वस्तुतः आलोचक को दृष्टि देता है, वह उसे सूझ देता है, जिससे आलोचक देख पाता है कि क्या है जो नहीं था, क्या होना चाहिए जो नहीं है। कृतियों की शृंखला, उनका अनवरत तारतम्य, तुलनात्मक बुद्धि उत्पन्न करता है और तुलनात्मक ज्ञान ही पर्यवेक्षण अथवा आलोचना की भूमि है। आलोचना-तत्त्व, आलोचना का मापदण्ड उपस्थित और उपमित तथा उद्‌भूत साहित्य का तुलनात्मक दृष्टि से, एकानेक की अटूट पंक्ति से, अपनी शरीर-वृद्धि धारण करता है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि संसार के सम्पूर्ण आलोचना-साहित्य के सिद्धान्त आरम्भ में कृतियों के पारस्परिक तुलनात्मक आस्वादन से बने हैं।

आलोचना के सिद्धान्त कालान्तर में उत्तरोत्तर दर्शन का रूप धारण करते गये हैं और अब यह अकाट्य रूप से कहा जा सकता है कि वे सिद्धान्त साहित्यिक कृतियों से भिन्न और विलग होकर उनसे स्वतन्त्र है। परन्तु स्वतन्त्र वे 'हो गये हैं', 'थे' नहीं। सिद्धान्त निष्कर्ष-सत्य है, अर्थात् उनका आधार अध्ययन है, तुलनात्मक अध्ययन। अनेक कृतियों के सापेक्ष अध्ययन से, उनके गुण-दोषों के आलोचन-पर्यवेक्षण से जो प्रश्नात्मक अनुभूति होती है उसके निष्कर्षात्मक तत्त्व-विधान को आलोचना कहते हैं। उसी अध्ययन की शिला पर आलोचना के सिद्धान्त-तत्त्व आकार धारण करते हैं। अगली कृतियों के प्रति उन सिद्धान्त-तत्त्वों की साधना अथवा उनके आलोक में अपेक्षाकृत नई कृतियों का दर्शन पूर्व और पर के संयोग में एक नयी दृष्टि देता है। वह दृष्टि हस्तगत सिद्धान्तों के अनुरूप भी हो सकती है, विपरीत भी; परन्तु निश्चय वह एक नई अनुभूति, चेतना अथवा आस्वादन की अभिसृष्टि करेगी जो उन सिद्धान्तों की शृंखला की अगली कड़ी होगी। आलोचना ने जो पाया था उसे नये साहित्य पर प्रयुक्त किया, उस प्रयोग से दो विरोधी प्रतिक्रियाओं का परस्पर घर्षण हुआ और उसका परिणाम हुआ एक समन्वित दृष्टिकोण, जो पिछला होकर भी सर्वथा पिछला नहीं और जो अगले का आभास होकर भी सर्वथा वही नहीं। जिस प्रकार पिता के अवयव पाकर भी पुत्र पिता नहीं, न आकृति की पहचान में, न पूर्व-पर की स्थिति में पूर्व का स्थानापन्न, परन्तु मानव शृंखला की अद्यावधि कड़ियों के बाद की सावधि कड़ी वह अवश्य है और सावधि कड़ी इस रूप में कि वह समकालीन वर्तमान तक ही सीमित नहीं, वरन् अनागत भविष्य का आधार भी है।

यही अनुक्रम आलोचना सिद्धान्त के का भी है वह कृति के पर्यवेक्षण से अपने शरीर तन्तु पाता है उन्हें वह दूसरी कृतियों पर प्रयोग करता है और

एक नये सिद्धान्त का निर्माण करता है जो उसके पास नहीं था। पूर्व और पर के विरोधी सिद्धान्त आलोचनात्मक सैद्धान्तिक श्रृंखला की नयी कड़ी प्रस्तुत कर देते हैं; यही आलोचना की द्वन्द्वात्मक प्रगति है।

यह तो हुई अतीत की बात। मैंने आलोचक को त्रिकालदर्शी कहा है। अद्यावधि विवेचना भूत की हुई है। वर्तमान भूत के आधार पर खड़ा है और उसका निषेधात्मक अवतार है। निषेधात्मक अवतार वस्तुतः एक विषमता की अभिसृष्टि करता है और सहज द्वन्द्वात्मक है। इसको स्पष्ट कर देना यहाँ आवश्यक है। भूत की पृष्ठभूमि के अभाव में वर्तमान की स्थिति नहीं, उसी प्रकार जिस प्रकार पिता के अभाव में पुत्र की स्थिति नहीं। पिता जनक है, पुत्र का कारण है, वैसे ही जैसे भूत वर्तमान का जनक है, उसका कारण है; परन्तु पुत्र जहाँ विगत पितृत्व का द्योतक है, वहाँ वह उसका नकारात्मक सम्बोधन भी है। वह एक अनादि श्रृंखला के अंत में खड़ा है जिससे उस श्रृंखला की अटूट कड़ियों का बोध तो होता ही है, साथ ही इसका भी उससे बोध होता है कि वे अब नहीं हैं, और वह इसलिए अब है कि वे जो कभी थीं अब नहीं हैं। उससे यह भी स्पष्ट होता है कि वह इसलिए है कि वही उनका आवश्यक और तर्कयुक्त विकास है और यह भी कि चूँकि वह है वे अब नहीं रहीं। भूत का वर्तमान में न्याय विकास इसलिए होता है कि भूत विकृत है, नष्ट है और नवीन को स्थान दे देता है। चरम विकास स्वयं विकास की प्रौढ़ता है और उस प्रौढ़ता की आकारगत इयत्ता। प्रौढ़ चरम होकर विगलित और विगत हो जाता है, अनिवार्य भूत। यही इस भूत और वर्तमानगत प्रगति की द्वन्द्वात्मकता है। आलोचक उसी विच्छिन्न होते भूत से लगे वर्तमान का आलोकन या 'आलोचन' करता है और उसकी दृष्टि निर्बाध अनुक्रमिक युगों पर पूर्वापर के युक्त 'संहार' पर पड़ती है।

जिस प्रकार भूत की संस्मृति वर्तमान में होती है, उसी प्रकार वर्तमान से सरक कर भविष्य आकार धारण करता है। आलोचक की दृष्टि आगे बिछल पड़ती है। पर भविष्य संसृष्ट नहीं है, गर्भ में है, यद्यपि उसकी पूर्वस्थिति की जड़ें वर्तमान की मिट्टी में प्रवेश पाने लगी हैं—बाँस की कोपलें बाँस की प्रौढ़ता और उसकी जरा को दुरा कर नयी चेतना और नवशक्ति से फूट पड़ी हैं। आलोचक अब स्वयं संकेत करनेवाले प्रहरी का रूप धारण करता है अर्थात् एक ओर तो वह निद्य और अनपेक्षित के सामने अपना रजतदण्ड उठा देता है, दूसरी ओर अपनी वेत्रयष्टि से मार्ग की ओर संकेत करता है।

वर्तमान उसके चतुर्दिक का सापेक्ष संहार है। भूत विगत है, उसकी गणना सीमित है, बढ़ नहीं सकती। हाँ, अज्ञात अभिसृष्ट ज्ञात निश्चय हो सकता है और इस रूप से उसकी संख्या में अपेक्षाकृत थोड़ी अभिवृद्धि हो सकती है, परन्तु भूत तत्त्वतः सीमित है। वर्तमान समकालीन है, विरोधी और मुखापेक्षी दोनों। वह जहाँ भूत के नितान्त अनुकूल अभिसृष्टि करता है वहाँ वह मृत है गत है क्योंकि उस दिशा में वह भूतवत् है, स्वयं भूत है परन्तु जहाँ वह भूत के अनजाने रस का प्रतिपादन करता

है, अनजाने का सृजन करता है, भूत के विरोध में अथवा उसकी शृंखला में एक कड़ी जोड़ कर वहाँ वह स्वयं सिद्ध है। आवश्यक वर्तमान अपनी नवीन शक्तियों के साथ आविर्भूत हुआ है।

और इसी अर्थ में, इसी कारण, वह आलोचक को भी चुनौती देता है। आलोचक का साधन अद्यावधि भूत के आधार पर अवलम्बित है और वर्तमान-भूत से विशृंखलित हो कर जो नये रूप में अवतरित होता है तो आलोचक की दृष्टि में एक नयी धारणा, मापदण्ड की एक नयी मात्रा, उछल पड़ती है। वर्तमान उसे वह देता है जो शायद उसके पास पहले नहीं था, यद्यपि अनेक दिशाओं में वह सर्वथा उसे अनजाना, आकस्मिक या अप्रत्याशित नहीं देता। क्योंकि विकास की शृंखला को देखते हुए आलोचक आनेवाली कड़ियों के रूप का कुछ तो अनुमान कर ही लेता है, कुछ वह स्वयं साहित्यकार से पाने की आशा करता है, देने को प्रोत्साहित करता है। वह जानता है कि जो था वह अब नहीं है, इसलिए कि जो अब तक नहीं था उसकी आवश्यकता है और इन आवश्यकताओं की ओर अनेक बार वह कलाकर की दृष्टि आकर्षित कर चुका है। जो भी हो, उसके सामने वर्तमान दो स्थितियाँ प्रस्तुत करता है। एक तो ग्रहण और त्याग की—उस सम्बन्ध में जो प्रस्तुत हुआ है, दूसरी जो अभी नहीं है पर जो होनी चाहिए थी।

उसके सामने वर्तमान कृतियों का एक जंगल खड़ा कर देता है जिसमें राह बनाना अत्यन्त कठिन हो जाता है, परन्तु राह तो उस जंगल में बनाना ही है। जंगल आखिर जंगल है—उसमें सुन्दर वृक्ष भी हैं, संजीवनी औषधियाँ भी, विष-वल्लरियाँ भी। जहाँ तक उस जंगल से मनुष्य का तात्पर्य है, वे ही वृक्ष और लताएँ उसके अनुकूल होंगी जो उसके लिए उपादेय हैं। आलोचक साहित्य के उस उठे और उठते जंगल में उपादेय कृतियों की पीठ पर ही हाथ रखेगा। विष-वल्लरियों को नष्ट करने में वह अपनी शक्ति का सदुपयोग करेगा। हाँ, इस बात को वह न भूलेगा कि कभी-कभी विष का घूँट अन्य विष की दवा भी बन जाता है, और तिक्त, कषाय अथवा अम्ल औषधि के रूप में शरीर का अर्थसाधन करता है। इस प्रकार के विषों का भी वह समाज और साहित्य के हित के विचार से संचय करेगा।

भूत के सम्बन्ध में आलोचक निर्मम हो सकता है, अनेक बार निर्मम हो जाता है। वहाँ उसे किसी से भय नहीं, किसी का त्रास नहीं। भूत की कृतियाँ साहित्य के दृष्टिकोण से सर्वथा सजीव होकर भी विगत हैं और जो विगत है वह अपना प्रतिनिधित्व नहीं कर पाता। इससे यह तात्पर्य नहीं कि कृतियाँ अपनी बात नहीं कह सकतीं। वास्तव में कृतियाँ तो इतनी प्रौढ़, इतनी शक्तिमती होती हैं कि वे आलोचक को विवश कर देती हैं, उसे सर्वथा स्वपदापेक्षी बना देती हैं। अनेक बार आलोचक आनन्द और सन्तोष से उल्लसित होकर उदाहरण में उन कृतियों की ओर संकेत कर उठता है। मेरा तात्पर्य यहाँ यह है कि आलोचक अपने भीतर एक सहानुभूति की मात्रा भूत की कृतियों को आँकते समय निश्चय रखे, वरना यदि उसने मूल्यांकन की वह दिशा ली जो

प्रमित है अथवा जो कृति के अयोग्य है तो निश्चय कृति अथवा कृतिकार आलोचक की गति रोक कर उससे विप्रस्थित नहीं कर सकेगा। इसलिए आलोचक कृतिकार के पक्ष से यदि सम्भव हो, सहानुभूति के साथ अपना जिज्ञासा आरम्भ करेगा। इसी कारण राजशेखर आदि प्राचीनों ने आलोचक को 'सहृदय' भी कहा है।

सम्भव है कुछ लोगों को इस दृष्टिकोण में एक भ्रान्ति का आभास मिले। वह यह कि अनौचित्यका पोषण यदि आलोचक के लिए सम्मत नहीं तो कृति के प्रति सहानुभूति क्यों ? इसका उत्तर केवल इतना है कि पहले तो उस कृति का मूल्यांकन अभी उसे करना है जो, जहाँ तक सम्भव हो, वह अपने आँकड़ों से करेगा और कृति के गुण-दोष का निश्चय वह उसके अध्ययन के बाद ही करेगा। इस सम्बन्ध में वह कृतिविशेष के प्रति प्रयुक्त पूर्ववर्ती मानदण्डों की भी अपेक्षा पहले न करेगा, या कम से कम उनके आधार से उठनेवाले किसी पूर्वाग्रह द्वारा वह प्रभावित न होगा क्योंकि वह जानता है कि "पुराणमित्येव न साधु सर्वम्" भी कभी एक दृष्टिकोण था और "नवम् इति अवद्यम्" भी; इन दोनों से ऊपर उठने का वह सफल प्रयत्न करेगा। इसका भाव यह है कि पूर्व के मानदण्डों से वह अनवगत न होगा यद्यपि उनके प्रयोग की सीमाओं को समझने में भी वह भूल-चूक न करेगा।

साथ ही यह भी आवश्यक है कि आलोचक निर्भीक हो। कृति की एकाग्रता अथवा कृतिकार की सामाजिक मर्यादा उसे प्रभावित न कर दे, उसमें भय और परिणामतः आलोचना-दोष न उत्पन्न कर दे। अर्थात् उसे व्यक्तित्व से ऊपर उठना होगा, पर यह व्यक्तित्व उसका अपना नहीं, उनका होगा जो उसकी लेखनी की नोक के नीचे हैं। अनेक बार कृतिकार का व्यक्तित्व उठकर आलोचक को दबोच लेता है। कृतिकार, जो भूत की सदियों को लाँघ वर्तमान में जीवित है और भविष्य में भी जीवित रहने का दम भरता है, निश्चय सामान्यतः बड़ा होगा, महान्, जिसका व्यक्तित्व कुछ अजब नहीं कि आलोचक की दृष्टि पर एक कुहरा डाल दे, उसके मन पर हावी हो जाय, उसे अपनी महत्ता स्वीकार करने को विवश कर दे।

उसकी कृतिगत महत्ता से समीक्षक विरक्त न होगा। उसका यह उद्देश्य ही नहीं। वह तो उसकी महत्ता उसकी कृति में ढूँढ़ने के लिए ही कटिबद्ध हुआ है। तात्पर्य केवल इतना है कि सदियों ने कृतिकार के व्यक्तित्व को जो काल की गुरुता दी है उस गुरुता से समीक्षक कहीं पिस न जाए : दर्शन की, और सही दर्शन की, उसकी चेतना बनी रहे। कृतिकार के सदियों के समानधर्मा प्रशस्तिवाचकों के जयघोष से नहीं, बल्कि अपनी समीक्षा से आलोचक कृति का मूल्यांकन करे। व्यक्तित्व के भार से उठ जाना उसके आकार-प्रकार के दर्शन से विमुख हो जाना नहीं, उसके परिमाण और सीमाओं को सम्पूर्णतः आँक लेना है। व्यक्तित्व नेत्रों में बस इतना ही उठे जितना कृति की कृतिमत्ता उस पर अपनी छाया डालती हो।

इसका अर्थ है कि जहाँ एक ओर सदियों से अच्छी कहलानेवाली कृति उसके मूल्यांकन को विकृत नहीं करेगी वैसे ही अनजाने अथवा अपेक्षाकृत कम जाने साहित्य

की भी समालोचक उपेक्षा न करेगा। अपनी क्षुद्रता से—आकार की नहीं, संयोग की क्षुद्रता से—कहीं वह समालोचक की दृष्टि से वंचित न रह जाय, इसका वह पूरा ध्यान रखेगा। साहित्य में अनेक पात्र, अनेक वर्ग अनेक स्थितियाँ उपेक्षित रही हैं। समालोचक का यह संकल्प होगा कि वह उपेक्षित परन्तु सबल साहित्य का मूल्य भी उचित मात्र में स्पष्ट कर दे।

और यहीं से समालोचक की भविष्य के प्रति समाराधना भी प्रारम्भ होती है। साहित्य अब तक एकांगी रहा है, दृष्टिकोण में भी, मात्रा में भी। साहित्य संकुचित आधार से कुछेक के लिए कुछेक के विषय में अभिसृष्ट होता रहा है। अनन्त और असीम सर्वहारा और शोषित समाज साहित्य में जहाँ-तहाँ या तो कलागत साहाय्य के निर्वाह के लिए प्रस्तुत हुआ है अथवा प्रतारणा के लिए। वह कभी, सम्यक् अधिकारी होता हुआ भी, साहित्य के सिंहासन पर आरूढ़ न हो सका। समालोचक निश्चय इस स्थिति की कारुणिकता को समझेगा और साहित्य के इस क्षेत्र के संकोच को दूर करने की मांग भविष्य के सामने पेश करेगा।

भूत का सम्यक् द्रष्टा, वर्तमान का कठोर आलोचक, इस प्रकार भविष्य के आधारों का भी शिलान्यास करेगा। वह साहित्यकारों को सुझाएगा कि वर्तमान में क्या सुदर्शन है क्या विद्रूप, क्या अपूर्ण है क्या अपेक्षित। और साहित्यकार जितना अपने चतुर्दिक् देखेगा, जितना ही अपने साधनों को संभालेगा उतना ही समालोचक के निर्दिष्ट संकेत का भी लाभ उठाएगा। निश्चय तभी उसकी भारती कीर्तिमती होगी।

आलोचना के क्षेत्र में प्राचीन काल के एक असाधारण और महान् समीक्षक ने सुन्दर सिद्धान्त का निरूपण किया है। महाकवि कालिदास के 'रघुवंश' पर अपनी 'संजीवनी'—टीका—लिखते समय टीकाकार-समालोचक मल्लिनाथ ने 'प्रतिज्ञा' के रूप में समीक्षा का वह सिद्धान्त रखा है—**नामूलं लिख्यते किंचित् नानपेक्षितमुच्यते**—ऐसा कुछ नहीं लिखेंगे जिसका मूल आधार में न हो, ऐसा कुछ नहीं कहेंगे जो कहे जाने की अपेक्षा नहीं रखता। इस प्रतिज्ञा को इस आलोचक ने अपनी सारी कृतियों में सर्वत्र निबाहा है। सूत्रशक्ति से इस श्लोकार्ध में जो उसने शिक्षा और दर्शन भरा है उसका परिमाण अत्यन्त व्यापक है। आलोचक के लिए यह सिद्धान्त मूलमंत्र होगा।

परन्तु यह दृष्टिकोण विशेषतः टीकाकार का है। टीकाकार और व्याख्याता में विशेष अन्तर नहीं। उसे विशेषतः अपनी उन प्रवृत्तियों से रक्षा करनी पड़ती है जो उसके अनजाने उसके मनस्तत्त्व पर हावी हो बैठती हैं। अधिकतर वह ऐसी बातें कहने लगता है जो कवि ने नहीं कहीं, जो कवि को कहनी इष्ट भी नहीं थीं। वास्तव में कवि और उसकी कृति के बीच तब टीकाकार और व्याख्याता आ जाता है जब वह व्याख्या के क्रम में अमूल की चर्चा करने लगता है अथवा अनपेक्षित की विवेचना में पड़ जाता है।

आलोचक यद्यपि टीकाकार नहीं, पर आलोचना के ही क्रम में करके

कृति के सदसत् पर उसे विचार करना ही होता है। वह समीक्षक है और पूरे तौर से तथ्य की गहराइयों में बैठ कर 'वस्तु' का विश्लेषण करके उसके भाव, तत्त्व के साथ ही उसकी आकृति और अलंकरण को भी वह भले प्रकार तौलता है।

शब्द से भाषा बनती है और भाषा से भाव व्यक्त होते है। परन्तु सभी शब्द भाषा का निर्माण नहीं करते और न सभी भाषा भाव का निर्माण करती है। सार्थक शब्दावली वाक्य का निर्माण करती है और वाक्य-परम्परा भावों के ऊहापोह का। परन्तु वाक्य-गीत और भाषानिबन्ध और गद्यात्मक ग्रन्थन के भी कारण हैं और इसीलिये केवल उनकी परम्परा साहित्य का निर्माण नहीं करती। साहित्य का निर्माण पद-लालित्य, रसाधान और अलंकरण से होता है। इनका शरीर पा कर साहित्य जब भावों की अन्तरात्मा धारण करता है तभी वह सत्साहित्य बनता है। परन्तु जैसे सौन्दर्य के सारे अवयवों से युक्त प्राणी भी प्रभावरहित हो सकता है, वैसे ही पद-लालित्य, रस और अलंकारो से युक्त साहित्य भी भावानुबद्ध हो कर निश्चय ही प्रेरक हो जाय यह आवश्यक नहीं। प्रेरणा के लिए इन सबसे परे एक वस्तु होती है और वह है उसका उद्देश्यपरक, लक्ष्यबोधक, कल्याणकर अन्तरंग। उद्देश्य की स्फूर्ति स्वयं असमान्य वस्तु है और साहित्य के साथ जब उसका समागम होता है तब कहीं साहित्य में जनसेविनी उत्कण्ठा प्रेरित होती है। वह किस अंश में साहित्य का अन्तरंग है, यह समीक्षक को देखना है।

साहित्य प्रेरक है, साहित्य के उपकरण है, उसके सम्बल है, उसके आलम्बन और आकार-व्यंजक शब्द तथा वर्ण हैं, परन्तु इनका समन्वित योग किस मात्रा मे एकस्थ शक्ति प्रजनित करता है, समालोचक को यह देखना है। उसे यह देखना है कि रसोद्रेक, रूप, अलंकरण और साहित्य-सौन्दर्य कहीं वाचक को स्त्रैण तो नहीं बना देते, कहीं सौन्दर्य कल्याण के स्थान पर घिनौनी वासना का परिपाक तो नहीं करने लगता। इस बात को साहित्यकार को नहीं भूलना है, और यदि कहीं वह भूल जाय तो समीक्षक उसे बताएगा कि सत्साहित्य सुकर्म की ओर प्रेरित करता है, काम की ओर आकृष्ट नहीं करता। कालिदास ने वर्णी द्वारा पार्वती के प्रति रूप का उद्देश्य और उसकी पाप से निवृत्ति तथा कल्याण की प्रेरणा प्रांजल पद मे निचोड़ कर रख दी है:—

यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः

यह श्लोकार्ध पुरातन है और सौन्दर्य मे पाप को निःशेष कर निष्ठा उत्पन्न करनेवाला और उसी अद्भुत कलाकार की लेखनी से प्रादुर्भूत हुआ है जिसने "पुराणमित्येव न साधु सर्वम्" का समीक्षा मे सुपुष्ट सिद्धान्त प्रचलित किया। इस प्रकार समालोचक का यह कर्तव्य होगा कि वह सत्साहित्य की ओर संकेत करे, उस रूपधनी साहित्य की ओर जो शोभन कर्मों और कल्याणकर कृत्यों का जनक है।

ऊपर लिखा जा चुका है कि समालोचक साहित्य का प्रहरी है और जिस प्रकार प्रहरी अनुचित और अनपेक्षित को द्वार में प्रवेश नहीं करने देता उसी प्रकार यह साहित्य का प्रहरी समालोचक भी अनर्गल असुष्ठु अशोभन और अशिव का प्रवेश साहित्य में नहीं होने देता एक ओर तो वह प्रस्तुत अनौचित्य को उपवन की अनपेक्षित घास की

भाँति उखाड़ फेंकता है, दूसरी ओर वर्तमान में साहित्य के नाम पर उठने वाली अनधिकारी कृतियों का मूलोच्छेदन करता है। भरत और दिङ्नाग से रामचन्द्र शुक्ल और रामविलास तक उसकी परम्परा इसी अकल्याणकर साहित्य के मूलोच्छेदन में लगी रही है। शिव के नन्दी की भाँति वह निरन्तर अशिव को द्वार पर धक्के देता रहता है जिससे कोई अहितकर कृति साहित्य के पवित्र कैलास में न घुस आए। कामदहन और रति का वैधव्य वस्तुतः निराधार नहीं। साहित्य में और ठोस उदात्त साहित्य में उसकी निरन्तर आवश्यकता है। रति और काम उचित मात्रा में साहित्य को रस प्रदान करते हैं जिससे साहित्य अश्वत्थ की भाँति प्रकाण्ड होता है। परन्तु अतिमात्रिक हो कर वे ही शिव पर धनुष भी तान देते हैं—इस बात से समालोचक को सर्वदा सावधान रहना है। मात्रा की कमी बेशी द्रव्य के रूप और गुण में अन्तर डाल देती है इसलिए रस की मात्रा पर साहित्य में विशेष ध्यान होना चाहिए।

हिन्दी राष्ट्रीय काव्यधारा इस सदी के आरंभ में जब बह चली और जब साहित्य में 'क्या ?' और 'क्यों ?' की अनुचेतना जगी, जब हम अपनी सदियों की अधोगामी प्रवृत्तियोंके कारणों को साहित्य द्वारा खोजने लगे और जब देश अपनी बेड़ियाँ तोड़ने को सन्नद्ध हुआ तभी, विशेषकर उसके मध्यकाल में, साहित्य में एक शोचनीय धारा बही। वह धारा छायावाद की थी। उस धारा ने कोमल और कमनीय के अंबर-डंबर पर विश्व के शाश्वत नियमों का उपनिषद् खड़ा करना चाहा। प्रश्नों का बोझ इतना भारी था कि वह साँझ का अंबर-डंबर लड़खड़ा कर गिर पड़ा और छायावाद की कृत्रिम अनुचेतना रात्रि के अन्धकार में सो गई। कुछ समीक्षकों ने छायावाद के विलीन होने के पूर्व ही उसके जड़वाद का निधन देख लिया था और उन्होंने उसकी प्रतिगति की घोषणा भी कर दी थी पर भावुक मुखापेक्षियों ने इसमें उपनिषदों के प्रश्न और कबीर का रहस्यवाद पढ़ा! प्रातः की किरणों ने छायावाद की कलई खोलकर रख दी।

निश्चय आलोचक तब सजग न था जब यह जड़ धारा रहस्यवाद के नाम पर बहती रही और निष्क्रियता का सन्देश सुनाती रही। समालोचक तब यदि स्वप्निल न होता तो इतने दिनों तक भी उस जड़वाद की लता फूलने न पाती।

कुछ आलोचकों ने अनेक प्रतिगामिनी धाराओं को अपनी शक्ति, निर्भीकता, दृढ़ता की कमी के कारण सम्मान प्रदान करने की चेष्टा की है। परिव्राजकों और सन्यस्तों ने अनेक बार विराग का बाना पहन राग को आच्छन्न किया है और संसार की नजर चुरा उसे भोगा है। वज्रयानी सिद्धों से लेकर अघोरपंथी साधुओं तक, आनन्दवादी मठाधीशों से लेकर सूर और बेनीमाधव के से भक्तों तक ने रस की इस लूट में दोनों हाथों प्राप्य को पकड़ा है और उसे संचित किया है। गुरुजनों के दोष को दोष न कह सकनेवाला समालोचक केवल नाम का आभास लिए फिरता है, उसका आवरणमात्र, जिसके भीतर वही कमज़ोरी मूर्त्तिमान् है जो सूर और बेनीमाधव के संन्यास के पीछे है।

भारतीय समाज के अभाग्य से प्रव्रज्या अपनी परतों में सारे दोषों को छिपा लेती है का अदम्य उत्थान भी उसकी चुन्नटों में डूब जाता है और उसका

स्पष्ट दर्शन नहीं हो पाता। परन्तु जिसको विश्लेष्य का व्यक्तित्व दबा नहीं पाता वह समालोचक सूर और बेनीमाधव के प्रत्रजित यौन-पूजन में भी वह देखता है जो समाज का शत्रु है, स्वस्थ आचार का यम है। उस मानसिक रति-पोषण को भक्ति का अंग कहना भक्तिवाद को चुनौती देना है। भक्ति से सामीप्य और सायुज्य आदि प्रकारों द्वारो स्पर्श पंचधा रूप से वास्तव में पिण्ड से होता है और पिण्ड की उपासना करने-वाले अपने राग, रस और अलंकार के सम्बन्धों से युक्त जब प्रणय की रति से सम्मोहित होना चाहते हैं, जब भौतिक पृष्ठभूमि को सारी अनियन्त्रित तृष्णाएँ सहसा चंचल हो भौतिक भोग से ही उसका शमन करने के लिए मुँह बा उठती हैं, तब मनु की वह सावधान चेतना अनिष्ट की कृत्या को बलवती होते देखती है—न जातु कामः कामा-नामुपभोगेन शाम्यति। सावधान और जागरूक समीक्षक बिना पक्षपात और आडम्बर के स्पष्ट कह देगा कि रति-विपरीत के इस सविस्तर और घृणित विवरण में सिवा काम और काम्य के उद्दीपन के और कुछ नहीं।

इसी प्रकार साहित्य की समालोचना के रूप में भी आज हिन्दी में अगणित ग्रन्थ बनते चले जा रहे हैं। समीक्षक क्यों नहीं सावधान करता हुआ उनके प्रणेताओं को ललकारता कि इससे काम न चलेगा। भारतीय विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों ने विशेषतः साम्प्रदायिक खोजों का बीड़ा उठा लिया है। चार-चार जन एक-एक विषय की खोज में लगे हुए हैं। सच तो यह है कि इन खोजों के अन्तर में खोजने लायक कुछ है ही नहीं, कम-से-कम साहित्यिक कुछ नहीं है और सम्प्रदाय साहित्य नहीं है। अनेक विषयों का जिनका साहित्य से कोई सम्बन्ध नहीं, खोज के नाम पर अकारण मंथन हो रहा है। फल यह हुआ है कि मिल्टन के समय से आज तक अंग्रेजी में जितने 'डाक्टर' नहीं हुए उतने 'डाक्टर' इन विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभाग प्रतिवर्ष प्रस्तुत कर देते हैं!

इससे साहित्य का लाभ नहीं, उसका अपकार होता है। संख्या से प्रगति नहीं होती, गुणवाची मात्रा से परिवर्तन होता है—यह समझ कर समीक्षक स्पष्टतः घोषित करे कि ये अमित और भ्रामक खोजें विश्वविद्यालय की भारी-भरकम ध्वनि के बावजूद तीन कौड़ी की हैं।

समीक्षक का ज्ञान सविस्तार होगा और ज्ञानार्जन में वह निरन्तर जाग्रत रहेगा। साधारणतः वह कवि से, कथाकार से, कलाकार से अधिक जानेगा। अधिक जानेगा उनकी अपनी-अपनी कला-चातुरी के क्षेत्र में नहीं, उनके एकत्र समन्वित ज्ञान-क्षेत्र में। वह इतना जानेगा कि उनके शब्दों की प्रखरता को तौल कर छन्दों के शरीर के भीतर पैठ भावों को देख और कस सके। उसकी कसौटी उसके ज्ञान के जादू से, स्पर्शमात्र से धातु की पहचान कर लेगी। उसका ज्ञान इसलिए आवश्यक है कि भूत और वर्तमान की सीमाएँ उसकी दृष्टि को मन्द न कर दें, पृथ्वी का विपुल प्रसार उसकी गति में प्रतिबन्ध न खड़े कर दे जिससे पूर्व-पर के चिन्तन और यहाँ-वहाँ की तुलनात्मक गवेषणा से वह कृति का मोल कर सके।

इसी मन्तव्य को सामने रखकर कुछ प्राचीन शास्त्रियों ने समालोचक को कवि

तो माना ही है, उसका कवि होना भी आवश्यक गिना है। मैं समझता हूँ इस विधान को शब्दशः अथवा अक्षरशः स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं। यह आवश्यक नहीं कि समालोचक निश्चय ही कवि भी हो। इसमें सन्देह नहीं कि संसार के अनेक समीक्षक कुछ मात्रा में कवि भी रहे हैं परन्तु यह भी सत्य है कि अनेक मूर्धाभिषिक्त समालोचक पिंगल के ज्ञान अथवा छन्द-क्षमता से सर्वथा हीन रहे हैं। इससे इस वक्तव्य का पोषण होता है। हाँ, इतना निःसन्देह है कि समालोचक काव्यगत रस का आस्वादन करने की शक्ति रखता हो और भावों की ग्राह्यता उसमें उच्च कोटि की हो। जब तक रस को अंगीकार करने की, उसकी धारा को समझ सकने की बुद्धि समालोचक में न होगी तब तक रस के परिपाक का रहस्य वह समझ न सकेगा। परन्तु रसप्लावित हो अपनी बुद्धि को वह उससे प्रभावित न होने देगा और विवेकाविवेक की अपनी विश्लेषण-शक्ति को वह सदा जाग्रत रखेगा।

समालोचक सहानुभूति रखता हुआ भी आलोच्य का किसी मात्रा में सगा नहीं होता। सगा से तात्पर्य सम्बन्ध की उस आर्द्रता से है जो न्याय के मार्ग से विप्रस्थित हो पक्ष का पार्श्व ग्रहण कर लेती है। इस प्रकार की आर्द्रता अकसर समालोचक को तर्कहीन, अशक्त और अन्यायी बना देती है, जब उसमें दोष को कह देने की शक्ति नहीं रह जाती। कहते हैं कि 'नैषध-चरित' के रचयिता श्रीहर्ष के मामा समीक्षक थे, काव्य-तत्त्व के मार्मिक आलोचक। वे अपने सिद्धान्त का प्रणयन जब कर चुके तब श्रीहर्ष ने गर्व से स्फुरित उँगलियों पर अपना महाकाव्य रख उनके सामने प्रस्तुत किया। मामा ने महाकाव्य को खोला, उसके पृष्ठ उलटे, अनेक स्थलों को पढ़ा, अनेक भावों को सहृदय की भाँति बार-बार समझा और अन्त में जो उद्गार उस समर्थ और न्यायी आलोचक के मुँह से निकल पड़े उनके पूर्वार्ध ने तो श्रीहर्ष को पुलकित कर दिया, उत्तरार्ध ने निस्पन्द। मामा ने कहा, "पुत्र, तुमने इस अनमोल काव्य को कहाँ छिपा रखा? यदि कहीं तुमने इसे कुछ पहले प्रस्तुत कर दिया होता तो अपने शास्त्र के दोष-वाले प्रकरण के लिए मुझे विशेष उद्योग न करना पड़ता, क्योंकि काव्यगत सारे दोष इसी काव्य में एकत्र मिल जाते!"

समीक्षक सहृदय होगा। 'सहृदय' वह आलोचना-शास्त्रों में कहा भी गया है। जिसके हृदय नहीं वह न साहित्यकार होगा, न समालोलचक। दोनों का यह समान गुण है, समान आधार। एक सहृदयता के आधार पर अपने भावों का सौन्दर्य खड़ा करता है दूसरा उसी सहृदयता द्वारा उसे समझता और स्वीकार करता है। और सुतीक्ष्ण से सुतीक्ष्ण समीक्षक के प्रति भी सहृदय साहित्यकार उदासीन नहीं होता है और न उसके विरुद्ध उसकी कोई शिकायत ही होती है। ब्रह्मा से अरसिकों के प्रति कवित्व-निवेदन न करने के संयोग की प्रार्थना, निश्चय समालोचक के सम्बन्ध में नहीं की गई है।

समालोचक सहृदय है, वह कवि की रस-धारा का आस्वादन करता है परन्तु उसकी जिह्वा सचेत है जो मधुर और कषाय का भेद जानती है, क्योंकि उसके ऊपर समीक्षक की बुद्धि सतत जागरूक है

५

साहित्य की परिधि

रससिक्त ललित पदावली संयुक्त भाव-विलास साहित्य है। जहाँ साहित्य की परिधि बहुत बड़ी है वहाँ ललित साहित्य की काफी सँकरी भी है। साहित्य शब्द का प्रयोग साधारण तौर पर इस रूप में भी किया जाता है कि वह समूचे लिखे तत्त्व को भी अपने कलेवर में समेट सकता है।

इसी अर्थ में विज्ञान-साहित्य, शिक्षा-साहित्य, चिकित्सा-साहित्य, दर्शन-साहित्य, आदि संकेतों का प्रयोग होता है। परन्तु यह साहित्य को, वस्तुतः ललित साहित्य को, इनसे भिन्न करने के भाव से ही होता है। भाव यह कि वह साहित्य जो वैज्ञानिक आदि है, ललित साहित्य नहीं। उस अर्थ में केवल पदावली का ललित होना या वाक्यों का रससिक्त होना ही साहित्यार्थ के द्योतन में पर्याप्त नहीं है, क्योंकि वैसे भी उसमें भाव-विलास का अभाव होता है। शब्दों से भाषा बनती है पर शब्द भाषा नहीं है, भाषा से ही साहित्य बनता है पर भाषा साहित्य नहीं है। भाषा साहित्य का कलेवर, परिधान या वाहन मात्र है जिसके भीतर साहित्य की आत्मा बसती और रमती है। जैसे आत्मा या प्राण की स्थिति के लिए शरीर का होना आवश्यक है वैसे ही साहित्य के लिए भाषा, अथवा उसकी इकाई शब्द, का अस्तित्व अनिवार्य है। इस सम्बन्ध में साहित्य कला का सहयोगी है और कला की ही भाँति वह भी तभी रूप धारण करता है जब उसे उच्चरित शब्द अथवा लिखित भाषा का साहाय्य मिलता है।

साहित्य ललित हो सकता है, उसमें प्रबन्ध और अलंकारों की व्यंजना हो सकती है, फिर भी अनेक लोग उसे सही साहित्य न कहेंगे जब तक वह अपने रूप-सज्जा से सजकर प्रस्तुत न हो। रूप-सज्जा से अर्थ यहाँ उन साहित्यिक परम्पराओं, प्रतीकों, शैलियों, वृत्तों आदि से है जो कालान्तर में उसकी प्रतीति और रूपांग बन गए हैं। साहित्य की यही स्थिति साधारणतः सर्वसंमत है, जिसे हम 'नागर' कह सकते हैं। इसी परिधि से लगा-लगा, इसके बहिरंग में ही सम्मिलित, वह साहित्य भी है जिसे आज 'लोक' की संज्ञा मिली है। इसका विस्तार आज की आधुनिकतम जातियों के नवनिर्मित स्वच्छन्द निबन्ध गीतों, प्रबंधों, गेय कथानकों आदि से लेकर प्राचीनतम आदिम जातियों की लोककथाओं तक है। यह ग्रामीण अथवा लोक-साहित्य परंपरा या साहित्य-शैलियों के, रूढ़िगत प्रतीकों के, प्रतिबंध नहीं मानता।

शुद्ध ललित साहित्य, जिसका संसार के आलोचकों ने हजारों साल से विचार किया है यही नागर' साहित्य है पश्चिम में अरस्तू, क्रोचे आदि ने और संस्कृत में

तो माना ही है, उसका कवि होना भी आवश्यक गिना है। मैं समझता हूँ इस विधान को शब्दशः अथवा अक्षरशः स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं। यह आवश्यक नहीं कि समालोचक निश्चय ही कवि भी हो। इसमें सन्देह नहीं कि संसार के अनेक समीक्षक कुछ मात्रा में कवि भी रहे हैं परन्तु यह भी सत्य है कि अनेक मूर्धाभिषिक्त समालोचक पिंगल के ज्ञान अथवा छन्द-क्षमता से सर्वथा हीन रहे है। इससे इस वक्तव्य का पोषण होता है। हाँ, इतना निःसन्देह है कि समालोचक काव्यगत रस का आस्वादन करने की शक्ति रखता हो और भावों की ग्राह्यता उसमें उच्च कोटि की हो। जब तक रस को अंगीकार करने की, उसकी धारा को समझ सकने की बुद्धि समालोचक मे न होगी तब तक रस के परिपाक का रहस्य वह समझ न सकेगा। परन्तु रसप्लावित हो अपनी बुद्धि को वह उससे प्रभावित न होने देगा और विवेकाविवेक की अपनी विश्लेषण-शक्ति को वह सदा जाग्रत रखेगा।

समालोचक सहानुभूति रखता हुआ भी आलोच्य का किसी मात्रा में सगा नहीं होता। सगा से तात्पर्य सम्बन्ध की उस आर्द्रता से है जो न्याय के मार्ग से विप्रस्थित हो पक्ष का पार्श्व ग्रहण कर लेती है। इस प्रकार की आर्द्रता अकसर समालोचक को तर्कहीन, अशक्त और अन्यायी बना देती है, जब उसमें दोष को कह देने की शक्ति नहीं रह जाती। कहते हैं कि 'नैषध-चरित' के रचयिता श्रीहर्ष के मामा समीक्षक थे, काव्य-तत्त्व के मार्मिक आलोचक। वे अपने सिद्धान्त का प्रणयन जब कर चुके तब श्रीहर्ष ने गर्व से स्फुरित उँगलियों पर अपना महाकाव्य रख उनके सामने प्रस्तुत किया। मामा ने महाकाव्य को खोला, उसके पृष्ठ उलटे, अनेक स्थलों को पढ़ा, अनेक भावों को सहृदय की भाँति बार-बार समझा और अन्त में जो उद्गार उस समर्थ और न्यायी आलोचक के मुँह से निकल पड़े उनके पूर्वार्ध ने तो श्रीहर्ष को पुलकित कर दिया, उत्तरार्ध ने निस्पन्द। मामा ने कहा, "पुत्र, तुमने इस अनमोल काव्य को कहाँ छिपा रखा? यदि कहीं तुमने इसे कुछ पहले प्रस्तुत कर दिया होता तो अपने शास्त्र के दोष-वाले प्रकरण के लिए मुझे विशेष उद्योग न करना पड़ता, क्योंकि काव्यगत सारे दोष इसी काव्य में एकत्र मिल जाते!"

समीक्षक सहृदय होगा। 'सहृदय' वह आलोचना-शास्त्रों में कहा भी गया है। जिसके हृदय नहीं वह न साहित्यकार होगा, न समालोलचक। दोनों का यह समान गुण है, समान आधार। एक सहृदयता के आधार पर अपने भावों का सौन्दर्य खड़ा करता है दूसरा उसी सहृदयता द्वारा उसे समझता और स्वीकार करता है। और सुतीक्ष्ण से सुतीक्ष्ण समीक्षक के प्रति भी सहृदय साहित्यकार उदासीन नहीं होता है और न उसके विरुद्ध उसकी कोई शिकायत ही होती है। ब्रह्मा से अरसिकों के प्रति कवित्व-निवेदन न करने के संयोग की प्रार्थना, निश्चय समालोचक के सम्बन्ध मे नहीं की गई है।

समालोचक सहृदय है, वह कवि की रस-धारा का आस्वादन करता है परन्तु उसकी जिह्वा सचेत है जो मधुर और कषाय का भेद जानती है, क्योंकि उसके ऊपर समीक्षक की बुद्धि सतत है

५

साहित्य की परिधि

रससिक्त ललित पदावली संयुक्त भाव-विलास साहित्य है। जहाँ साहित्य की परिधि बहुत बड़ी है वहाँ ललित साहित्य की काफ़ी सँकरी भी है। साहित्य शब्द का प्रयोग साधारण तौर पर इस रूप में भी किया जाता है कि वह समूचे लिखे तत्त्व को भी अपने कलेवर में समेट सकता है।

इसी अर्थ में विज्ञान-साहित्य, शिक्षा-साहित्य, चिकित्सा-साहित्य, दर्शन-साहित्य, आदि संकेतों का प्रयोग होता है। परन्तु यह साहित्य को, वस्तुतः ललित साहित्य को, इनसे भिन्न करने के भाव में ही होता है। भाव यह कि वह साहित्य जो वैज्ञानिक आदि है, ललित साहित्य नहीं। उस अर्थ में केवल पदावली का ललित होना या वाक्यों का रससिक्त होना ही साहित्यार्थ के द्योतन में पर्याप्त नहीं है, क्योंकि वैसे भी उसमें भाव-विलास का अभाव होता है। शब्दों से भाषा बनती है पर शब्द भाषा नहीं है, भाषा से ही साहित्य बनता है पर भाषा साहित्य नहीं है। भाषा साहित्य का कलेवर, परिधान या वाहन मात्र है जिसके भीतर साहित्य की आत्मा बसती और रमती है। जैसे आत्मा या प्राण की स्थिति के लिए शरीर का होना आवश्यक है वैसे ही साहित्य के लिए भाषा, अथवा उसकी इकाई शब्द, का अस्तित्व अनिवार्य है। इस सम्बन्ध से साहित्य कला का सहयोगी है और कला की ही भाँति वह भी तभी रूप धारण करता है जब उसे उच्चरित शब्द अथवा लिखित भाषा का साहाय्य मिलता है।

साहित्य ललित हो सकता है, उसमें प्रबन्ध और अलंकारों की व्यंजना हो सकती है, फिर भी अनेक लोग उसे सही साहित्य न कहेंगे जब तक वह अपने रूप-सज्जा से सजकर प्रस्तुत न हो। रूप-सज्जा से अर्थ यहाँ उन साहित्यिक परम्पराओं, प्रतीकों, शैलियों, वृत्तों आदि से है जो कालान्तर में उसकी प्रतीति और रूपांग बन गए हैं। साहित्य की यही स्थिति साधारणतः सर्वसंमत है, जिसे हम 'नागर' कह सकते हैं। इसी परिधि से लगा-लगा, इसके बहिरंग में ही सम्मिलित, वह साहित्य भी है जिसे आज 'लोक' की संज्ञा मिली है। इसका विस्तार आज की आधुनिकतम जातियों के नवनिर्मित स्वच्छन्द निबन्ध गीतों, प्रबंधों, गेय कथानकों आदि से लेकर प्राचीनतम आदिम जातियों की लोककथाओं तक है। यह ग्रामीण अथवा लोक-साहित्य परंपरा या साहित्य-शैलियों के, रूढ़िगत प्रतीकों के, प्रतिबंध नहीं मानता।

शुद्ध ललित साहित्य, जिसका संसार के आलोचकों ने हजार' साल से विचार किया है, यही नागर साहित्य है पश्चिम में अरस्तू, क्रोचे आदि ने और संस्कृत

रुय्यट, कय्यट, मम्मट, भामह, दण्डी, राजशेखर, विश्वनाथ, धनिक, धनंजय, अभिनवगुप्ताचार्य, आनन्दवर्द्धन, आदि ने उसका विवेचन किया है। इसका संबन्ध अलकारशास्त्र से गहरा रहा है यद्यपि उस अलंकारशास्त्र की सीमाएँ निश्चय काव्य के सौंदर्य अथवा उससे अनुप्रास आदि तक ही परिमित नहीं रही है। व्यंजना के हजार पहलुओं पर उन्होंने इतनी गहराई से विचार किए है कि उनके विचार-विमर्श का स्तर रस के आधार से उठकर, शब्द की शक्ति को लाँघ, दर्शन की कला में प्रवेश कर गया है। रस, सौंदर्य, ध्वनि, औचित्य आदि उसी साहित्यसम्मत विचारधारा के आलोकस्तम्भ है। और यह समूचा विचार-वैभव, इतना विविध और विस्तृत होकर भी, मात्र नागर साहित्य, केवल ललित साहित्य, तक ही सीमित है।

और जो हम साहित्य की परिधि की बात कह रहे हैं तो हमें इस पर विचार करना होगा कि आज कुछ आचार्य नामधारी प्राध्यापकों के साहित्य-दर्शन संबन्धी अज्ञान और विषयग्राहिता की सीमाओं के कारण जो इस पूर्वात्य-पाश्चात्य दोनों द्वारा अभिमत और सम्मत साहित्य-दर्शन की अवहेलना होती है, सो क्यों ? विश्वविद्यालयो मे जो पाठ्यक्रम हिन्दी साहित्य में आज चल रहा है वह जहाँ तक अंग्रेजी और संस्कृत के साहित्यों के पाठ्यक्रमों द्वारा समर्थित है वहाँ तक तो सही है परन्तु जहाँ उन्होंने अपने ज्ञान की सीमाओं अथवा सकीर्णता के कारण साहित्येतर सामग्री का अनावश्यक प्रवेश उसमें कराया है वहाँ वह निःसंदेह साहित्य की दृष्टि से उनकी परिधि मे 'फ़ारेन मैटर' है। इस स्थिति की भयानक बर्बरता, विशेषकर विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभाग की खोजो को क्षेत्र में, पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती है। पाठ्य-पुस्तकों के लिए साहित्यिक सामग्री की कमी हो, कुछ ऐसी बात नहीं है। परन्तु वह बात प्राचीन और अर्वाचीन के दयनीय सकीर्ण दृष्टिकोणों से सम्बन्ध रखती है। अधिकतर विश्वविद्यालयो से संबन्धित साहित्य प्राध्यापक या विभागाध्यक्ष विश्वविद्यालयों से सम्बन्ध होते ही साहित्य से विरत हो जाते हैं। साहित्य-निर्माण से तो उनका सम्बन्ध, यदि कभी पहले था भी तो अब, टूट ही जाता है, साहित्य के चारों ओर वह दूसरों की कही अथवा अपनी ही बार-बार फेटी आलोचनाओं का चर्वित-चर्वण करते रहते हैं और जैसे-जैसे समय बीतता है वैसे-वैसे वे जाग्रत जीवित नित्य प्रसूत होती साहित्य की रचनाओं से सर्वथा अनभिज्ञ हो जाते हैं। और जब नए मेघ के दर्शन से वैदूर्य की भूमि में नित्य फूटती जाती रत्न-दूर्वा की शलाकाओं को वे देख नहीं पाते, तब वे उस ओर से उनके राग-रस से सर्वथा मुँह मोड़कर प्राचीनो की ओर देखते हैं और अनावश्यक तथा महत्त्वहीन में रहस्य, अध्यात्म, दर्शन आदि का घटाटोप बाँध साहित्य की कोमल काया पर घिनौने कूड़े का अम्बार खड़ा करते है। ऐसे प्राचीन युगों मे साहित्य भी नहीं उसके कलेवर भाषा के आरम्भ को वे खींच ले जाते हैं जहाँ से उसके 'आदिकाल' की आवाज़ से श्रद्धालुओं पर अपनी पंडिताई का सिक्का बिठा सकें।

अब ज़रा इस दृष्टि के तथ्य पर विचार करें भाषा जब से मानव के कंठ में फूटी है, मुद्राओं और चेष्टाओं के आधार से उठ कर हुई है, तब से आज

उसके विकास का क्रम अटूट रहा है। हमें भाषा और प्रस्तुत विषय पर विचार करते, हिन्दी भाषा की अवधि कहीं माननी होगी, उसके इस रूप की सीमा कहाँ खींचनी होगी। माना कि आज की खड़ी बोली अथवा उसके निकट की जन-बोलियाँ अपभ्रंशों और प्राकृतों की धाराओं से अपने विकास-क्रम से सम्बन्धित रही है पर अगर हम उनके पूर्ववर्तियों की आनुक्रमिक निकटताओं से निरन्तर उनका सम्पर्क दिखाते जायेंगे तो इन अनुक्रमों की शृङ्खला कभी खत्म ही न होगी, क्योंकि सदियों पार की दूरी से आज हमें चाहे वे पूर्ववर्ती सुदूर के और दुरूह लगें, पर अपनी निकट की भाषाओं से वे निःसन्देह प्रायः एकरूप हैं। इससे हमको कहीं-न-कहीं परिधि बाँधकर अपनी दृष्टि लौटानी होगी और पहले दूरस्थ को अंगीकार कर फिर उसकी इकाइयों का विस्तार करना और उनपर तथाकथित 'रिसर्च' के बड़पोथे तैयार करना समीचीन न होगा, खोज का मात्र उपहास करना होगा।

आज खोज के नाम पर विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों से जो डाक्टरेट की थीसीसें बरसाती घासों की तरह निरंतर निकलती आ रही हैं उनकी संख्या तो अनंत है ही, उनका स्तर नितांत प्रश्नात्मक और हेय रहता है। इन थीसिसों के विषय और उसमें प्रतिपादित ज्ञान तो ज्ञान का परिहास करते ही हैं साथ ही अपने निर्देशकों की बुद्धि का चमत्कार भी प्रस्तुत कर देते हैं और हम उनका निःसीम अज्ञान, संकीर्ण दृष्टि और साहसिक ढिठाई देख अवाक् रह जाते हैं। वे यह भी नहीं देख पाते कि साहित्य के साथ तो चाहे जितना भी व्यभिचार करें, उसकी सीमाओं को चाहे जितना भी फैला दें, उन्हें कम-से-कम प्रतिपाद्य के विषय को समझने का प्रयत्न करना चाहिए था। तंत्रों से सम्बन्ध रखनेवाले कण्हपा, सरहपा आदि सिद्धों साधनाओं से सम्पर्क रखने वाले नाथ, निर्गुण, निरंजन पंथों के महात्माओं या भक्ति, अष्टछाप आदि संप्रदायों के सन्तों की वाणी चाहे धर्म, दर्शन या समाजशास्त्र के दायरों में खोज के प्रतिपाद्य विषय हो सकते हों पर उनका ललित साहित्य से, 'बेल-लेत्र' या 'लेत्र-पोलीत' से क्या सम्बन्ध है, यह समझ पाना नितांत अबूझ पहेली है, जिसकी गाँठ इन थीसिसों के निर्देशक ही खोल सकते हैं।

कबीर हिन्दू-मुसलिम सांस्कृतिक संधि के समुज्वल रत्न थे। बड़े साहस और निर्भीकता से उन्होंने अपने समाज के पाखण्डों का भण्डाफोड़ किया है और उनके 'सबद', 'साखी' या 'उलटवासियाँ' उस दिशा में नितांत श्लाघ्य हैं, पर भला उनका परिगणन ललित साहित्य के आँकड़ों में करना कितना सारहीन होगा! मात्र पद्य में किसी वस्तु का लिखा होना उसे काव्य अथवा साहित्य में गिने जाने का अधिकार नहीं दे देता। इस देश में तो व्याकरण और दर्शन से लेकर चिकित्सा और शासन तक के ग्रंथ पद्य में ही लिखे गए हैं पर केवल पद्यबद्ध होने के कारण कोई उन्हें साहित्य में गिनने का साहस नहीं करता।

भाषा की मिठास भी, पद्य का माधुर्य भी, कृति के साहित्य में गिने जाने का अधिकार नहीं देते, जबतक कि कृतिकार साहित्य लिखने का संकल्प प्रस्तुत न करता

हो। 'श्रीमद्भगवद्गीता' के भाव और भाषा दोनों ही असाधारण ऊँचे और सुन्दर है और उसके पद्य की गेयता तो इतनी मधुर है कि उसका नाम ही 'गीता' पड़ गया है। पर आजतक संस्कृत के किसी अलंकारशास्त्री ने, छोटे-बड़े किसी समीक्षक ने, उसके मधुरतम, शालीनतम श्लोक का भी अपने अलंकार-ग्रंथ में पिछले दो हजार सालों के दौरान मे उद्धरण नहीं दिया।

जब हम इस दृष्टि से साहित्य की परिधि पर विचार करते है तब मात्र पद्य में अपनी समाजविरोधी रचनाएँ करनेवाले वज्रयानी सिद्धों, हमे अपनी विनौनी प्रवृत्ति से बार-बार, स्वयं प्रव्रजित होकर भी, 'विपरीत' की सत्ता का भान कराकर अध्यात्म का चोखा रंग अपने पदों पर चढ़ानेवाले सन्तों, से बड़ी विरक्ति हो जाती है। और जब मदिर और मधुर की ओर हम संकेत कर रहे हैं तब उस एकांतिक प्रश्न को सामने रखने से भी चूकना नहीं चाहते जो मीरा जैसी गायिका को भी हमारी समीक्षा की तुला पर ला बिठाता है। गीत और गायन किस मात्रा तक साहित्य के अंग हो सकते हैं, इस सम्बन्ध में पूरबी और पच्छिमी जगत् में दो रायें नहीं है। गीतिकार चाहे जितना भी महान् क्यों न हो साहित्य से इतना नहीं जितना वह संगीत से सम्बन्धित रहेगा। गीता की बात ऊपर कही जा चुकी है। मधुर गेय स्तोत्रों की भी स्थिति उसी के अनुरूप है। जगत्-प्रसिद्ध गायक बिथोवेन, मोजार्ट और वैग्नर कभी साहित्यिक नहीं माने गये, न कभी यूरोपीय साहित्य के किसी इतिहासकार ने अपने इतिहास मे उनका नामोल्लेख तक किया। उनका सहज स्थान संगीत के इतिहास मे है, 'कम्पो-जरों' की श्रेणी में। पर यह तो हमारे 'आचार्यों' के ज्ञान का चमत्कार है कि वे कण्हपा, गोरखनाथ, मीराबाई, सूरदास, बेनीमाधव, दादू, मलूकदास, वृन्दावनदास, कबीर, जायसी, तुलसीदास, विद्यापति, मतिराम, भूषण, पंत, महादेवी, प्रसाद, सुमन, नरेश तक को एक ही सूत मे पिरो लेते हैं। धन्य है उनका साहस! उनकी सूझ की बलिहारी।

६

हिन्दी साहित्य की भूमिका

हिन्दी साहित्य की भूमिका से तात्पर्य हिन्दी साहित्य के इतिहास की भूमिका से है। आज हिन्दी के अनेक इतिहास उपलब्ध हैं और इधर जब से यह भाषा राजभाषा होकर अनन्य राष्ट्रीय हो गई है, तब से तो इसके इतिहासों की संख्या दर्जनों में नहीं कोड़ियों में गिनी जाने लगी है। हिन्दी के राजमार्ग पर प्रस्थित होते ही जो इस प्रकार इतनी संख्या में उसे विकृत करने के प्रयत्न हो रहे हैं उनसे निःसन्देह उसके अभ्युदय में भारी बाधा उत्पन्न होगी।

इन कोड़ियों साहित्य के इतिहासों में दिवंगत रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास को छोड़ एक भी ऐसा नहीं जिसे सही अर्थ में भाषा या साहित्य का इतिहास कहा जा सके। परन्तु स्वयम् शुक्लजी के इतिहास के बाद प्रायः दो युग बीत चुके हैं और हिन्दी भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में नए दृष्टिकोणों का उदय हुआ है और अत्यन्त समृद्ध तथा विभिन्नमुखी साहित्यिक सामग्री और प्रवृत्तियों का इस बीच प्रादुर्भाव हुआ है। इनके प्रति संकेत होकर भी शुक्लजी के इतिहास में इस निकट उत्तरवर्ती काल के साहित्यालोचन का स्तंभ नितान्त अनिवार्यतः संयोजनीय है, यद्यपि उनके इतिहास की मूल मान्यताएँ आज भी अधृष्य हैं और उनके प्रति निरन्तर विद्वानों की आस्था बनी रहेगी।

यह कहना विशेष अपेक्षित नहीं कि उपलब्ध इतिहास अनन्त त्रुटियों से भरे पड़े हैं। ये त्रुटियाँ मूल्यांकन आदि सभी प्रकार की हैं। ऐतिहासिक, साहित्यिक प्रवृत्तियों के युगांतरकारी महत्त्व के 'आलोचन' का इनमें प्रायः सर्वथा अभाव है। कारण इसका सम्भवतः मुख्यतः यह है कि इन इतिहासकारों में एक भी इतिहास का जानकार नहीं रहा है। साहित्य जीवन का वह सर्वांगीण तत्त्वबोध है जिसकी व्यापक धारणा तथ्यतः तभी हो सकती है जब समसामयिक जीवन के सावयवीय तथ्यों को आमूल हृदयंगम कर लिया जाय। इस प्रकार मानसचक्षुओं द्वारा अंगीकृत जीवन ही साहित्य की पर्तों को खोल सकेगा। यदि साहित्य जीवन अर्थात् समाज के सुषुप्त अथवा आन्दोलित अवयवों से सम्बन्ध रखता है अर्थात् उसके प्रकृतिस्थ अथवा आन्दोलित, सम अथवा विकृत परिस्थितियों से सम्भूत भावावेगों और मनोभावों का रागात्मक आकलन करता है तो निश्चय उस दिशा में इतिहास ही जगदेकचक्षु बनकर पृष्ठभूमि की सिलवटों तक को प्रकाशित कर देता है। इससे इतिहास अथवा ऐतिहासिक दृष्टिकोण साहित्य के उत्तरोत्तर विकसित होनेवाले

जीवनांदोलित युगों को प्रकाशित करने में अहम् साधन है ।

परन्तु इतिहास स्वयं क्या है ? और साहित्यिक इतिहास में उस इतिहास का प्रवेश किस मात्रा और रूप में होता है ? इतिहास कालानुक्रम से सामग्री का सम्बन्धतः मूल्यांकित अध्ययन है । जिसे अँग्रेजी में 'क्रानिकल' अथवा 'क्रानिकिलग' कहते हैं, वह इतिहास नहीं है, क्योंकि उसमें पूर्व और पर का संयोग रहते भी सावयवीय सम्बन्ध उसकी सामग्री अथवा तथ्यों में नहीं होता । वह घटनाओं का सूचीमात्र होता है, उनका तिथितः संख्यांकन मात्र । उसमें इतिहास जीवित अथवा प्राणवान् नहीं हो पाता । जब तथ्य इतिहासकार के हाथ में आकर उसकी प्रज्ञा का संयोग पाकर परस्पर आलोड़ित हो जी उठते हैं, उनमें समाविष्ट घटनाओं का सवेदनशील प्रवाह गतिमान हो चलता है और उस अविच्छिन्न गतिमानता में विगत जीवन पुनर्निर्मित हो लहरा उठता है तब इतिहास की संज्ञा सार्थक होती है, वरना वह सारा प्रयास असंतुलित घटनासंकुल अखबारनवीसीमात्र होकर रह जाता है । आज के साहित्य के इतिहासों की परम्परा उसी साहित्यिक 'क्रानिकिलग' की परिचायक है ।

इतिहास इस प्रसंग में तीन प्रकार का हो सकता है—भाषा का, साहित्य का, भाषा और साहित्य का । मैंने अपने निबन्धों में बार-बार इस ओर पण्डितों की दृष्टि आकृष्ट करने का प्रयत्न किया है कि यद्यपि शब्द से भाषा बनती है, शब्द भाषा नहीं है, यद्यपि भाषा से साहित्य बनता है, भाषा साहित्य नही है । जिस प्रकार विकृत तत्त्वों के एकत्रित संयोग से प्राणवान् सत्त्व की आसन्नता से सहसा उन एकत्र तत्त्वो में जीवन का संचार हो आता है और उनके पिण्ड का व्यक्तिबोध सम्भव होने लगता है, उसी प्रकार शब्द और भाषा का कलेवर धारण करके भी साहित्य के मूल तत्व और प्राणवान् सत्त्व के स्पर्श से ही उस कलेवर में जान पड़ती है और वह साहित्य कहलाने लगती है, वरना जैसे शब्द शक्ति के बिना मात्र स्वरों और मात्राओं का समाहार होकर रह जा सकता है, भाषा भी शब्दोंका एकत्रीभूत मात्र कोलाहल बनकर रह जायगी । इस दृष्टि को सामने रखते हुए हमें भाषा और साहित्य के इतिहासों पर विचार करना होगा ।

भाषा का इतिहास उस ध्वन्यात्मक बोधात्मक सार्थक शब्दात्मक कंठस्फुट मानवीय चेष्टा का इतिहास है जिसे वाणी कहते हैं और जिसके माध्यम से बर्बर मानव ने पहले-पहल अपनी घुटती हुई इच्छा प्रकट की और जिसके द्वारा आज का नितांत जटिलसंज्ञक पण्डित भी अपने असाधारण उलझे और कठिन विचारों तक को सबलित तथा स्पष्ट करता है । शब्द भावप्रकाश के साथ साथ शब्द-शक्ति धारण करते हैं और भाषा का विकास होता है । इस विकास में शब्दों की आधारभूत व्युत्पत्ति और बहिरंग अर्थात् ऊपर से आधारित अथवा अन्यत्र से स्वायत्त अर्थशक्ति सहायक होती है, जैसे शब्दोंकी अर्थगत परम्परा व्यवहार के प्रायोगिक माध्यम से संभूत व्याकरण के संयोग से उसके वास्तु का निर्माण होता है । भाषा के उस शब्द-चयन का रूढ परिमाण उसकी भौगोलिक सीमाओं के बाहर से स्वीकृत संचित शब्द परम्परा से बनता है, नितांत आढ्य

और रागरंजित, विविध वर्णसंयुक्त। इस विकास का मंजिल-मंजिल परन्तु साथ ही अटूट संलग्न आलोचन भाषाका इतिहास कहलाता है, जिसमें शुद्ध साहित्य से भिन्न, रागात्मक भावावेशों और चित्तवृत्ति के रागबद्ध रूपायनों से भिन्न, मात्र विकसित भाषा का अध्ययन होता है।

यद्यपि भाषा और साहित्य का परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है, साहित्य फिर भी साहित्य है, भाषा होकर भी मात्र साहित्य : भाषा वस्तुतः उसका परिधानमात्र है। भाषा के शब्दों का वह संचयन करता है, परुष, मधुर, अभिव्यंजक भावघनी शब्दों का ; ऐसे शब्दों का जो स्वयं अपने में महत्त्व नहीं रखते बल्कि जिनका महत्त्व साहित्यिक प्रयत्नविशेष को संवलित करने में होता है। इससे उन शब्दों के संचयन की नीति भी साहित्य के सम्प्रति विषय से सम्बन्ध रखती है। इस प्रकार साहित्यिक भाषा के केवल उस अंश का उपयोग करता है जिससे उसके आयोजित प्रतिपाद्य के रसों की अभिव्यक्ति हो सके। इस रूप में साहित्यगत भाषाकी, भाषा की निधि से, मात्र संचयित महत्ता है, यद्यपि विषय और स्थानविशेष के पल्लवन के अर्थ भाषा के अंशतः प्रयोग द्वारा समय-समय पर उसका सर्वांग साहित्य में समाहित होकर महत्त्वपूर्ण हो सकता है। साहित्य का इतिहास इस रूप में भाषा का इतिहास नहीं होगा, केवल चित्तवृत्ति का रागबद्ध मात्र साहित्यिक निरूपण का इतिहास होगा जो साहित्य का प्राण, साहित्यकी व्याख्या है।

पर साहित्य क्या है? साहित्य की परिधि क्या है? शब्द और भाषा के माध्यम से रसों के परिपाक द्वारा भावों के चित्रलेखनपूर्वक प्रतिपाद्य का रूपायन, उसका व्यंजनाप्रधान ललित आकलन, द्रव, ठोस अथवा कोमल तत्त्वों का अनुकूल उपकरणों द्वारा मूर्तन। यदि साहित्य की एक परिभाषा की यह दृष्टि आंशिक रूप से भी सही है तो निश्चय उसका शेष कृतिकार के संकल्प द्वारा निःशेष हो जाता है। और उस संकल्प में साहित्यकार की दुर्बल साहित्यकारिता का भी समावेश व्यंजित है। अर्थात् साहित्य के दो भेद अपने परिमाणों के साथ सदा हो सकते हैं, महान् और साधारण, विशिष्ट और दुर्बल। भाव यह कि कालिदास और अश्वघोष, वाल्मीकि और क्षेमेंद्र सभी साहित्यकार हैं तथापि न तो क्षेमेंद्र का साहित्यगत प्रयास वाल्मीकि की शालीनता को छू पाता है न अश्वघोष का साहित्यांकन कालिदास के सहज माधुर्य को। परन्तु साहित्यकार चारों इस कारण हैं कि उनका संकल्प साहित्यकार का है, साहित्य निर्माण का।

संस्कृत में, या कुछ अंशों में हिन्दी में भी, धर्म, दर्शन, नीति, धनुर्वेद, ज्योतिष और चिकित्साशास्त्र तक के ग्रन्थ पद्य में लिखे गए हैं और अनेक बार अज्ञानवश तथाकथित आलोचकों ने उनको साहित्य की परिधि में ले लिया है। यह प्रवृत्ति नितांत अज्ञान की सूचक तो है ही पूर्वात्य और पाश्चात्य, प्राचीन और अर्वाचीन दोनों परम्पराओं की विरोधी भी है प्राचीन अथवा अर्वाचीन, पूर्वी अथवा पश्चिमी कोई आलोचक केवल पद्य को काव्य नहीं मानते केवल मधुर कर्णप्रिय ध्वनि की

भी गणना काव्यमें नहीं हुई। संसारप्रसिद्ध गायकों—बिथोवेन, मोजार्ट या वैग्नर का नाम किसी यूरोपीय साहित्य के इतिहास में नहीं मिलता और न तानसेन आदि गायकों का ही नाम संस्कृत की साहित्यिक परम्परा में मिलता है। इसी प्रकार गीता जैसे मधुर पद्यविलास को भी हमारे प्राचीन समीक्षकों ने अपनी समीक्षा-परिधि से बाहर रखा, उचित साहित्यिक विचारों की चर्चा में उनके गुण-दोषों का विवेचन कभी नहीं हुआ। इस तथ्य को दृष्टि में रखने पर आश्चर्य होता है कि क्यों आधुनिक भारतीय विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों के सारे शोध-प्रयत्न सिद्धों, नाथों, निरंजनों आदि सन्तों (इनमे सूरदास और तुलसीदास की परम्परा अलग है, ऐसे ही जायसी आदि की भी) की नितान्त असाहित्यिक बानियों पर ही केन्द्रित हो गये हैं? अत्यधिक खींचतान के बावजूद कण्हपा, सरहपा आदि का योग भाषा की परिधि के बाहर, साहित्य में, नहीं हो सकता और भाषा के सम्बन्ध मे भी वह योग प्रायः उपेक्षणीय है। महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन की एक बार की फेंकी तत्सम्बन्धी कौड़ी दूर जा पड़ी थी जिसे विश्वविद्यालयों के अनुसन्धानकर्ता आज मात्र उठा लेने में तत्पर है। उस तत्परता का साहित्य के अध्ययन से कोई सम्बन्ध नहीं।

तीसरे प्रकार का इतिहास निःसन्देह भाषा और साहित्य के एकस्थ अध्ययन का हो सकता है, जिसमें भाषा के विकास और साहित्य की प्रगति का निरूपण हो। इस सम्बन्ध में प्रयत्न करनेवालों को दोनों का स्वतन्त्र और एकायित विकास हृदयंगम करना होगा। जिस प्रकार आकाश में नए नक्षत्रों का उदय और पुराने नक्षत्रों का निलय होता रहता है वैसे ही साहित्यकाश में भी नए कृतिकारों का समुदय और अन्य अनेकों का पर्यवसान होता रहता है। उनको खोज निकालना और उनके पारस्परिक गुणों और दोषों का मूल्यांकन, स्वयं उनका अनुसन्धान भी, इतिहासकार का अभीष्ट होना चाहिए। इस सम्बन्ध में यह निरन्तर याद रखने की बात है कि आज भी अनन्त नए प्रयोगात्मक तथा संवेदनात्मक काव्य-प्रयत्न हिन्दी में होते जा रहे हैं परन्तु हमारे तथाकथित आचार्यों के अज्ञान के कारण उनके प्रति उदासीनता साहित्य की प्रगति मे न सही तो कम से कम उसके उचित आलोचन में निःसन्देह बाधक हो रही है। उदीयमान सावधि हिन्दी साहित्य का यह अभाग्य है कि हमारे आचार्यनामा आलोचक अज्ञानवश नवसाहित्यरूपी नवान्न की अग्राह्यता के कारण केवल प्राचीन साहित्यिक-असाहित्यिक कृतियों का ही चर्वित-चर्वण कर रहे हैं। भाषा और साहित्य का इतिहासकार भाषा और साहित्य में किये गये आज के अत्यन्त प्राणवान् इन नवीन प्रयोगों का संग्रह सन्तुलित मूल्यांकन के साथ अपने इतिहास में करे, अभीष्ट यह है।

एक और अत्यन्त आवश्यक और महत्त्वपूर्ण विचार की ओर साहित्य के इतिहासकारों का ध्यान आकृष्ट करना अपना कर्तव्य समझता हूँ। अनेक वर्षों से इस बात को दोहराता रहा हूँ और सन् '५२ के प्रयाग में होनेवाले प्रगतिशील लेखकों के सम्मेलन में तो मैंने इस बात की विशेष घोषणा भी की थी कि यदि हिन्दी की ही एक शाखा उर्दू भी है, जैसा मैं दोनों भाषाओं के विशेषत क्रियापदों के एक होने से मान्य

ँ, तो प्रश्न यह है कि आज जो कौड़ियों इतिहास हिन्दी भाषा और साहित्य के लिखे जा चुके हैं, और निरन्तर लिखे जा रहे हैं, उनमें उर्दू के यशस्वी कवियों—मिर्ज़ा ग़ालिब, मीर तकी, सौदा, ज़ौक, हाली, दाग़—के नाम क्यों नहीं लिए जाते ? बार-बार अपने निबन्धों में मैंने कहा है कि भाषा की दृष्टि से ग़ालिब और नज़ीर बनिस्बत सूर और तुलसी, जायसी और बिहारी के, प्रेमचन्द और प्रसाद के अधिक निकट हैं क्योंकि वे खड़ी बोली में लिखते हैं, क्योंकि सूर और बिहारी ब्रजभाषा में लिखते हैं, जायसी और तुलसी अवधी में, जनबोलियों में, जो क्रियापद भिन्न होने के कारण, शुद्ध भाषाशास्त्रीय दृष्टि से प्रेमचन्द और प्रसाद की भाषा खड़ी बोली से भिन्न हैं।

आशा करता हूँ कि हिन्दी के विद्वान् आलोचक, विशेषतः भाषा और साहित्य के इतिहासकार निबन्धगत दोनों तथ्यों पर विचार करेंगे—धर्म और दर्शन को साहित्य की परिधि से बाहर रखने के संकल्प पर, उर्दू के प्राणवान् साहित्य को अपने साहित्य की फैलती हुई परिधि के भीतर लाने के संकल्प पर।

७

हिन्दी के ऐतिहासिक नाटक

नाटक की कला प्रयोगप्रधान है। उसे कालिदास ने चाक्षुष यज्ञ 'शांत क्रतुं चाक्षुषं' कहा है। वैसे तो नाटक 'चाक्षुष' और श्रव्य दोनों हैं परन्तु कवि ने, जैसे भविष्य को देखकर, जो उसे मात्र चाक्षुष कहा है उससे उस मूक अभिनय को भी ध्वनित कर दिया है जिसका चेष्टाओं और मुद्राओं द्वारा विकास पीछे के युगों में हुआ। स्वयं कालिदास के युग में, उनसे पहले और पीछे भी, आज की ही भाँति नाटक आँखों और नेत्रों का विषय था, दोनों द्वारा ग्राह्य।

उस असाधारण कुशल नाट्यकार ने नाटकों के उद्देश्य और उनकी सिद्धि के विचार से एक विशिष्ट मत का प्रतिपादन किया और सिद्धान्ततः उसने अपने 'मालविकाग्निमित्र' में स्थापना की—नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधकम्—नाटक अधिकतर भिन्न रुचि के लोगों का अकेले साधन से रंजन करता है। दर्शकों मे कुछ की रुचि संगीत में होती है, कुछ की अभिनय में, कुछ की विशेषतः मुद्राओं और चेष्टाओं में, और अनेक बार कुछ का समाराधन केवल नृत्य करता है, कुछ का गायन, कुछ का वादन। इन पिछले तीनों का समाहार संगीत है, और संगीत का मुद्रा-चेष्टाओं द्वारा अभिनय और वस्तु से संयोग उस रंग की रंगमंच पर प्रतिष्ठा करता है जिसे ललित कलाओं में नाट्य कला या नाटक कहा गया है।

प्राचीन अलंकारशास्त्रियों ने नाटकों के अनेक भेद किये हैं जिन सबकी चर्चा यहाँ इष्ट नहीं है। हम केवल इस प्रसंग में ऐतिहासिक नाटकों की चर्चा करेंगे। हिन्दी में विशेष अध्यवसाय से ऐतिहासिक नाटक जयशंकर प्रसाद, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट, हरेकृष्ण प्रेमी, रामकुमार वर्मा और सेठ गोविंददास ने लिखे है। इन्हीं नाटकों में कुछ ऐतिहासिक एकांकी भी हैं। यहाँ इन नाटककारों की कृतियों पर विचार करना भी अभी इष्ट नहीं। हम यहाँ केवल ऐतिहासिक नाटकों के ऐतिह्य, उनके उद्देश्य, रंग के सम्बन्ध में उनकी सफलता आदि पर विचार करेंगे।

हिन्दी के अधिकतर ऐतिहासिक नाटक मात्र उपन्यास आदि की तरह पढ़े जाने की वस्तु बन गए हैं। अनेक का प्रयोजन रंगमंच को सनाथ करना है ही नहीं। कुछ में भाषा की दुरूहता आड़े आ जाती है, कुछ में रंगीय वातावरण की कमी, और कुछ में उस ऐतिहासिक यथातथ्य की अवहेलना, उनके प्रति अज्ञान या सक्रिय उदासीनता। ऐतिहासिक नाटकों के विशेष उद्देश्य दो होते हैं अतीत का या उसका पुनर्निर्माण या दोनों उन सारी प्राचीन जातियों का अवैज्ञानिक

आदेशजन्य नाटकीय अथवा साहित्यिक दृष्टिकोण रहा है जिसका अतीत तो शालीन रहा है पर सावधि जीवन हेय और दयनीय हो गया है। यह मानसिक दुर्बलता जब साहित्य के क्षेत्र में या नाटकीय रंगमंच पर उतरती है तब निश्चय अनर्थ का कारण बनती है और सत्यकी सक्रिय उपेक्षा करती है। उसमें ऐतिहासिक दृष्टि का उपयोग कम होता है मानसिक संवेदन का अधिक। जैसा था वैसा तब नाट्यकार को अभिप्रेत नहीं होता, जैसा उसे अपनी शालीनता की व्याख्या में शालीन लगता है उसीका वह निर्माण करता है। और जब इतिहास में, उसके पुनर्निर्माण में, व्यक्ति की आकुल अभिलाषा अभिचेष्टित हो उठती है, तब अतीत का पुनरुद्धार अथवा पुनर्निर्माण होने के बजाय उसका व्यभिचार होने लगता है।

हमारे अधिकतर नाटक इसी मानसिक दुर्बलता के साथ लिखे गए हैं। फिर जब इस प्रकार के नाट्यकारों को अपने मानस के अनुकूल अतीत को फिर से जाग्रत करने की चेष्टा बलवती होती है तब वे सत्य के प्रति अनुदार चेता होने के कारण द्विधा बुद्धि से अपनी कला पर भी पर्याप्त अधिकार नहीं रख पाते और उनका प्रयास बहुधा उपहासास्पद हो जाता है।

कालिदास ने इस सम्बन्ध में भी उसी नाटक 'मालविकाग्निमित्र' में एक अद्भुत कलात्मक सत्यका निर्देश किया है—शिथिलसमाधिदोष का। राजा चित्रशाला में जब 'प्रत्यग्रवर्णरागां'—गीले—मालविका के चित्र को देखता है तब उस चित्र में उसे अतिरंजन का दोष दिखता है और उस अतिव्यंजना की ओर वह आचार्यों की दृष्टि भी आकृष्ट करता है। बाद जब मालविका को वह रंगमंच पर भावचेष्टाओं से सपुष्ट अभिनय करते देखता है तब उसे लगता है कि आचार्य द्वारा प्रस्तुत मालविका के चित्र में अतिरंजना लेश भी न थी, और कभी के असाधारण रूप का चित्रण जो उसे अतिरंजित लगा था वह अब उसे वास्तविक 'माडल' देख त्रुटियों से भरा लगा, मांस-पिण्ड के सावयवीय चित्रान्वयन में कमजोर। और अब राजा ने चित्रगत अध्यवसाय को 'शिथिलसमाधि' का दोषी ठहराया। नाट्यकार ने तब उस माध्यम द्वारा उस सांकेतिक अथवा लाक्षणिक शब्द का उपयोग किया जिसका तथ्य 'शुक्रनीति' में आचार्य उशनस् ने स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि कलाकार, चाहे वह स्थपति, तक्षक, चित्रकार अथवा साहित्यकार हो, करनी, छेनी, तूलिका अथवा लेखनी उठाने के पहले समाधि में बैठे और अभिमत कार्य अथवा प्रतिपाद्यको जब वह पूर्णतः अपने भाव-नेत्रों में समाविष्ट कर ले तभी निर्माण करने, कोरने, चित्रित करने अथवा लिखने के लिए अपनी करनी, छेनी, तूलिका या लेखिनी उठाये, वरना इसके विपरीत आचरण करनेवाला कलाकार या लेखक 'शिथिलसमाधिदोष' का दोषी होगा। हमारे अधिकतर कलाकार आज इसी 'शिथिलसमाधिदोष' के दोषी हैं। अनुभूति से वे साक्षात् नहीं करना चाहते या नहीं कर पाते जिससे प्रतिपाद्य में दोष अथवा व्यभिचार उत्पन्न हो जाता है और जब यह स्थिति नित्य हमारी आँखों के सामने रहनेवाले समाज के चित्रण की है, सामाजिक नाटकों की, तब परोक्ष अतीत की को दृष्टिगोचर

न कर पाना तो और भी स्वाभाविक है। अनुभूति दोनों स्थितियों में समान उपकरण है, पर ऐतिहासिक तथ्यों के सम्बन्ध में तो सर्वथा अनिवार्य है।

क्यों? दो कारणों से, जिनकी ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है—शालीनीकरण के प्रयास में घटनाओं के सम्बन्ध में अज्ञान अथवा सक्रिय उपेक्षा। जहाँ तक अज्ञान का विषय है नाटककार संभवतः क्षम्य हो सकता है यद्यपि उससे प्रश्न स्वाभाविक है कि अनुभूति के अभाव में, शक्तिम भावावेशों के अभाव में, वह भला ऐतिहासिक नाटक लिखने का प्रयास ही क्यों करता है। इस दिशामें जो विशेष दक्ष हों, वही क्यों न सार्थक प्रयत्न करें? दूसरे वर्ग के ऐतिहासिक नाटककार जो अपने उस शालीनीकारण के प्रयास में अतीत की आत्मा को विसर्जित कर देते हैं वे प्राचीनगत यथातथ्य की सक्रिय उपेक्षा करनेवाले हैं, अक्षम्य हैं। वे उस साधारण ग्राह्य सत्य तक को तिलांजलि दे देते हैं जो मानव जाति के सभी युगोंमें जीवित रहा है—नेकी और बदी, भलाई और बुराई, पुण्य और पाप, राम और रावण। अन्य जातियों के अतीत की ही भाँति अपने देश के अतीत में भी राम और रावण दोनों का योग रहा है और राजस तामस का सात्त्विक से सम्पर्क होकर गुणों की वह साम्यावस्था से भिन्न आचार की अभिसृष्टि हुई है। प्राचीनों ने इस तथ्य को सदा अपने सामने रखा था और पुण्य की महिमा उन्होंने पापको महदाकार करके ही, उसे पुण्य द्वारा विजित करके ही, स्थापित की है। चाहे राम के विपक्ष में रावण हो चाहे वासुदेव कृष्ण के विपक्ष में कंस, चाहे स्कंद के विपक्ष में तारक, चाहे पाण्डवों के विपक्ष में कौरव, रावणों, कंसों, तारकों, कौरवों की सत्ता सत् के विरोध में रही बराबर है। यह केवल हमारे आज के अधिकतर, मात्र हिन्दी के ऐतिहासिक नाट्यकार हैं जो 'थोन-क्वीहोथ' (डॉन क्विक्ज़ोट) की भाँति अलक्ष देवों के विरुद्ध एकतरफ़ी तलवार भाँजा करते हैं। उनके 'चंद्रगुप्त'-'स्कंदगुप्त' सर्वथा हेमनिर्मित हैं, कुधातुओं से सर्वथा भिन्न। ये ऐतिहासिक नाटककार यह भूल जाते हैं कि उन्हीं चंद्रगुप्त-स्कंदगुप्तों के गौरवान्वित कालमें विशेषतः उन अछूतों के असंख्य वर्ग बने जिनका सविस्तर उल्लेख हमारी स्मृतियों में मिलता है और जिनका अत्यन्त करुण निर्देश समकालीन चीनी यात्री फ़ाह्यान ने किया है—कि किस प्रकार निर्वर्ण अस्पृश्य बस्तियों से बाहर, अधिकतर श्मशान भूमि में, रहते थे और जब कभी भी वे नगरों को जाते अपने हाथ की लकड़ियों को परस्पर बजाते जाते जिससे सवर्ण अलग हटते जायँ, कहीं उनके स्पर्श से दूषित न हो जायँ।

श्रेय और प्रेय के बावजूद एक सत्य की भी व्यवस्था होती है जो इनको अनिवार्यतः उसका विशेषण सम्मत कर देती है। श्रेय-सत्य और प्रेय-सत्य अधिक उचित संकेत होंगे और श्रेय अथवा प्रेय सत्य का भावांकन निःसंदेह अश्रेय सत्य और अप्रेय सत्य के विरोध में होगा। अतीत को गौरवान्वित करने का प्रयत्न कुछ ऐतिहासिक नाटककारों में एक और प्रकार के दुर्बल विन्यास का आश्रय लेने की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है—वह है उस कृत्रिम का घटाटोप उत्पन्न करना जिसका प्रधान स्वरूप भाषा है उस प्राचीन काल का मूर्तन अथवा निरावरण वे भाषा में प्राचीनता का

आभास उत्पन्न कर करना चाहते है। और भाषा परिणामतः वह बन जाती है जो न तब थी न आज है, सर्वथा कृत्रिम है। ऐतिहासिक नाटकों की वह भाषा ऐसी ज़बान है जो न तो नाटककार स्वयं बोलता है, न किसी अन्य को बोलते सुनता है। फिर भी वह अद्भुत का सृजन के लिए शायद उसी भाषा का उपयोग करता है। इस दोष से प्रस्तुत लेखक स्वयं बरी नहीं क्योंकि उसने भी अपने प्राचीन युगों सम्बन्धी कहानी-सग्रहों—'सवेरा', 'संघर्ष', 'गर्जन'—में उसी कृत्रिम भाषा का प्रयोग किया है जिसमें यदि विभक्तियाँ और क्रिया-पद जोड़ दिए जायँ तो वह सर्वथा सस्कृत हो जाय। भाग्यवश वे संग्रह एकांकी व नाटक न थे जिससे वह भाषा, चाक्षुष और श्रव्य की परिधिके बाहर होने से, उतना हानि अथवा रसभंग नहीं कर पाती। पर जिस माध्यम पर कि नाटक की सफलता प्रायः सभी प्रकार से निर्भर करती है, जिस माध्यम द्वारा वह साधारणीकरण सभव है जिसमे दर्शक एकीभूत होकर कालिदास का वह दर्शन चरिचार्थ कर सकते है जिसका उल्लेख हमने ऊपर किया है—नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधकम्।

हमारे ऐतिहासिक नाटक जो अधिकतर सही-सही खेले नहीं जा पाते उसका प्रधान कारण यही भाषा की दुरूहता है जो भावों के जीवित संप्रेक्षण में उतना ही अक्षम है जितना उसकी दर्शकों द्वारा ग्राह्यता असम्यक्। मूक अभिनय मे भाषा का प्रश्न नहीं उठता क्योंकि उससे भाव-बोध मुद्राओं और चेष्टाओं से होता है, पर चाक्षुष और श्रव्य नाटक, जिसका प्रधान वाहन उच्चरित शब्द है, सार्थक ध्वनित भाषा, उसकी सफलता तो उसी मात्रा में संभाव्य है जिस भाषा में वह भाषा दर्शकों द्वारा समझी जा सकती है। इस सम्बन्ध में एक बड़े महत्त्व की बात यह है कि हमारे प्राचीन पूर्वात्य पूर्वजों और अर्वाचीन पाश्चात्यों के मत सर्वथा समान है। दोनों प्राचीन कथानकों को अपने नाटकों के विषय बनाते हुए भी कभी अपनी समकालीन भाषा मे प्राचीन का संकर कर पूर्वगामी वातावरण का आभास उत्पन्न नही करते। वह आभास बडी सफलता से वे प्राचीनकालीन वातावरण, वेश-भूषा, पात्रादि के संयोग से उत्पन्न करते हैं। इस भाषा सम्बन्धी तथ्य पर पूर्वात्य प्राचीनों और पाश्चात्य अर्वाचीनों का मतैक्य स्पष्ट करने के लिए एक महत्त्व के उदाहरण की ओर यहाँ संकेत कर देना समीचीन होगा। भास, अश्वघोष, शूद्रक, कालिदास, भवभूति, विशाखदत्त, भट्टनारायण आदि सभी नाट्यकारों ने अति प्राचीन इतिहास-पुराणों से ही अपने कथानक लिए हैं पर सदा उनकी भाषा समकालीन ही रही है, क्लासिक ही, कभी वेदों, ब्राह्मणों या आरण्यकों की नहीं प्रयुक्त हुई। यह निश्चय, भाषा की दृष्टि से, अह बात है। यूरोपीय साहित्यों में भी इसी प्रकारका आचरण हुआ है। रोमन सैनिक और कामुक अन्तोनी और मिस्र की विलासिनी रानी क्लियोपात्रा के रोमांचक विलास के कथानक का चित्रण तीन-तीन अंग्रेज कवियों ने दूर-दूर के युगों में किया है—शेक्सपियर ने 'ऐंटनी ऐण्ड क्लियोपैट्रा' में ड्राइडन ने 'ऑल फार लव' में और बर्नार्ड शा ने ऐंटनी ऐण्ड क्लियोपैट्रा' में पर तीनों की भाषा अपने-अपने जमाने की है

न कर पाना तो और भी स्वाभाविक है। अनुभूति दोनों स्थितियों में समान उपकरण है, पर ऐतिहासिक तथ्यों के सम्बन्ध में तो सर्वथा अनिवार्य है।

क्यों ? दो कारणों से, जिनकी ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है—शालीनीकरण के प्रयास में घटनाओं के सम्बन्ध में अज्ञान अथवा सक्रिय उपेक्षा। जहाँ तक अज्ञान का विषय है नाटककार संभवतः क्षम्य हो सकता है यद्यपि उससे प्रश्न स्वाभाविक है कि अनुभूति के अभाव में, शक्तिम भावावेगों के अभाव में, वह भला ऐतिहासिक नाटक लिखने का प्रयास ही क्यों करता है। इस दिशामें जो विशेष दक्ष हों, वही क्यो न सार्थक प्रयत्न करें ? दूसरे वर्ग के ऐतिहासिक नाटककार जो अपने उस शालीनीकारण के प्रयास में अतीत की आत्मा को विसर्जित कर देते हैं वे प्राचीनगत यथातथ्य की सक्रिय उपेक्षा करनेवाले हैं, अक्षम्य हैं। वे उस साधारण ग्राह्य सत्य तक को तिलाजलि दे देते हैं जो मानव जाति के सभी युगोंमें जीवित रहा है—नेकी और बदी, भलाई और बुराई, पुण्य और पाप, राम और रावण। अन्य जातियों के अतीत की ही भाँति अपने देश के अतीत में भी राम और रावण दोनों का योग रहा है और राजस तामस का सात्त्विक से सम्पर्क होकर गुणों की वह साम्यावस्था से भिन्न आचार की अभिसृष्टि हुई है। प्राचीनों ने इस तथ्य को सदा अपने सामने रखा था और पुण्य की महिमा उन्होंने पापको महदाकार करके ही, उसे पुण्य द्वारा विजित करके ही, स्थापित की है। चाहे राम के विपक्ष में रावण हो चाहे वासुदेव कृष्ण के विपक्ष में कंस, चाहे स्कंद के विपक्ष में तारक, चाहे पाण्डवों के विपक्ष में कौरव, रावणों, कंसों, तारकों, कौरवों की सत्ता सत् के विरोध में रही बराबर है। यह केवल हमारे आज के अधिकतर, मात्र हिन्दी के ऐतिहासिक नाट्यकार हैं जो 'थोन-क्वीहोथ' (डॉन क्विक्जोट) की भाँति अलक्ष देवों के विरुद्ध एकतरफ़ी तलवार भाँजा करते हैं। उनके 'चंद्रगुप्त'-'स्कंदगुप्त' सर्वथा हेमनिर्मित हैं, कुधातुओं से सर्वथा भिन्न। ये ऐतिहासिक नाटककार यह भूल जाते हैं कि उन्हीं चंद्रगुप्त-स्कंदगुप्तों के गौरवान्वित कालमें विशेषतः उन अछूतों के असंख्य वर्ग बने जिनका सविस्तर उल्लेख हमारी स्मृतियों में मिलता है और जिनका अत्यन्त करुण निर्देश समकालीन चीनी यात्री फ़ाह्यान ने किया है—कि किस प्रकार निर्वर्ण अस्पृश्य बस्तियों से बाहर, अधिकतर श्मशान भूमि में, रहते थे और जब कभी भी वे नगरों को जाते अपने हाथ की लकड़ियों को परस्पर बजाते जाते जिससे सवर्ण अलग हटते जायँ, कहीं उनके स्पर्श से दूषित न हो जायँ।

श्रेय और प्रेय के बावजूद एक सत्य की भी व्यवस्था होती है जो इनको अनिवार्यतः उसका विशेषण सम्मत कर देती है। श्रेय-सत्य और प्रेय-सत्य अधिक उचित संकेत होंगे और श्रेय अथवा प्रेय सत्य का भावांकन निःसंदेह अश्रेय सत्य और अप्रेय सत्य के विरोध में होगा। अतीत को गौरवान्वित करने का प्रयत्न कुछ ऐतिहासिक नाटककारों में एक और प्रकार के दुर्बल विन्यास का आश्रय लेने की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है—वह है उस कृत्रिम   का घटाटोप उत्पन्न करना जिसका प्रधान स्वरूप भाषा है उस प्राचीन काल का मूर्तन अथवा निरावरण वे भाषा में प्राचीनता का

आभास उत्पन्न कर करना चाहते हैं। और भाषा परिणामतः वह बन जाती है जो न तब थी न आज है, सर्वथा कृत्रिम है। ऐतिहासिक नाटकों की वह भाषा ऐसी ज़बान है जो न तो नाटककार स्वयं बोलता है, न किसी अन्य को बोलते सुनता है। फिर भी वह अद्भुत का सृजन के लिए शायद उसी भाषा का उपयोग करता है। इस दोष से प्रस्तुत लेखक स्वयं बरी नहीं क्योंकि उसने भी अपने प्राचीन युगों सम्बन्धी कहानी-संग्रहों—'सवेरा', 'संघर्ष', 'गर्जन'—में उसी कृत्रिम भाषा का प्रयोग किया है जिसमें यदि विभक्तियाँ और क्रिया-पद जोड़ दिए जावें तो वह सर्वथा संस्कृत हो जाय। भाग्यवश वे संग्रह एकांकी व नाटक न थे जिससे वह भाषा, चाक्षुष और श्रव्य की परिधिके बाहर होने से, उतना हानि अथवा रसभंग नहीं कर पाती। पर जिस माध्यम पर कि नाटक की सफलता प्रायः सभी प्रकार से निर्भर करती है, जिस माध्यम द्वारा वह साधारणीकरण संभव है जिसमें दर्शक एकीभूत होकर कालिदास का वह दर्शन चरितार्थ कर सकते हैं जिसका उल्लेख हमने ऊपर किया है—नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधकम्।

हमारे ऐतिहासिक नाटक जो अधिकतर सही-सही खेले नहीं जा पाते उसका प्रधान कारण यही भाषा की दुरूहता है जो भावों के जीवित संप्रेक्षण में उतना ही अक्षम है जितना उसकी दर्शकों द्वारा ग्राह्यता असम्यक्। मूक अभिनय में भाषा का प्रश्न नहीं उठता क्योंकि उससे भाव-बोध मुद्राओं और चेष्टाओं से होता है, पर चाक्षुष और श्रव्य नाटक, जिसका प्रधान वाहन उच्चरित शब्द है, सार्थक ध्वनित भाषा, उसकी सफलता तो उसी मात्रा में संभाव्य है जिस भाषा में वह भाषा दर्शकों द्वारा समझी जा सकती है। इस सम्बन्ध में एक बड़े महत्त्व की बात यह है कि हमारे प्राचीन पूर्वात्य पूर्वजों और अर्वाचीन पाश्चात्यों के मत सर्वथा समान हैं। दोनों प्राचीन कथानकों को अपने नाटकों के विषय बनाते हुए भी कभी अपनी समकालीन भाषा मे प्राचीन का संकर कर पूर्वगामी वातावरण का आभास उत्पन्न नहीं करते। वह आभास बड़ी सफलता से वे प्राचीनकालीन वातावरण, वेश-भूषा, पात्रादि के संयोग से उत्पन्न करते हैं। इस भाषा सम्बन्धी तथ्य पर पूर्वात्य प्राचीनों और पाश्चात्य अर्वाचीनों का मतैक्य स्पष्ट करने के लिए एक महत्त्व के उदाहरण की ओर यहाँ संकेत कर देना समीचीन होगा। भास, अश्वघोष, शूद्रक, कालिदास, भवभूति, विशाखदत्त, भट्टनारायण आदि सभी नाट्यकारों ने अति प्राचीन इतिहास-पुराणों से ही अपने कथानक लिए हैं पर सदा उनकी भाषा समकालीन ही रही है, क्लासिक ही, कभी वेदों, ब्राह्मणों या आरण्यकों की नहीं प्रयुक्त हुई। यह निश्चय, भाषा की दृष्टि से, अह बात है। यूरोपीय साहित्यों में भी इसी प्रकारका आचरण हुआ है। रोमन सैनिक और कामुक अन्तोनी और मिस्र की विलासिनी रानी क्लियोपात्रा के रोमांचक विलास के कथानक का चित्रण तीन-तीन अंग्रेज कवियों ने दूर-दूर के युगों में किया है—शेक्सपियर ने 'ऐंटनी ऐण्ड क्लियोपैट्रा' में, ड्राइडन ने 'ऑल फ़ार लव' में और बर्नार्ड शा ने ऐंटनी ऐण्ड क्लियोपैट्रा' में पर तीनों की भाषा अपने-अपने ज़माने की है,

उन्होंने उसमें, अति प्राचीनों को तो छोड़िये, चासर, बीड और कैडमन तक की भाषा उधार न ली।

इसीसे हिन्दी के अधिकतर ऐतिहासिक नाटक ऐसे हैं जिनका न सही निर्देशन हो पाता है और न जिनका कोई तथ्य दर्शकों के ही पल्ले पड़ता है। वे आंशिक रूप से सम्भवतः कुछ लोगों के एकान्त पठन की सामग्री मात्र बनकर रह जाते हैं, यद्यपि उस कार्य को वस्तुतः सम्पन्न करने के लिए काव्य, उपन्यास आदि साहित्य के अनेक अंग संगठित हैं ही। नाटक की अभिनेयता यदि संदिग्ध हो गई और उसका सम्प्रेषण सम्भव न हो सका, वह अगर रंगमंच पर खेला न जा सका तो उसकी सत्ता ही नष्ट हो गई और साहित्य के उस अंग की प्रतिष्ठा न हुई जो 'चाक्षुष' और 'श्रव्य' है, जो प्रयोग-प्रधान है, भिन्न रुचिवाले जनों का एकत्र 'समाराधक' है। परिणाम यह होता है कि इन कृत्रिम भाषा द्वारा कृत्रिम वातावरण के नाटकों को जहाँ रंग को समझने और उसके अभिनय का आनन्द लेनेवाले तज देते हैं वहाँ उनकी रक्षा मात्र विश्वविद्यालयों के वे आचार्य करते हैं जिनको न आधुनिक रंग का कोई ज्ञान है न नाटकगत प्राचीन ऐतिह्य का। वस्तुतः यदि ये ऐतिहासिक नाटक विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम से हटा दिये जायँ तो इनके नाटककारों का कोई नामलेवा भी न रहे, उनकी शुग्गी द्वारा संभाली अमरता सर्वथा मिट जाय, उनकी साहित्य जगत् में मृत्यु ही हो जाय, और निश्चय वह मृत्यु सकाल कहलाये, अकाल नहीं।

८

साहित्य और आन्दोलन

साहित्य का आन्दोलन से क्या सम्बन्ध है ? यह प्रश्न आज खासी अहमियत रखता है। यों भी यह एक मुनासिब सवाल है, उस पर आज के जमाने में जिस तरह आन्दोलन का महत्त्व बढ़ गया है, उसे देखते हुए यह प्रश्न और भी महत्त्वपूर्ण बन गया है।

मजे की बात तो यह है कि जो यह प्रश्न उठा रहे हैं, वे इस बात को स्वयं भूल जाते हैं कि वस्तुतः उनकी आवाज अनेक आवाजों की गूँज है और इस साहित्यिक प्रश्न ने स्वयं आन्दोलन का स्थान प्राप्त कर लिया है, यद्यपि उनका यह सवाल या उनकी आलोचना प्रगतिशीलों के विरुद्ध है, जिन्हें वे 'रेजिमेन्टेशन' का कायल कहते हैं।

यहाँ मुझे यह बताना इष्ट नहीं कि किस प्रकार 'रेजिमेन्टेशन' (मैं न इस शब्द के प्रयोग के औचित्य को स्वीकार करता हूँ, न इसके पीछे की भावना को; इसका प्रयोग मैं केवल इसीलिए कर रहा हूँ कि यही दोषारोपण का सांकेतिक स्वर बन गया है) किसी-न-किसी रूप में, किसी-न-किसी मात्रा में सर्वत्र रहा है। भारत में किस मात्रा से यह क्लासिकल संस्कृत में बरता गया है, यहाँ उसकी चर्चा अभीष्ट नहीं। मैं यहाँ विदेशी साहित्य को, सारे विश्व-साहित्य को लेना चाहूँगा, यद्यपि छोटे निबन्ध में संसार के सभी साहित्यों का शायद संकेत मात्र किया जा सकता है और मैं भी संकेत मात्र ही करके सन्तुष्ट हो जाऊँगा।

पूर्वात्य साहित्य— अरबी, फ़ारसी, यहूदी, चीनी आदि—की भी मैं यहाँ चर्चा नहीं करूँगा, क्योंकि उनका रूप-विकास बहुत कुछ एक-सा भारतीय साहित्य की ही भाँति हुआ है। अलंकार (रेटोरिक, जिस पर इन सारी पूर्वी भाषाओं में हजारों ग्रन्थ लिखे गए हैं) उन सभी का विशिष्ट विषय है जो आठवीं सदी (वस्तुतः और पहले) से सोलहवीं सदी (या बाद) तक लगातार निरूपित होता आया है। और इस क्षेत्र का साहित्य केवल पूर्वात्य भाषाओं तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि पाश्चात्य साहित्यों में भी निरूपित हुआ। महत्त्व की बात तो यह है कि पूर्वी और पश्चिमी सभी साहित्यों का यह अलंकार-शास्त्रीय-काल एक ही है। एक ही काल-प्रसार में आलोचना के इस रहस्य की छानबीन या सिद्धान्त निरूपित हुआ है, प्रशान्त सागरवर्ती साहित्यों से अ[illegible] साहित्यों तक।

न केवल अलंकार निरूपण एक ही स्वरनिष्ठा और रूप में सम्पन्न हुआ है,

वरन् साहित्य के एक दूसरे प्रकरण—इतिहास—का भी सारे विश्व में हजारों की ग्रन्थ-संख्या में विविध भाषाओं और देशों में एक ही काल में विकास हुआ है। इस कथन का तात्पर्य क्या है या इसकी शक्ति क्या है, यह आगे के पृष्ठों में अपने आप खुल जाएगा। यहाँ हम केवल उस पृष्ठभूमि की ओर संकेत कर रहे हैं जो, युगों की सन्धि पर, बदलते जमाने के सिरों पर अभिव्यक्त हुई है और जिस पीठिका से, एकस्थ स्वर-साधना से, दलों की संयुक्त सचेत मोर्चाबन्दी से आन्दोलन उठे हैं, जिनसे साहित्य-शृंखला की अगली कड़ी प्रस्तुत हुई है या जिस साहित्य के समवेत स्वर से, साहित्य के आन्दोलनों से (जो सर्वदा सर्वथा दलगत रहे हैं) सांस्कृतिक, राजनीतिक आन्दोलन और तज्जनित सामाजिक परिवर्तन हुए हैं। मैं यहाँ उन्हीं साहित्यगत, कलागत, धार्मिक, साहित्यिक, भाषातात्त्विक, सामाजिक, राजनीतिक आन्दोलनों का ज़िक्र करूँगा, और वह भी स्थानाभाव से संक्षेप में संकेत मात्र। यहाँ मैं अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन और इटालियन, केवल चार साहित्यों पर विचार करूँगा।

एक बात यहाँ और कह देनी आवश्यक प्रतीत होती है। वह यह कि इन प्रेरणाओं, परम्पराओं, आन्दोलनों, दलगत अभियोगों-प्रत्यभियोगों की सार्वभौमता समान और सहज रही है। एक ही समय एक आन्दोलन साहित्य में प्रत्येक भाषा मे एक ही नाम से चला है। यह तो उसकी देशातीत स्थिति है, साथ ही उसकी लाक्षणिक संज्ञा साहित्य से बाहर कला में भी समानार्थ समान परिधि में व्यवहृत हुई है। एक ही पारिभाषिक शब्दों, एक ही प्रतीकों का साहित्य और कला दोनों ने प्रयोग किया है। यानी कि 'रोमैनस्क', 'अराबेस्क', 'गोथिक', 'बरोक,' 'क्लासिकल', 'प्री-रफ़ाइलाइट', 'रेनेसाँ', 'रोमैन्टिक', 'नैचुरलिस्टिक', 'इम्प्रेशनिस्टिक', 'पोस्टइम्प्रेशनिस्टिक', 'ईस्थेटिक', 'एक्सप्रेशनिस्टिक', 'क्यूबिस्टिक', 'इमेजिस्टिक', 'सोशल रियलिस्टिक' आदि आन्दोलन समान रूप में समान अर्थ और प्रेरणा में साहित्य और कला दोनों में चले हैं : दोनों को उन्होंने समान रूप से गति और काया दी है, प्रगति दी है। यानी कि यदि ये आन्दोलन के रूप में, दलगत प्रयास के रूप में, साहित्य और कला के क्षेत्र में न चल पाते तो साहित्य और कला की जो प्रगति हम आज उसकी मंजिलो के माध्यम से देखते हैं, हरगिज़ न हो पाती। इसलिए, चूँकि यहाँ स्थान और समय के अभाव में केवल साहित्य का क्षेत्र ही इस चर्चा का विषय बना रहा हूँ, इसी में कला का क्षेत्र भी समाहित समझना चाहिए।

अस्तु, साहित्य में इन आन्दोलनों का रूप इस प्रकार रहा है। पहले अंग्रेजी को लीजिए। सबसे पहली जानी हुई साहित्यिक द्वन्द्वात्मक स्थिति अंग्रेजी-साहित्य में सैक्सनों और नार्मनों में लक्षित होती है। विलियम दि कांकरर ने इंग्लैंड की विजय १०६६ में की थी और उससे देश में, विजितों और विजेताओं के बीच, जिस संघर्ष, घृणा और दलगत प्रहार का सूत्रपात्र हुआ, वह राजनीति और साहित्य दोनों में समान रूप, समान प्रखरता से सदियों चला रिचर्ड दि लायन हार्टेड के शासन-काल तक तो यह संघर्ष स्पष्टरूप से मिलता है उसका प्रवाह, कुछ अनब नहीं, अभी और चलता,

यदि रेनेसां (१५००-१७००) की धारा ने उसे कमजोर न कर दिया होता। जिस प्रकार भारतीय इतिहास में राजनीतिक (असहयोग) आन्दोलन ने आर्यसमाज की प्रखर, उदात्त, निर्भीक धारा को अपनी प्रखरतर, उदात्ततर, निर्भीकतर आज़ादी की धारा में समाहित कर लिया, उसी प्रकार रेनेसां के सार्वभौम यूरोपीय आन्दोलन ने अंग्रेज़ी समाज और साहित्य के पुराने सेक्सन-नार्मन संघर्ष को स्वायत्त कर लिया।

अगला आन्दोलन रेनेसां का था, जिसमें अनेकों की जानें गईं, अनेकों को मरणान्तक संघर्ष करना पड़ा। अंग्रेजी साहित्य में इस आन्दोलन के अग्रणी जान कालेट, इरेस्मस, मूर, वाट और सरे थे। यह आन्दोलन साहित्य में भी उतना ही महत्त्वपूर्ण था जितना कला में। उसी प्रकार रिफ़ार्मेशन आन्दोलन की परिधि भी बड़ी थी।

सत्रहवीं सदी में अंग्रेजी साहित्य में स्पेन्सेरियन्स, मेटाफ़िज़िकल (अध्यात्मवादी) कवियों और कैवेलियरों का बोलबाला हुआ। राजनीतिक क्रान्ति उनकी पृष्ठभूमि थी। जितना साहित्य, शुद्ध ललित और राजनीतिक दोनों, इस काल में रचा गया, वह इसी सामाजिक दृष्टिकोण से रचा गया। आज़ादी (विशेषकर प्रेस की आज़ादी) पर लिखनेवालों की तो बाढ़-सी आ गई। प्रसिद्ध अंग्रेज़ कवि मिल्टन उस आन्दोलन का अगुआ था। सारा प्यूरिटन साहित्य और सामाजिक आन्दोलन—खेलघरों, रंगमंचों आदि का बन्द हो जाना—'प्यूरिटन' आन्दोलन का प्रभाव था। साहित्य के अतिरिक्त कला ने उस पर और उसने कला पर क्या प्रभाव डाला, यह बताना आवश्यक है। होगार्थ के स्टेन्सिल चित्र इसके प्रबल प्रमाण हैं। सदी के अन्त में न्यो-क्लासिज़्म किस प्रकार साहित्य और कला दोनों में उभर कर आया, यह भी इतिहास की सर्वज्ञात घटना है।

अट्ठारहवीं सदी ने क्लासिकल प्रवृत्ति (क्लासिसिज़्म) का मूर्धाभिषेक और अवसान दोनों देखा। रोमैंटिक परम्परा का आन्दोलन के रूप में उदय और विकास भी तभी हुआ। 'गोथिक रोमान्स' की परम्परा साहित्य और कला दोनों में लम्बे डग भरने लगी। 'मध्यकालीनता' में साहित्यकारों-कलावन्तों की विशेष रुची जगी। रोमैंटिक साहित्य का विशेष प्रस्फुटन १७९८ और १८२२ के बीच हुआ। रस्किन ने साहित्य के ज़रिए कला को समाज में पहुँचाने और मुखरित करनेका बीड़ा उठाया। उन दिनों पहली बार जनता के सामाजिक और आर्थिक जीवन में कलाके प्रयोजनकी बात कही गई, उस पर ज़ोर दिया गया और उस दिशा में जो प्रयास हुए वे शुद्ध साहित्य के अंग बन गए। रस्किन की कृतियाँ उसी प्रकार का साहित्य है, जो प्रमुखतः आन्दोलन है, पर साथ ही अंग्रेज़ी गद्य की एक मंज़िल भी।

'प्री-रफ़ेलाइट्स' रस्किन से भी उस दिशा में आगे बढ़ गए। उन्होंने उस क्षेत्र में रस की विशेष व्यंजना की। सौन्दर्य और उसे रूप देनेवाली कलाओं को उन्होंने एक नए जीवन की एकमात्र आशा के रूप में देखा पहचाना। होलमन हन्ट, मिले और रोसेटी तीनों जैसे साहित्यकार थे, वैसे ही कलाकार भी थे। तीनों ने ही रफ़ेल से पूर्ववर्ती चित्रकारों के तेल रंगों से अपने अभिप्राय (आदर्श, मोटिफ़) चुने और उस दिशा में एक ख़ासा आन्दोलन ही चल पड़ा   संसार अपने नए लिबास

मे साहित्य और कला मे उतरा—प्रतीकवाद और रहस्यवाद अथवा रहस्यमय प्रतीकता, निरावृत कामुकता (कायिक राग), चित्रमय शब्द के प्रति रसमय भावना, नए आन्दोलन, प्रवृत्ति या परम्परा की एक साथ प्रेरणा और उपलब्धि बन कर आए।

अगला कदम 'कान्टिनेन्टल' प्रभावके अनुकूल उठा। ज़ोला, दास्तोएव्स्की, नीत्शे और फ्रायड ने अपनी-अपनी भाव-परम्परा से, अपनी-अपनी सामाजिकता से अंग्रेजी साहित्य को प्रेरणा दी। ज़ोला, और बाल्ज़ाक ने घिनौनी से घिनौनी सामाजिक परिस्थितियों को नंगी करके यथार्थकी काया सिरजी, यथार्थ जिसने अनेक प्रकार से लोगों को अपनी स्थिति से क्षुब्ध हो जाने को विवश किया। पुश्किन, दास्तोएव्स्की आदि तो एक नया ही संसार लिए आए। पहला पानी पड़ते ही नई भूमि की सोंधी सुरभि लिए, सहज, अकृत्रिम मानवता की ताज़गी लिए और तालस्तोइ और गोर्की की प्रेरणा में तो नई इन्सानियत का सन्देह मुखर था। उसने सर्वत्र नए आन्दोलन का श्रीगणेश किया।

पर इनसे भी पहले फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति का गहरा और व्यापक प्रभाव अंग्रेजी साहित्य और कला पर पड़ा। शेली, कीट्स, वर्ड्स्वर्थ, बायरन किसी-न-किसी अंशमें उसके लाल रंग में रँग गए। और स्वयं वह राजनीतिक क्रान्ति—सफल आन्दोलन—उस भावान्दोलन, शब्दान्दोलन, साहित्यान्दोलन का परिणाम थी, रूसो, दिदरो, वोल्तेयर, होल्बाख, हेल्वेशियस आदि जिसके जनक थे। ग्रीक स्वतन्त्रता ने यूरोप के किस-किस देश के कवियों को प्रेरणा दी यह आम जानी हुई बात है। उसीसे प्रेरणा पाकर उसी को और अपने साहित्य को बायरन ने कितना बल दिया, यह किसी से छिपा नहीं। उसका विस्तार पोलैंड तक व्याप गया, पोलैंड तक, जो रूसी ज़ारशाही से सघर्ष कर रहा था।

नीत्शे और फ्रायड का सोशालोजी, साइकालोजी, साहित्य और कला, जीवन और जातिवाद पर, बीसवीं सदी के अंग्रेजी साहित्य पर विशेषतः क्या प्रभाव पड़ा, यह भी आज साधारण ज्ञान की बात है। यहाँ इतना कह देना काफ़ी होगा कि दोनों ने साहित्य और कला में पहले के जीवन और जाति के क्षेत्र में विशेष, जो दूरगामी परिवर्तन किये वे उनके दृष्टिकोणों से प्रेरित आन्दोलनों का परिणाम था।

बीसवीं सदी के अंग्रेजी साहित्य के विकास मे एक मंज़िल 'इमेजिज़्म' की आई जिसने रूप और शैली (फ़ार्म और टेकनीक) पर ज़ोर दिया। फिर प्रयोगवाद, प्रकृतिवाद (यथार्थवाद), व्यक्तिवाद, परम्परा के विरुद्ध एक प्रकार की सामाजिक अनास्था, अश्रद्धा, प्रकट हुए। इन सब ने विशेषकर पिछली दोनों प्रवृत्तियों ने उल्लास के साथ चुनोती के स्वर में अपना नवागमन घोषित किया। डिज़ाइन के प्रति लोगों का प्राक्-रफ़ेलाइट मोह, वाइल्ड का रसवाद, पेटर की लाक्षणिक शब्दावली में, 'पार्नेसियन इम्प्रेशनिज़्म', सबके सब न्यूनाधिक मात्रा में आन्दोलनों के रूप-प्राण बनकर आये और एक अरसे तक, चाहे वह अरसा कितना ही थोड़ा क्यों न हो, साहित्य के क्षेत्र में कायम रहे

युद्धकाल ने तो साहित्य और कला में आन्दोलनों, दलगत साहित्य-कृतियों की भरमार कर दी। १९१४ के युद्ध ने जो साहित्य पर पहला पंजा मारा, उसको पहला 'शाक' दिया तो उन कवियों की एक खासी क़तार ही उठ खड़ी हुई जिन्हें 'युद्ध-कवि' (वार पोएट्स्) कहते हैं। इन्हें 'जार्जियन्स्' भी कहते हैं पर केवल इसलिए नहीं कि ये किंग जार्जके समकालीन थे। 'पैट्रीयटल' (देशवादी) काव्य-रचना सहसा राष्ट्रवादी बन गई; एक साथ युद्ध का यह असर हुआ। अपने यहाँ के कवियों की भाँति नहीं कि इतने संहारक युद्ध हो गये, गांधी का इतना प्रखर और व्यापक राष्ट्रीय आन्दोलन हो गया, अनेक इनमें भाग लेनेवाले कवि और साहित्यकार जेल तक गये, पर जो लौटे तो लिखा कुछ और। रूपर्ट ब्रूक चाहे जिस स्थान का रहा हो, आशा और साहस के प्राण कविता में फूँक चला। सैनिक कवियों (सोल्जर पोएट्स्) का ही एक समुदाय अंग्रेजी साहित्य में उठ खड़ा हुआ। सीगफ्रिड ससून ने उसी परम्परा में अपनी व्यग्य-कविताएँ लिखीं।

हाँ, इसकी भी प्रतिक्रिया एक दिशा में हुई—बुद्धिवादियों में जो स्वयं समुदाय के रूप में, यथार्थवादी संज्ञा से विभूषित, साहित्य क्षेत्र मे उतरे, उन्होंने पदार्थवादी (लोकवादी, मेटीरियलिस्ट) कवियों का दलगत विरोध किया। सिट्वेल, ईलियट इसी परम्परा के हैं। और तब कल की आशा के रूप में पार्टिजन आए—लेविस, आडेन, स्पेण्डर।

इस बीच के अंग्रेजी साहित्य का इतिहास तो क़दम-क़दम पर द्वन्द्वात्मक हो जाता है। एक दल दूसरे के विरोध में खड़ा होता है। दूसरा तीसरे के, तीसरा चौथे के। 'आयरिश मूवमेन्ट' का आन्दोलन साहित्य में अपना स्थान बना लेता है। येट्स् उसका नेतृत्व करता है। मेजफ़ील्ड 'रियलिस्टों' की क़तार के सिरे पर खड़ा होता है, डेविस और मुन्रो 'जार्जियन रिवाइवलिज़्म' का राग अलापते हैं, ड्रिंक्वाटर 'विक्टोरियनिज़्म' के ख़िलाफ़ बग़ावत कर उठता है जिसमें वह अकेला नहीं है। 'इमेजिस्ट' आन्दोलन की बागडोर आल्डिंग्टन सम्हालता है, अध्यात्मवादियों की ईलियट। शा, बारी, लार्ड डुन्सानी और गाल्जवर्दी सामाजिक प्रश्नों को हल करने का ज़रिया साहित्य को बनाते हैं। दल के दल साहित्यकार अपनी प्रेरणाएँ, अपनी समस्याएँ, उनके अपने हल के लिए साहित्याराधन करते हैं। और हमारे रसहीन, क्रियाहीन साहित्यकार जब तक देव-विहारी का चर्वित-चर्वण न करेंगे, संकेतस्थान के क्लीव स्वप्न न देखेंगे, तब तक उनकी भारती ही मुखर न होगी।

फ्रेंच रेनेसा तो यूरोपव्यापी आन्दोलन था ही पर उसके लिए और उसके बीच अनन्त धर्मेतर साहित्य का सृजन हुआ, जिसने स्वयं उस आन्दोलन को शक्ति और मर्यादा दी।

रेनेसां के बाद फिर एक प्रशस्त यूरोपीय साहित्यिक आन्दोलन की रणभेरी बजी जिसके सम्वाहक इंग्लैंड में यंग, फ्रांस में रूसो और जर्मनी में गेटे थे ये अधिकतर राजनीतिक प्रेरणाओं के भी और संचालक थे रूसो तो राजनीति के क्षेत्र

में इतना महत्त्व पा चुका है कि साधारणतः उसे लोग केवल राजनीति का पण्डित मानते हैं। उसका वह विशिष्ट उदाहरण है जिसने साहित्य को राजनिति से और राजनीति को साहित्य से प्रेरित और प्रभावित किया है। हाँ, गेटे की क्रियाशीलता में लोगों को निश्चय ही भ्रम है। कम लोग जानते होंगे कि गेटे का सारा जीवन उसके साहित्यिक सृजन के साथ-साथ जर्मनी, विशेष कर वाइमार की राजनीति से बँधा था और कि उसने अस्सी वर्ष की दीर्घायु के प्रायः पचास से ऊपर का समय राजनीतिक नौकरी में बिताया—फ्रेंच राज्यक्रान्ति के पहले से लेकर नेपोलियन के युद्धों तक, और दोनों की उसने मुख़ालिफ़त की। यह यूरोपीय साहित्यिक आन्दोलन राजनीतिक और औद्योगिक आन्दोलनों के साथ-साथ चला और उससे अनेक अंशों में सम्बन्धित भी था। अट्ठारहवीं सदी का जो नया संसार यूरोप की धारा पर उतरा तो उसने साहित्य में भी अनन्त नवता प्रस्तुत की। साहित्य का भी एक नया संसार सिरज गया। क्लासिकल प्रेरणा से इसने न केवल मुँह मोड़ लिया वरन् उससे भरपूर बगावत की और स्थानीय को समृद्ध किया। अब फ्रांस ने ग्रीस और रोम को छोड़ इंग्लैंड, जर्मनी, इटली, स्पेन और स्वयं अपनी भूमि की ओर नजर फेरी। रोमैंटिक और यथार्थवादी साहित्यिक आन्दोलन प्रायः साथ ही उठ खड़े हुए। 'क्लासिसिस्टों' और 'रोमैंटिस्टों' या 'रियलिस्टों' में कितना विरोध चला, किस मात्रा में उन्होंने एक दूसरे के विरुद्ध साहित्य प्रस्तुत किया वह साधारण इतिहास का विषय है, मैं उसका यहाँ उल्लेख नहीं करूँगा।

स्थानीय विषयों, ऊँची भावुकता आदि का उनयन साहित्य में जिन्होंने किया वे अपने को रोमैंटिस्ट कहने लगे, जिन्होंने काल और दूरी में झाँकना छोड़ सावधि और साधारण को महत्त्व दिया वे 'रियलिस्ट' कहलाए। दोनों ने उनका सफल विरोध किया जिन्होंने केवल अतीत की ओर आँखें गड़ा रखी थीं, जिनको प्रेरणा केवल प्राचीन-कालीन ग्रीक जीवन से मिलती थी। और अठारहवीं-सत्रहवीं सदी में जो स्थिति फ्रांस के इन 'क्लासिसिस्टों' की थी, वही आज हमारे उन साहित्यकारों की इस देश में है जो सावधि को छूते डरते हैं, अतीत में साँस लेते हैं और विषय-प्रेरणा के लिए प्राचीन की ओर देखते हैं। शाश्वत् और मूलभूत रागों-भावों के नाम पर प्रच्छन्न रूप से नायिकापन की ओर लौट पड़ते हैं। वस्तुतः विषय-वस्तु का दिवालियापन वर्तमान को अछूत मानकर उससे भागने के कारण संगठित होता है। वर्तमान की उथल-पुथल से भय, संरक्षक शक्तियों के क्षुब्ध या उदासीन हो जाने से जीवन की आसानी के सम्भावित लोप का भय, कुछ ऐसी अकर्मण्यता पैदा करता है जिसे सावधि को सर्वथा छोड़ अतीत की रट लगाने लगते हैं, यद्यपि उस अतीत को ही वे कितना समझ पाते हैं, यह कहना न होगा। जानकारों के लिए उनका अतीत ज्ञान नितान्त हास्यास्पद हो उठता है। र निश्चय फ्रेंच साहित्यकारों का इस अतीत संचय का प्रबल विरोध हमारे इन अतीत-ागियों के दृष्टान्त होना चाहिए।

फ्रेंच साहित्य और कला परम्पराएँ परस्पर विरोधी और अनुकूलमना अनन्त उनकी ओर संकेत तक करने में सैकड़ों पृष्ठ लग जाएँगे वैसे उनकी प्राय सभी

की, वेलें सारे यूरोपीय साहित्यों में कर्गी और फैली। इससे उनका स्वतन्त्र और पृथक् विवेचन भी कुछ विशेष महत्त्व नहीं रखता, खास कर जब हम उन अन्य यूरोपीय साहित्यों का भी यथासम्भव उल्लेख कर रहे हैं, विशेष कर उस जर्मनी का जहाँ के आन्दोलनों ने विशेष शक्ति दिखाई और जहाँ साहित्य और राजनीति एक साथ एक स्वर से परस्पर की प्रेरणा से जगे और बढ़े हैं। इससे हम अब जर्मन साहित्य की प्रेरणाओं, परम्पराओं, आन्दोलनों की ओर संकेत करेंगे।

जर्मन साहित्य—'रेनैसाँ' और 'रिफार्मेशन' (पुनर्जागरण और धार्मिक सुधारों के आन्दोलनों) के पहले जर्मनी में जो साहित्यिक वातावरण था उसमें 'मिनेसांगेर' और 'माइस्तरसांगेर' (सिंगर) प्रधान थे। इनकी परम्परा फ्रेंच 'त्रूबेदूरों' अथवा प्राचीन होमरवत् गायकों, भारतीय गाथा-गायकों या आल्हा गानेवालों की थी। ये दल-के-दल थे और इनका दृष्टिकोण साहित्य में, साहित्यिक प्रचार में, गायन और सृजन में बहुवादी था। साहित्य में इनके अपने-अपने चयनों के कारण दृष्टिकोणों में जो अन्तर पड़ता था उसका प्रभाव इनके पारस्परिक दलगत आघात-प्रत्याघातों में स्पष्ट दिख जाता है। 'रेनैसाँ' का प्रभाव जर्मनी पर भी कुछ कम न पड़ा परन्तु 'रिफार्मेशन' आन्दोलन का तो निश्चय वह देश, उसका साहित्य, प्रथम प्रकाशक सिद्ध हुआ। पहले-पहल साहित्य का उपयोग धार्मिक आलोचना और धार्मिक स्वतन्त्रता तथा उससे प्रसूत और जाग्रत राजनीतिक अधिकारों की चर्चा और माँग जर्मनी में ही शुरू हुई। संसार में, रूस के जनवादी प्रकाशनों को छोड़, कभी कहीं इतना साहित्य धार्मिक-सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलनों को सफल बनाने के अर्थ नहीं सिरजा गया जितना जर्मनी में इस काल हुआ। पहले-पहल यूरोप में तभी, और जर्मनी में ही, उस दिशा में प्रेस और मुद्रण का उपयोग हुआ, प्रचारार्थ साहित्य का अपूर्व प्रयोग हुआ। उससे केवल पहले प्रचारार्थ साहित्य का सृजन और प्रेस का उस दिशा में उपयोग प्रायः हजार वर्ष पूर्व चीन और कोरिया में हुआ था। वस्तुतः उसी अर्थ—प्रचारार्थ साहित्य उगलने के लिए—चीन ने मुद्रण की खोज भी की थी।

सो जिस सुधारवादी आन्दोलन की आँधी सारे यूरोप पर चली उसका आरम्भ जर्मनी की ही शोषण-जर्जर भूमि से हुआ। अनेक मत-मतान्तर उठे, उन्होंने दलगत रूप में परस्पर संघर्ष और अन्त में राजनीतिक आन्दोलनों का विस्तार किया। जो इस देश में दलगत साहित्य-रचना का दोषारोपण करते हैं, स्वयं यदि दलगत रूप से उसका विरोध करते हैं, वे जर्मनी के प्रायः चार सौ वर्षों के साहित्य प्रयास पर एक नजर डालें। उन्हें फिर 'रेजिमेन्टेशन' या दलगतीय साहित्य की भ्रान्त और भ्रामक रसायनवादी बात कहने का साहस न होगा।

'रिफार्मेशन' के साहित्यान्दोलन या आन्दोलक साहित्य के बाद जर्मन साहित्य में सोलहवीं सदी के और का प्रादुर्भाव हुआ स्वयं उस

दिशा में जर्मनी में खासी चर्चा हुई पर नया और सबल आन्दोलन तो लेसिंग के नेतृत्व में अठारहवीं सदी से चला। विज्ञान के उदय ने लोगों के जीवन में एक तर्कसम्मत बुद्धिवादी दृष्टिकोण का सूत्रपात किया। जर्मनी एक जमाने तक धार्मिक युद्धों का शिकार रहा था, धार्मिक असद्भाव और असहिष्णुता ने जर्मन मानवता को बर्बाद कर दिया था, उसके गाँव-नगर जला डाले थे। तभी धार्मिक सहिष्णुता की गुरुता समझी गई और उस दिशा में साहित्य का सृजन आन्दोलन की सफलता के लिए अमित मात्रा में हुआ। सुसंस्कृत बुद्धिसम्मत जीवन की माँग जिन साहित्यकारों ने आकुलकण्ठ हो की, लेसिंग जिनमें अग्रणी था। लेसिंग का प्रयास उसकी अपनी और समानधर्मा साहित्यिकों की रचनाओं द्वारा यूरोप के देश-देश में फैला। लेसिंग सारे यूरोप के साहित्यकारों पर छा गया। लेसिंग की आवाज नये उठते हुए मध्यवर्ग की सांस्कृतिक आवाज थी, सहस्र धाराओं से फूट पड़ने का प्रयास करनेवाली नई चेतना, नई इंसानी विरासत की आवाज, जिसने मानवी अनुभूति की सभी दिशाओं में तर्क और न्याय की माँग की और जिसकी पुकार से शतकण्ठ शारदा मुखर हुई, सहस्रजिह्वा साहित्य उद्गीरित हुआ। वर्तमान विज्ञान का पथ उस तर्कसम्मत साहित्य से प्रशस्त हुआ।

पर निश्चय जीवन तर्क से श्रृंखलित नहीं हो सकता। स्मृतिकारों का जकड़ा समाज जैसे इस देश मे बार-बार अपनी श्रृंखलाएँ तोड़कर स्वतन्त्र हुआ, उसी प्रकार वह लेसिंग का तर्कप्रेरित जर्मन समाज, जर्मन साहित्य, एतदर्थ यूरोपीय साहित्य भी, एक नई आजाद आवाज की दलगत चोट से टूट कर बिखर गया। वह चोट पार्टिज़न रूप से की गई थी। उस विरोध ने प्रचण्ड तूफ़ान का रूप धारण किया। उस आन्दोलन का नाम ही 'तूफ़ान और ताक़त' था। उसका प्रवर्तक था हर्डर, उसके विशिष्ट और सफल पुजारी थे गेटे और तरुण शिलर और उसके अनुयायी जर्मनी से बाहर कितने थे वह संख्या नहीं कूती जा सकती।

लेसिंग के युग ने बुद्धि और तर्कसम्मत जीवन तथा साहित्य पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया था जिसकी प्रतिक्रिया सबल दलगत प्रतिरोध के फलस्वरूप 'भावुक' और 'काल्पनिक' साहित्य के रूप में हुई। तर्कविरोधी कल्पना साहित्य का प्राण बनी। इस बग़ावत की अभिव्यंजना १७७० और ८० के बीच के साहित्य-प्रणयन में हुई। गेटे और शिलर उसी भावुक प्रेरणा के धनी थे, फ्रांकफ़र्त और वाइमार उस सस्वर गायन से गूँज उठे, 'मुक्त प्रोमेथियस्' स्वच्छन्द विचरण से पुलकित हो उठे। गेटे और शिलर 'रोमेंटिसिज़्म' के अग्रदूत थे, उसके सूचक।

रोमेंटिसिज़्म और उसके आन्दोलन के जर्मनी मे आधार फ़िश्ते और लेसिंग के दार्शनिक सिद्धान्त और आगस्ट श्लेगेल तथा फ़्रीड्रिख़ श्लेगेल के समीक्षा-सिद्धान्त थे। हाइन्रिख़ हाइने (१७९७-१८५६) इन रोमेंटिकों में अन्तिम और यथार्थवादियों (रियलिस्टों) में प्रथम था।

हाइने की पीढ़ी के कवि विशेषकर अपनी राजनीतिक, सामाजिक और नैतिक

सिद्धान्तों और प्रवृत्तियों में यशान्वित हुए। यह युग ही राजनीतिक-सामाजिक था। साहित्य पर राजनीतिक आन्दोलनों का पूरा प्रतिबिम्ब पड़ा और साहित्य ने स्वयं राजनीतिक आन्दोलनों को सफल बनाने का बीड़ा उठाया। सन् १८४०-४९ के बीच की कविताओं का तो अन्तरंग-बहिरंग सभी राजनीतिक बन गया। राजनीतिक सन्देश का भाव या अभाव मात्र कविताओं की सार्वजनिक प्रशंसा या धिक्कार का कारण बना। साहित्य राजनीतिगर्भित इतना कभी किसी और देश में नहीं हुआ, साहित्य की सफलता कभी इस राजनीतिक मनोयोग से नहीं आँकी गई। हजारों की तायदाद में राजनीतिक कविताएँ पैम्फ़लेटों या पृष्ठमात्र के रूप में प्रकाशित होती और सार्वजनिक स्थानों में पढ़ी जाती थीं जिन्हें असंख्य कान अदम्य उत्साह से सुनते थे। सन् १८४८ की क्रान्ति के लाडले थे जार्ज हर्वे, फ़र्डिनेण्ड फ़्राइलीग्राथ (वाल्ट ह्विटमन की कविताओं का पहला जर्मन अनुवादक), हाफ़मान फ़ान फ़ाटरस्लेबेन ('ड्वाइशलैंड, ऊबर आले' का गायक) आदि। यह कविता पहले तो बगावत की सूचक समझी गई थी पर एक पीढ़ी बाद जर्मन जाति की राष्ट्रीय कविता मानी गई।

इसके बाद ही जर्मन साहित्य में अन्य यूरोपीय साहित्यकारों की ही भाँति आन्दोलनप्रधान प्रवृत्तियों का बोलबाला हुआ। यथार्थवादी, प्रकृतिवादी, आस्ट्रियन रसवादी (वियना के साहित्यिक), प्रभाववादी और अभिव्यंजनावादी आए। उन्होंने प्राग्युद्ध (१९१४) तक्नीक और साहित्यिक सिद्धान्तों से नाता तोड़ दिया। रियलिज़्म की परिणति नेचुरलिज़्म में हुई, फिर न्योरोमैंटिसिज़्म का साका चला। इम्प्रेशनिस्टों ने बाह्य जगत् और वातावरण के चित्त (आत्मा) पर पड़ने वाले प्रभाव की अभिव्यक्ति की। एक्स्प्रेशनिस्टों (अभिव्यंजनावादियों) ने अन्तश्चेतना द्वारा सत्य के आत्मदर्शन की बात कही और साहित्य में अपना नया स्थान बनाया। इसी अन्तर्दर्शन की शक्तिम अभिव्यक्ति का नाम 'एक्स्प्रेशनिज़्म' पड़ा। एक्स्प्रेशनिस्टों ने तो अन्तश्चेतना के ही अनुकूल वातावरण तक बदल डालने की बात कही। उसका एक रूप आन्दोलनगत होकर रहस्यमय हो गया दूसरा दलगत होकर यूटोपियन कम्यूनिज़्म के अत्यन्त निकट आ गया। अनेक कम्यूनिस्ट यूटोपिया साहित्य में इसके फलस्वरूप भी सिरजे गए। कवि फ़्रांस वेर्फ़ेल ने जो स्नेह-शक्ति, बलिदान और सार्वभौम भ्रातृत्व द्वारा यूरोप का पुनः संस्कार और पुनर्जागरण करना चाहा वह इसी एक्स्प्रेशनिज़्म के आन्दोलन का रूप और परिणाम था।

न्यो-रियलिज़्म अमूर्त से मूर्त की ओर प्रगति का नाम था। नव साख्लिख्काइत का साहित्यिक-राजनीतिक-जातीय आन्दोलन न्योरियलिज़्म के रूप में नात्सी क्रान्ति का निकट पूर्ववर्ती सिद्धान्त था जो नात्सी सांस्कृतिक तानाशाही का गुरुमन्त्र बना। साहित्य उत्कट आन्दोलन का या आन्दोलन उत्कट साहित्य का रूप धारण कर चला था, सर्वथा दलगत कल्याण के अभास के रूप में इस सिद्धान्त से जो निरूपित किया गया उसका ऐलान था—उस स्वल्प कार्य में विश्वास जिससे साधारण मानव का हित हो और उसकी मुश्किल आसान हो' इसका असर क्या हुआ यह किसी से छिपा

नहीं। यहाँ हम केवल इतना कहेंगे कि यह चेतना घोर दलगत थी।

नात्सी रोमैंटिसिज़्म हिटलरशाही का साहित्यवाद था। इसका उदय नात्सीवाद या राष्ट्रीय समाजवाद (नेशनल सोशलिज़्म) के परिणाम स्वरूप हुआ। फ्रीड्रिख़ नीत्शे और स्तेफ़ान जार्ज के शिष्यों में से इस साहित्यिक प्रवृत्ति या विश्वास के मुमूर्षु बूढ़े और भरती किए जाने लगे। नीत्शे तीसरे राइख़ का पैगम्बर बना क्योंकि उसने पाश्चात्य (तर्कसम्मत) बुद्धिवाद, समूहवाद, वैज्ञानिक पदार्थवाद और नार्योत्कर्षवाद के विरुद्ध जेहाद बोल दिया और जेहाद बोलनेवालों को सराहा। वह ख़तरे का डर दिखाकर युद्ध का समर्थन करनेवाला उत्तेजक चिन्तक था। उसने एक ऐसे राजनीतिक समाज की व्याख्या की जिसकी सार्वजनिक नीतियों का संचालन बैंकर, दलाल और वणिक् नहीं करते वरन् राज्य की बागडोर शक्तिमना व्यक्तियों के हाथ में होती है, महा-मानव के हाथ में। नीत्शे के इस शक्तिवाद को साहित्यकार स्तेफ़ान जार्ज ने राजनीतिक प्रचार के क्षेत्र से हटाकर काव्य और नाटक के ललित क्षेत्र में पधराया। हिटलर के प्रचार विभाग और सांस्कृतिक प्रगति के मन्त्री गेबेल्स का गुरु गुण्डोल्फ़ इसी जार्ज का प्रखर अनुयायी था।

भाषा के सम्बन्ध मे जितनी दलगत आलोचना इटली में हुई उतनी और कहीं नहीं हुई। सोलहवीं सदी से उन्नीसवीं तक लगातार 'केस्तिओने देला लिंगुआ' का मसला देश और साहित्य में छिड़ा रहा। लातीनी-प्रधान या भाषा (वर्नाक्यूलर)-प्रधान, तत्सम या तद्भव प्रधान, भाषा का प्रयोग साहित्य में हो, यह तीन सौ साल तक निरूपित होता रहा जिसमें दलों ने तलवारें तक खींचीं और अन्त में तुस्कानी जनबोली की विजय हुई।

पिछले काल में साहित्य ने रोमैंटिक प्रतीकों से नाता तोड़ दिया। उन्नीसवीं सदी के प्रायः आरम्भ से ही साहित्य खुल्लमखुल्ला 'रिजर्गिमेन्तो' की सेवा में लगा। गिउसेप्पे गिउस्ती (१८०९-५०) और गिउसेप्पे गियोचित्तो बेली दोनों व्यंग्यकार थे, दोनों ही। दलगत विचारों के प्रचार के अन्य राष्ट्रीय कवि—रोसेत्ती, गियानोवे, ब्रोफ़ि-रियो, पोएरियो, मरकान्तीनी, मामेली आदि—तो शुद्ध राजनीतिक साहित्यकार थे जिनमें से अधिकांश ने आज़ादी के लिए क़ैद और देशनिकाला झेला और फाँसी की रस्सी गले से लगाई।

स्वयं परम्पराविरोधी साहित्यकारों-कलाकारों की दलगत पुकार ने निष्क्रियता के विरुद्ध साहित्य और कला दोनों क्षेत्रों में उस 'फ़्यूचरिज़्म' की स्थापना की जो नात्सी राजनीति की भाँति ही इटली में फ़ासिस्तवाद का प्रवर्तक हुआ (देखिए, मारि-नेती का 'मैनिफ़ेस्टो')। पापिनी इस शक्ति के उपासक दल का सबसे ख्यातिलब्ध साहित्यकार हुआ। फ़ासिस्तवाद का दूसरे-तीसरे दशकों में विकास अधिकतर इसी दलगत भावना की पृष्ठभूमि से हुआ। 'फ़ोन्तामारा' का प्रसिद्ध लेखक सिलोने, जिसने इस भावधारा का प्रबल विरोध किया, स्वयं कम्युनिस्ट होने से प्रखर दलगत भावना का पोषक था, और आज यद्यपि वह कम्युनिस्ट नहीं रहा, उसकी प्रेरणा दलगत फिर

भी बनी हुई है।

मैंने जानबूझ कर इस निबन्ध में दलगत भावना के पोषक रूसी और चीनी साहित्यों की चर्चा नहीं की है। परन्तु इनसे इतर और साधारणतः तथाकथित स्वतन्त्र उदार रूप से अपने साहित्यों का विकास करनेवाले देशों में भी सदा दलगत चेतना किस प्रकार गतिशील रही है यह इससे स्पष्ट हो जाएगा। सारी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ सदा सर्वत्र आन्दोलन के रूप में प्रगट हुई है, वहीं हैं, यह हमें न भूलना चाहिए।

१

साहित्य में रेजिमेण्टेशन

इधर कुछ दिनों से कुछ साहित्यिकों ने साहित्य के क्षेत्र में 'रेजिमेण्टेशन' (सैन्यानुशासन) का नाम लेकर प्रगतिवादी धाराओं और प्रवृत्तियों का विरोध करना शुरू किया है। 'रेजिमेण्टेशन' से तात्पर्य साहित्यिक कृतियों को एक विशेष विनिमय द्वारा श्रृंखलित कर देना है। नहीं कहा जा सकता है कि यह रूढ़ि के प्रति पूर्वाग्रह का परिचायक है अथवा वर्तमान के प्रति उदासीनता या अनुभूति-सामर्थ्य की कमी। जो भी हो, इस लेख का मन्तव्य उन्हें यही बताना है कि आज का 'रेजिमेण्टेशन' उनकी प्राचीन पद्धति के रेजिमेण्टेशन से कहीं कमजोर है। यदि रेजिमेण्टेशन से उनका तात्पर्य साहित्यकार को उसके वर्ण्य विषयादि के सम्बन्ध में सीमित कर देना या बाँध देना है, तो निश्चय ही वर्त्तमान साहित्यिक प्राचीनों की अपेक्षा अधिक खुली हवा में साँस लेता है—वस्तुतथ्य, रचना के रूपायन, छंदादि के स्वरूप सभी में। प्राचीनों ने न केवल सीमाबद्ध सरणियों का निर्माण किया, वरन् काव्यादि के रूप, वस्तु, रस, अलंकार सभी को बाँध दिया। इतना ही नहीं, उन्होंने नायकों और नायिकाओं के अभिजात-तत्त्व तक निश्चित कर दिए। यहाँ तक लिख डाला कि नाट्यकार किन-किन स्थितियों को रंगमंच पर लाए, महाकाव्यों में किन-किन रसों, किन-किन विषयों, ऋतुओं, पहाड़ों, समुद्रों, सरित-सरोवरों, सैन्य-यात्राओं, युद्धों आदिका वर्णन करे। इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ प्राचीन महाकवियों को छोड़ अन्यों की मौलिकता सर्वथा सन्दिग्ध हो गई। प्रकृति का वर्णन करते हुए उन्होंने जिस कृत्रिमता का परिचय दिया है, वह उनके उच्चकोटि के कृतीत्व में परम बाधक होता है। अनेक बार तो महाकाव्यों के समान 'रेजिमेण्टेड' परिस्थितियों के वर्णन में इतना साम्य रहा है कि पाठक विविध कृतियों को पढ़ता हुआ भी समान वर्णनों की अरुचि से थक जाता है।

लक्षण-ग्रन्थों की तालिकाओं से प्राचीन साहित्यिक इस कदर बँधे हैं कि एक ही विचारधारा, एक ही वस्तु, एक ही प्रकृति-वर्णन, एक ही पद्धति सब में रहती है, और चूँकि उनके वर्ण्य विषय के रूप, गुण, अलंकार समान आधार से लिए गए हैं, अनेक बार तो स्थल-के-स्थाल, सर्ग-के-सर्ग—विशेषतः युद्ध, जलक्रीड़ा, वनविहार, अभिनय, प्रणय-विरहादि—सर्वथा समान हो गए हैं। अनेक बार तो शब्द और अर्थ को जैसा-का-तैसा धर दिया गया है। और इस सम्बन्ध में माघ, भारवि, श्रीहर्ष तो क्या, महाकवि कालिदास तक ने समान परिस्थिति के वर्णन में शब्द, अर्थ और श्लोक

तक अन्यत्र से 'उड़ा' लेने में संकोच नहीं किया है। इस सम्बन्ध में केवल उस स्थल की ओर संकेत कर देना मात्र पर्याप्त होगा, जिसे प्रायः सभी संस्कृत काव्य के प्रेमी और अन्वेषक जानते हैं—अश्वघोष के 'बुद्ध-चरित' के उस स्थल की ओर, जिसे कालिदास ने पूरा-का-पूरा अपने 'रघुवंश' के सातवें सर्ग में ले लिया है और उस प्रसग को प्रसंग-साम्यवश 'कुमारसम्भव' के सातवें सर्ग में फिर शब्दशः दुहरा दिया है। क्षेमेन्द्र की 'औचित्यचर्चा' ने, खेद है, इस नीति पर प्रकाश नहीं डाला। यह प्राचीन रेजिमेण्टेशन का ही परिणाम था। जब काव्यों में समान विषयों, समान परिस्थितियों और समान रसों का वर्णन प्रतिपाद्य होगा, तब पूर्वगत को अपने शब्दों में अनूदित करने का लोभ पश्चादागत नहीं कर सकेगा, और यदि वह पश्चादागत काव्य-शक्ति में असाधारण समर्थ हुआ, तब भी उसकी मुखरित भारती में पूर्वगत की प्रतिध्वनि उठनी बाकी न रहेगी। छन्दों, विषयों, अलंकारों, नायक-नायिकाओं के कुल-गुण, परिस्थिति आदिका प्राचीन साहित्यिक विधायकों ने इस प्रकार नियन्त्रण किया है कि सारा साहित्य एक ही साँचे में ढल पड़ा है। भरत और भामह, दण्डी और वामन, उद्भट और रुद्रट, मम्मट और रुय्यक, आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त, कुन्तक और महिम भट्ट, धनिक और धनंजय, प्रतापरुद्र और भोजराज, क्षेमेन्द्र और हेमचन्द्र, विश्वनाथ और राजशेखर, मुकुलभट्ट और वाग्भट्ट, रामचन्द्र और गुणचन्द्र, शारदातनय और जयदेव, विद्याधर और विद्यानाथ, कविकर्णपूर और पण्डितराज, अप्पय और बालकृष्ण सबने रेजिमेंटेशन की शृंखलाएँ गढ़ी हैं।

नतीजा यह हुआ कि 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द', 'रघुवंश' और 'कुमार-सम्भव', 'किरातार्जुनीय' और 'शिशुपालवध', 'नैषधचरित' और 'कुमारपालचरित' का—कवि-विशेष के उपेक्ष्य वैचित्र्य के अतिरिक्त एक ही विषय है—प्रायः एक ही प्रभाव और परिणाम है। इसी प्रकार 'मध्यमव्यायोग' और 'वेणीसंहार' में, 'उत्तर-रामचरित' और 'हनुमन्नाटक' में, 'शाकुन्तल' और 'विक्रमोर्वशी' में, 'मालविकाग्निमित्र' और 'कौमुदी-महोत्सव' में एक ही साँचे की परिस्थितियाँ, एक ही सारभूत भावतत्त्व, एक ही कोटि के नायक-नायिकाएँ दृष्टिगोचर होते हैं। 'चारुदत्त' और 'मृच्छकटिक', 'मेघदूत' और 'मालती-माधव' उस परम्परा में इने-गिने हैं। जनता-जनार्दन को उस पद्धति ने नहीं माना। असाधारण अलौकिक अभिजात को उसने आदर दिया। नारी और शूद्र को, सामान्य और वर्तमान को उसने त्याग दिया। इसी से उसके क्षेत्र में यथार्थ के स्थान पर कल्पित और परिणामतः मिथ्या की उपासना हुई। अनुभूतिजन्य परिस्थितियों के स्थान पर अघट्य वैचित्र्य का सृजन हुआ। सिद्धान्ततः निरूपित औचित्य का प्रतीकतः भी निर्वाह न हो सका। प्रकृत सत्य का स्थान वागाडम्बर ने लिया। इसी से चारुदत्त एक बार उठकर भी मिट गया। उसकी छायामात्र 'मृच्छ-कटिक' पर पड़कर रह गई। इसी से मालती-माधव फिर भारतीय रंगमंच पर न उतरे। इसी से किसी समर्थ साहित्यकार ने अपने वातावरण को अपनी कृति में प्रतिबिम्बित करने का साहस नहीं किया कादम्बरी' और ' की परम्परा तक मिट

गई, जिनके आधारभूत वस्तूपचार में पूर्वानुकूल होकर भी उनके स्रष्टाओंने वर्तमान का प्रतीकतः प्रतिबिम्ब खींच दिया था।

इस रेजिमेण्टेशन का रूप क्या था? महाकाव्य के कितने सर्ग हों? उसके नायक नायिका कौन हों? उनके गुण (केवल गुण, दोष नहीं!) क्या हों? वर्णित वस्तु क्या हो? उसकी परिस्थितियाँ क्या हों; अवयव क्या हों? वर्णित विषय की रीति क्या हो? छन्द कौन-से हों? वृत्तियाँ कौन-सी हों? इन और अनन्त (यहाँ) अकथित् परिस्थितियों के वर्णन निर्दिष्ट लक्षणों के अनुकूल किए जायँ, वरन् कृतियों को दूषित समझा जायगा।

जिन सीमाओं को आज का पूर्वाग्रही साहित्यकार 'मर्यादा' कहता है, उनके बीच यदि उसे साँस लेनी पड़े तो स्वयं उसका दम घुट जायगा—यह सम्भवतः उससे छिपा नहीं। वह यह भी जानता है कि इसी कारण पन्त, निराला, प्रसाद और महादेवी आदि ने प्राचीन छन्दों और रूप-रेखाओं के प्रतिपाद्य विषयों तक के अनुबन्ध तोड़ दिए। वे पन्त, निराला, प्रसाद और महादेवी, जिन्हें वह पूर्वाग्रही रेजिमेंण्टेशन के विरुद्ध अपनी कमजोर, दयनीय और कृत्रिम आवाज उठता हुआ भी अपना मानता है, प्रतिपाद्य विषय के चुनाव में, वर्णन-शैली मे, रीति और वृत्तियों के निर्वाह में, छन्दों के चयन मे सर्वथा स्वयं 'अनरेजिमेंटेड' अशृंखलित हो उठे है। फिर इन मृगसभीतों का कतिपय अग्रणी प्रगतिशील प्रवृत्तियों के जनाह्वान को रेजिमेंटेशन कहना कहाँ तक उचित है?

अब जरा हमारे चिरस्मरणीय प्राचीन साहित्यिकों के सृजन का रेजिमेंटेशन सुनिए। कहा जाता है कि आज के प्रगतिशील लेखक-आलोचक चाहते हैं कि साहित्यकार अनिवार्यतः अपने वातावरण को अपनी कृतियों में उतारें, राजनीतिक मनोभावों और घटनाओं का चित्रण करें—यह उनका रेजिमेंटेशन है। परन्तु शायद प्रकृतितः यह पूछा जा सकता है कि 'उदात्त' के नाम पर जो अभिजातकुलीय व्यवस्था का प्राचीनों ने अनिवार्यतः प्रतिपादन किया, वह क्या रेजिमेंटेशन नहीं था? नव रसों के नाम लेकर भी प्रमुखतः शृंगार की आराधना क्या सामन्तों, राजाओं और श्रीमानों के मनोरंजन और कालक्षेप के लिए नहीं की गई? क्या उन्हीं के प्रणय-विरह का वर्णन उनमें नहीं हुआ? क्या उनके अवकाश (उनके पास अनन्त अवकाश था) की शुष्कता मिटाने के लिए काव्यों का निर्माण नहीं हुआ? 'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्' का आधार क्या है? यह क्या विश्लेषण द्वारा प्रमाणतः बताना होगा? यह विनोद इतना आवश्यक हो गया था कि अवकाश-सेवन के अर्थ साहित्य का निर्माण ही शृंगार के आधार पर होने लगा। इसी विनोद और अवकाश-पूर्ति के निमित्त विक्रमादित्य और भोजराजकी राज-सभाएँ कामुक कवियों से भरीं, और लक्ष्मणसेन के अन्तरंग उद्दीपक रागों से गूँजे, शाहजहाँ और जयसिंह के प्रासाद सम्मोहक कवि-कृतियों की अनुकारिणी प्रहृत्त वाद्य ध्वनियों से मुखरित हुए

कालिदास और विद्यासदत्त हरिषेण और वत्सभट्टी बाण और दण्डी

भवभूति और राजशेखर, पद्मगुप्त और क्षेमेन्द्र, हेमचन्द्र और सुबन्धु, दामोदरगुप्त और कैयट, रुद्रट और मम्मट, धनिक और धनंजय, धोयिक और जयदेव, श्रीहर्ष और पण्डितराज, चन्द और जगनिक, विद्यापति और बिहारी, और पहले पाणिनि और पतंजलि, याज्ञवल्क्य और जाबालि, व्यास और वाल्मीकि तक राज-सभाओं से किसी-न-किसी रूप मे क्यो बँधे रहे ? यह प्रश्न कुछ अजब नहीं। और जब हम इस विषय पर विचार करते है कि इस प्राचीन रेजिमेण्टेशन का एकमात्र आश्रय राजभवन रहे हैं, तब हमारी प्राचीनो के प्रति श्रद्धा निश्चय शंकित हो उठती है। प्राचीनो में मेधा की कमी नहीं, सामर्थ्य की कमी नहीं, परन्तु उनका सरक्षक राजा ही क्यों है, वे राजा की अवकाश की पूर्ति और मनोरंजन के लिए ही रचना क्यों करते हैं, उनकी गोष्ठियाँ जनता में क्यों नहीं होतीं—विशेषकर नाटकों का आरम्भ राजसभाओं में ही क्यों होता है ? अधिकतर ये नाटक उन दरबारो मे वसन्तोत्सवों पर ही पहले क्यों खेले जाते हैं ? इन सब प्रश्नों का उत्तर सोचता हुआ आलोचक कुछ समझने लगता हैं। वह समझने लगता है उस रेजिमेंटेशन की बात, जिसमें गद्य-पद्य-चम्पू का त्रिविध साहित्य या काव्य-नाटक प्रशस्ति का सर्जन राजा की सरक्षा से ही क्यों होता है ? क्यों 'मुद्राराक्षस' के नान्दी श्लोक मे नाट्यकार समसामयिक चन्द्रगुप्त की विष्णुवत आराधना कर बैठता है ? क्यों 'कौमुदी-महोत्सव' में चन्द्र बोलने लगता है और विक्रमोर्वशी में कुमार ? क्यों रातों-रात स्मृतियाँ लिख दी जाती है और ध्रुवदेवी के विधवा-विवाह की छाया नारदके धर्मशास्त्र पर पड़ जाती है ? क्यों पण्डित कवि और चतुर चारण वैतालिकों की भाँति प्रशस्ति-वचन कहते हैं ? ग्रन्थबद्ध काव्यके अतिरिक्त भारत का प्राचीन साहित्य प्रशस्तिप्राय है, सो क्यों ? सैकड़ों-हजारों प्रशस्तियाँ राजाओं से वृत्ति पानेवाले समर्थ साहित्यकारों द्वारा क्यों प्रस्तुत होती हैं ? क्यों इस परम्पराकी घृणित भावनासे क्षुब्ध हो जयसेन महाराज हर्ष द्वारा दिए उड़ीसा के अस्सी नगरों की आय जब उपेक्षापूर्वक ठुकरा देता है तब उसका आचरण व्यंग्य-सा लगता है ? स्वयं व्यास और वाल्मीकि, च्यवन और श्यावाश्व कुरुकुल और रघुकुल तथा राम और रथवीति के प्रशस्ति-गान क्यों करते हैं ?

इन प्रश्नों का एकमात्र उत्तर यह है कि 'स्वान्तःसुखाय' का मूल्य 'स्वसुखाय' था और स्वसुखाय का आधार राजवृत्ति थी। और कवि का आचरण तब 'अनुयायि-वर्ग' का, वृत्तिसेवी का, था जिसे, चाहे 'पोयट-लारियट' के ही रूप में सही, 'स्वामी' का प्रशस्ति-वाचन किसी-न-किसी रूप मे करना ही पड़ता था। यही उत्तर उस प्रश्न का भी समाधान कर देता है, जिसे किसी आलोचक ने कभी नहीं उठाया—'काव्येरुपेक्षिता' के समर्थ लेखक रवि ठाकुर ने भी नहीं—कि रामायण और महाभारत तो रच गए, परन्तु परशुरामायण क्यों नहीं रचा गया ?

क्या इसका उत्तर रेजिमेण्टेशन की आवाज उठानेवाला यह कहकर देगा कि परशुराममें उदात्त गुणों या क्रियाशक्ति की कमी थी ? उस दुर्द्धर्ष सामरिक की सक्षम जिसने उन राजकुलों का '२१ बार' अन्त किया जिसने

भीष्मके अनौचित्य का युद्ध द्वारा प्रतिकार किया और कर्णका शाप द्वारा नाशकर अपनी विद्रोह की कड़ी बीच में डाल वशिष्ठ और पुष्यमित्रकी शृङ्खला प्रस्तुत की, कोई काव्याधार की कमी का क्योंकर आरोप लगा सकता है? पर हाँ, इस प्रश्न का उत्तर उसके शक्तिपरिचायक आचरण मे निहित है—मदमत्त क्षत्रियों के २१ बार के संहार मे ही जिसका वर्णन राजाओंकी वृत्ति से शरीर पुष्ट करनेवाले और उनके अनुवृत से यश संचय करनेवाले साहित्यकार अपना धनाधार ख़तरे मे डाले बगैर न कर सकते थे। इसका एकमात्र कारण यह था कि धन के रूप में परशु और लँगोटमात्र रखनेवाले परशुराम के प्रति 'रेजिमेण्टेड' साहित्यिको की लेखनी न उठ सकी, उसके समक्ष अनाचार-विरुद्ध आचरण के स्तवन द्वारा कवि और नाट्यकार की लेखनी पूत न हो सकी।

जब रेजिमेण्टेशन के गढ़ प्राचीन साहित्य की ओर पीठकर ध्वनि, स्फोट, रीति, वृत्यादि के बन्धनों को भूल वह आधुनिक सजग साहित्यिककी ओर रेजिमेण्टेशन के नाम पर उँगली उठाता है, तब निश्चय ग्लानि होती है—विशेषतः इसलिए नहीं कि स्वयं वह उस जनहिताय यज्ञ में योग देने मे समर्थ नहीं बल्कि इसलिए अधिक कि वह यथातथ्य को स्पष्टतः, आभासतः भी, देख तक नही पाता। शायद वह इसे भूल जाता है कि तब का साहित्य राजप्रासादों के प्राचीरों से परिवेष्ठित था, आज का खुले आसमान के नीचे है, दिशाओं की अनन्त सीमाओं से भी अपरिमित, और इसी से इसके सम्बन्ध में रेजिमेण्टेशन की बात कहनी नितान्त अयुक्त होगी। हाँ, आलोचक यह अवश्य कहेंगे कि प्राचीन का प्रतिबद्ध प्रतिहत, अवगुण्ठित जीवन अब अप्रतिबद्ध, अप्रतिहत, अनवगुण्ठित हो गया है। सामन्त के स्थान पर जनसंकुल संसार खड़ा है। उसकी महिमा देखो, उसकी स्तुति-गान से दिशाओं को गुँजा दो, उसकी ऊर्जस्वित शिराओं को निहारो, 'समानो मन्त्रः समितिः समानी', 'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्!' के उद्घोष करो!

१०

भारतीयता का प्रश्न

इधर कुछ काल से भारतीयता-अभारतीयता की आवाज़ विशेष सुन पड़ने लगी है। आश्चर्य तो यह है कि यह आवाज़ विशेष कर एक ऐसा वर्ग उठा रहा है जो भारतीयता के कल्याण में सबसे बड़ा बाधक रहा है। इसी कारण उसकी आवाज़ में स्वाभाविक ही हँसी आती है।

इस आवाज़ का एक विशेष उद्देश्य है—'स्टेटस् को' (जैसा का तैसा, रूढ़िवादिता) को भरसक कायम रखना। वे समझते हैं कि रूढ़िवादिता का नाश हो जाने पर प्रतिक्रियावाद भी नष्ट हो जायगा और स्टेटस् को बिगड़ जाने पर स्वयं वे कहीं के न रह जायँगे क्योंकि आगत वर्तमान और अनागत भविष्य के लिए उनके पास पूँजी नहीं है।

उनकी समझ में जो कुछ प्रगतिशील है, जिस किसी वस्तु में प्रकाश है, जो कुछ भी नवीन है, वह सारा अभारतीय है। उनकी दृष्टि में सती प्रथा, विधवा-विवाह-विरोध, बाल-विवाह, बहु-विवाह, वर्ण-व्यवस्था, अछूत, छुआछूत आदि भारतीय हैं। उनके विचार में भारतीयता और भलाई एक वस्तु है, इसलिए सुधार उसमें टिकता ही नहीं, उसके लिए उसमें जगह ही नहीं। फूहड़पन, रूढ़िता का अजीर्ण, अज्ञान, अविद्या ही उनके विचार में भारतीयता के पाये हैं।

यदि भारतीयता-अभारतीयता का विश्लेषण आरम्भ किया जाय तो भारतीयता के पोषक चक्कर में आ जायेंगे। उनको शायद तब ऐसा लगेगा कि वे अब तक बन्दर की पूँछ पकड़ने के बजाय जामुन की जड़ पकड़े हुए थे। हमारे जीवन और सामाजिक आचार का कौन सा अंश भारतीय है, कौन-सा अभारतीय, इस सम्बन्ध में सबसे कम जानकार ये अबौद्धिक भारतीयतावादी हैं।

इतना कम-से-कम सही है कि प्राचीन भारत ने कभी इस प्रकार का नारा नहीं लगाया। इसका सबसे बड़ा सबूत तो यही है कि इस प्रकार का नारा सारे संस्कृत साहित्य में कहीं न मिलेगा यद्यपि यह देश जितना आक्रमणों का शिकार हुआ है उतना कोई और नहीं और यदि इस प्रकार के विचार प्राचीनों के मन में उठते तो उनके लिये अनेक अवसर इतिहास में प्रस्तुत हुए थे।

परन्तु इस विचार और भावना से प्राचीन भारतीय कभी प्रभावित न थे। उनका सबसे बड़ा बल और महत्ता अभारतीय विषयों, वस्तुओं, वेशों विचारों के अंगीकरण और   में थी उनकी सांस्कृतिक शृंखला की कड़ी-कड़ी अभार

तीयता से बनी है। उनके भोजन-वसन, कला-साहित्य, खान-पान, भाषा-ज्ञान सभी पर विदेशों की छाप है और उस छाप को उन्होंने अपना कहकर उस पर गर्व किया क्योंकि उनमें उन छापों के अंगीकरण के बावजूद मूलतः सृजन की शक्ति थी।

और यदि हम इस पर विचार करें कि वह छाप कहाँ-कहाँ है तो हमें समय और स्थल का अभाव हो जायेगा परन्तु उसकी कथा न रुकेगी। वह छाप हमारी राजनीति पर, समाज पर, साहित्य पर, शिक्षा पर, अर्थशास्त्र पर, सर्वत्र स्पष्ट है।

राजनीति में आज हम जो कुछ देख रहे हैं वह अधिकतर अभारतीय है। निर्वाचन, मताधिकार, लोकतन्त्र, पार्ल्यामेण्टी-पद्धति, विविध धारा-सभाएँ, केन्द्रीय संघ और उसके विभिन्न विधायक प्रान्त, प्रायः सभी नवीन है जिन्हें हमारे इतिहास ने नहीं जाना है। निर्वाचन का एक कृत्रिम रूप शायद हमारे यहाँ था, पल्लवों और चोलों की ग्राम-समितियों की बनावट में, परन्तु वह निर्वाचन किस प्रकार का था? उम्मेदवारों के नाम लिखकर एक मटके में डाल दिये जाते थे और एक बालक उनमें से बारी-बारी से उतने नाम निकाल लेता था जितने आवश्यक थे। वहाँ न किसी को मत देने का अधिकार था, न अपने सिद्धान्तों के निरूपण का। न कोई दल था न किसी सिद्धान्त के अनुसार निर्वाचन-पद्धति थी। शाक्यों के संस्थागार में शलाका-ग्राहापण-पद्धति रही हो, सम्भव है, परन्तु उससे आज की भारतीय राजनीति अथवा मतदान की रीति तो विकसित हुई नहीं, उसे तो हमने सीधा इंगलैण्ड से लिया। ग्राम-समितियों का निर्वाचन, जैसा हमने ऊपर देखा, सरासर लालबुझक्कड़ी है। न तो तब जनता का उस चुनाव से कोई सम्बन्ध था, न कोई वहाँ फ्रेंचाइज़ थी।

गण और उसके संघ निश्चय अराजक शासन के रूप थे परन्तु उनकी समता आज की पार्ल्यमेण्टी पद्धति से कर उतनी ही बड़ी मूर्खता होगी जितनी ग्रीक नगर तन्त्रों के साथ आधुनिक यूरोपीय पार्ल्यमेण्टी-पद्धति की। और इन सारी राजनीतिक प्रणालियों को हमने बिना उन्हें अभारतीय कहे स्वीकार किया है!

इसी प्रकार समाज का वर्तमान रूप भी अधिकतर अभारतीय है। हमें यह न भूलना चाहिए कि हम द्रविड़ से आर्य हुए हैं, आर्य से हिन्दू और हिन्दू से हिन्दुस्तानी, और द्रविड़ तथा हिन्दुस्तानी के दोनों सिरों के बीच अनेक जातीय धाराओं का संगम है, अनेक रक्तों का सम्मिश्रण। आज जो हमने अछूतों को समान माना है, उन्हें और शूद्रों को भूमि का समान स्वामी माना है, अपनी धारा सभाओं के प्रतिनिधियों के चुनाव में समानाधिकारी माना है, नारी को अपने बराबर के अधिकार दिये हैं, उसे सदियों की बेड़ियों से मुक्त करते जा रहे हैं—यह सारा भी तो अभारतीय ही है।

छुआछूत का अन्त हुआ जा रहा है, घरके बाहर खाना-पीना चल रहा है, दकियानूसी पिता का उदारबुद्धि पुत्र सार्वजनिक दावतों में शामिल होने लगा है, यह सब क्या कुछ कम अभारतीय हैं? हम यज्ञोपवीत, जो कभी वेदारम्भ या शिक्षा के आरम्भ का प्रतीक या आधी पढाई समाप्त करके लेने लगे हैं, और एक ही बैठकमें वहां मुंडितमस्तक हो पीला कोपीन बाँध दण्ड और लेखन-पट्टिका ले ब्रह्मचर्य उपनयन

करते हैं, वहीं शिक्षांत का प्रतीक समावर्तन भी कर लेते हैं और इत्यादि गांधिक द्रव्यों को लगा विवाह के अधिकारी भी बन जाते हैं! और यह सारा व्यवसाय हिन्दुत्व और भारतीयता की नाक काशी में विश्वनाथ की आँखों के सामने गंगा के तट पर सम्पन्न हो जाता है, चाहे वह संस्कार प्रकाड पंडित शिवकुमार शास्त्री के पुत्र का हो चाहे निरक्षर भट्ट मँगरू पांडे के पुत्र का। यहाँ भारतीयता को बचाने का प्रश्न नहीं उठता क्योंकि सुविधा की बात है न। और कहावत सही है कि 'बाम्हन की बछिया कभी मूर मे नहीं पड़ती।' समाज के अन्दर ऐतिहासिक युगोंमें और विशेषकर अंग्रेजों के आने के बाद जो आमूल परिवर्तन हुए है उनका परिगणन असम्भव हो जायेगा क्योंकि उनका विस्तार बड़ा है और उनकी संख्या गणनातीत।

साहित्य मे जितना हमने दूसरों को दिया नहीं उतना दूसरों से लिया है। दादी की कहानियाँ और पंचतंत्र-बृहत्कथामंजरी-कथा सरित्सागर-जातक की कथावे दूसरी हैं और प्रेमचन्द की सर्वथा दूसरी, जो आधुनिक यूरोप की देन है। इसी प्रकार आधुनिक उपन्यास भी इग्लैड और फ्रांस के साहित्यों के अंशतः अधिक उत्तराधिकारी है बनिस्बत सुबन्धु की वासवदत्ता अथवा बाण की कादम्बरी के।

हिन्दी काव्य का वर्तमान रूप न वाल्मीकि या कालिदास से प्रभावित है, न केशव और तुलसीदास से, न रीतिकालीन कवियों द्वारा ही। वह, इसके विरुद्ध, अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों के अत्यन्त निकट और उनसे प्रभावित है। आकार और भाव, शब्द योजना और व्यंजना सब में वर्ड्स्वर्थ, शेली, कीट्स, बाइरन का किसी-न-किसी अश में समावेश है।

इसी कारण उनकी आलोचना मे दण्डी और विश्वनाथ के मानदण्ड नहीं लगते, क्रोचे और आर्नल्ड के लगते हैं और अब रूबिन तथा एहरेनबर्ग के भी लगने लगे हैं। यह कुछ कम अभारतीयता नहीं कि हमारे गायन और उल्लास की वास्य-रीति तथा उन्मद काव्य-काया में विदेशी रसधारा बड़े वेग से प्रवाहित होने लगी है और हम उसमें आनन्द लेने और उस पर गर्व करने लगे हैं।

नाटक भी इसी प्रकार इस विदेशी बू-बास से बसे हैं और यद्यपि उनकी काया अनेक बार प्राचीन कथानकों से बनती है उनकी प्रकाशन शैली और रंगमंचीय डिरेक्शन अधिकतर अभारतीय होते हैं। फिर जो समसामयिक वस्तु-स्थिति का उनमे चित्रण मिलने लगा है वह भी प्राचीन भारतीय पद्धति से नितान्त भिन्न है और अब तो शा तथा गाल्स्वर्दी, इब्सन तथा ड्रिंकवाटर की आत्मा भी हमारे नाटकों में स्पष्ट बसने लगी है।

हमारा निबन्ध तो नितान्त नया है। प्राचीन काल में तो निबन्ध की शैली चली ही नहीं। वह तो सर्वथा विदेशों की ही देन है और इन दोनों को चुपचाप स्वीकार कर लेने में ही हमारी ईमानदारी और कल्याण है। गद्य-शैली बुरी-भली संस्कृत मे थी जरूर परन्तु निबन्ध की दृष्टि से वह सर्वथा शून्य थी। और जो था उसका हमारी गद्य-शैली के विकास से कोई सम्बन्ध नहीं

अब प्रश्न उठता है—यह अभारतीयता क्यों? इसलिए कि उसे रोकना, अगीकार न करना, हमारे बस की बात नहीं। जैसे हमने दूसरों को–शकों, कुषाणों, हूणो गूजरों, को–हजम किया है, जैसे हमने दूसरों के पाजामे-अंगरखे अपनाये हैं, जैसे हमने दूसरो की राजनीति कल्याणकर समझ स्वीकार की है, जैसे प्राचीनों ने ज्योतिष, कला, वेशभूषा, धर्म अपनाया था और जैसे हम आज साहित्यादि को अपना रहे हैं उसी प्रकार अपने जीवन, अपनी आयु और अपने हित के लिए अन्य विदेशी पहलुओ को भी अपनाना होगा।

और यह केवल अपने कल्याण के लिए ही नहीं, जमाने का तकाजा समझकर ही नहीं, वरन् इस विचार से कि इसके अपने भीतरी प्रवाह को हम रोक ही नहीं सकते। अब कोई सभ्य देश जगत् के अन्य देशों अथवा अन्य सस्कृतियों से अलग रह ही नही सकता। पहले भी वह केवल अपेक्षाकृत ही अलग रह सका है, प्रमाणतः नही। अब तो उसे सांनिध्य की आवश्यकतायें नितान्त सबल और अनिवार्य हो गई हैं। अब राष्ट्रों को आपस में सटकर ही रहना होगा, मित्रभाव से तो, शत्रु-भाव से तो।

इस कारण अब यह अभारतीयता का नारा उठाना छोड़ ही देना उचित है। यह निश्चय अर्थ की बात है कि न तो हमें सर्वथा पश्चिम का हर चीज में गुलाम हो जाना चाहिए और न हम सर्वथा प्रयास करके भी पश्चिम का गुलाम हो सकते है। तुर्की का ज्वलन्त उदाहरण हमारे सामने है। अतातुर्क कमाल पाशाने अपने देश को सर्वथा पश्चिमी रंग मे रंग डालना चाहा, अनेक अंशों तथा अर्थों में रंग भी दिया, परन्तु क्या हम नहीं जानते की तुर्की और फ्रांसीसी में कितना भेद है? जापान ने अंग्रेजी राजनीति और सामाजिक पद्धति इतनी अपनाई की अपने नागरिकों को 'बैरन' और 'मार्किस' की उपाधियाँ तक दे डालीं परन्तु जापानी अंग्रेज से कितना भिन्न है यह कहने की आवश्यकता न होगी।

इसलिए विदेशी श्रेयस्कर भावनाओं से भागने की आवश्यकता नहीं है और यदि ऐसी आवश्यकता आ ही पड़े कि उसका परिष्कार कर इस देश की प्रवृत्ति के अनुकूल कर स्वीकार करना उचित हो तो ऐसा करना चाहिए, परन्तु प्रकाश को दरवाजा बन्दकर बाहर करना न तो श्रेयस्कर ही होगा न सम्भव ही। और यदि यह अभारतीयता का नारा केवल प्रतिक्रियावादिता और रूढ़िवाद को जीवित रखने का एक जरिया है तो उसकी बात दूसरी है।

और हम जानते हैं कि बात है भी यही। भारतीयता के नाम पर अनवरत हानि अपने देश तथा समाज की होती जा रही है। भारतीयता की आवाज उठाकर स्वस्थ सुन्दर कल्याणकर परम्पराओं को स्वीकार करना उचित है, उन्हे रोकना अपने शिशुराष्ट्र को शुद्ध हवा से बंचित कर उसका दम घोटना है। हम जानते हैं कि प्रतिक्रियागामी शक्तियाँ यह नारा लगाने से फिर भी न चूकेंगी परन्तु नई परम्परा में जमे और बढ़े तरुणों का यह धर्म है कि वे नवराष्ट्र के निर्माण का कार्य अपने हाथ में लें और भारत को उसके उचित पद पर प्रतिष्ठित करें

११

आधुनिक हिन्दी साहित्य में मानवीय दृष्टिकोण

दृष्टिकोण, प्रायः सभी, आन्दोलनप्रधान रहे हैं, और यह मानवीय तो विशेषतः। बुद्ध और वज्रयानी सिद्धों के वर्ण धर्म पर प्रहार उसी दृष्टिकोण के द्योतक थे पर संसार की कला और साहित्य में वह दृष्टिकोण विशेष चुटीला यूरोपीय पुनर्जागरण (रेनैसाँ) के समय से हुआ। तब कृत्रिम ईसाई आचार शृंखला को तोड़, पीछे लौटकर, साहित्यकार-कलाकारों ने मानव की महिमा पहिचानी, पूर्वगामी क्लासिकल दृष्टि से मानव के रूप को पुलकित हो निहारा, गमकती मिट्टीके फूलोंको मन भर सूँघा, प्यार को चोर-सा छिपा नहीं रखा, उसे अधिकार देकर सेता। भारतीय संस्कृति का तो यह दृष्टिकोण सदा से प्राण रहा है—व्यास ने कभी मानव को ही केन्द्र मान कर कहा था—

गुह्यं तदिदं ब्रह्म ब्रवीमि। न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्।

अमरीकी आजादी की लड़ाई, फ्रांसीसी राज्यक्रांति, रूसी और चीनी क्रांतियाँ उसी दृष्टिकोण के विराम स्थल हैं। स्वयं भारत की आजादी की लड़ाई हमारे साहित्य मे मानव हितसाधन की आदिबिन्दु बनी। सन् सत्तावन के विप्लव ने हमारी आँखें कुछ खोल ही दी थीं, भारतेन्दु और उनके सहधर्मियों ने पिछली सदी में ही भारतीय मानवता के दीन चित्र खींचे।

पर उस दृष्टिकोण की विजयपताका प्रेमचन्द ने फहराई। उनके उपन्यासो ने पहली बार असाधारण और अभूतपूर्व योग्यता से गाँवों का चित्रण किया। उपेक्षित मानवता ने पहली बार साँस ली। पहले हिन्दू, फिर हिन्दू मुसलमान, फिर हिन्दू, मुसलमान और इसाई एक साथ चित्रित हुये और अन्त में ग्रामीण, दलित किसान, कुत्सित मजूर उभर-कर आये जिनकी हिन्दू मुसलमान-सी कोई जात नहीं होती। और यह परिणाम था पहले हिन्दू सुधारवादी आन्दोलनोंका, फिर भारतीय स्वतंत्रता के विविध आन्दोलनोंका, अन्ततः मार्क्सीय दृष्टिकोण केप्रचार का। उस मानवीय दृष्टिकोण को गद्य साहित्य, विशेषकर उपन्यास और कथा के क्षेत्र में यशपाल, नागार्जुन, रेणु, आदि ने कायम रखा, अनेक अन्य साहित्यकारों ने भी, यद्यपि पिछले कृतिकारो मे न तो प्रेमचन्द की गहरी मानवीयता उतर सकी, न मार्मिक अभिव्यंजना ही।

हाँ, कविता के क्षेत्रमें निश्चय वह दृष्टिकोण पहले दबी चिनगारी बनकर सामने आया फिर दावानल बन भड़क उठा। मैथलीशरण गुप्त ने 'भारत भारती' में अपनी स्थिति पर विचार किया अन्यत्र भी वे जब तब तड़प उठे

बनता है दिन रात हमारा रुधिर पसीना,
जाता है सर्वत्र सूद में फिर भी छीना।
हा हा खाना और सर्वदा आँसू पीना,
नहीं चाहिये, नाथ! हमें अब ऐसा जीना।

रामनरेश त्रिपाठी ने तो मानवीयताकी माँग पर खण्ड काव्य ही लिख डाला—'पथिक'। माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय कविता के कर्णधार बने। 'नवीन' तमक कर चेता—

जिनके हाथों में हल बक्खर जिनके हाथों में धन है।
जिनके हाथों में हँसिया है, वे भूखे हैं, निर्धन हैं।

आज 'क्वासि' का प्रश्नकर्ता निश्चय 'हल हँसिया' की निर्धनता से विकल ना हो पाता!

नितान्त सूक्ष्म मृणालतन्तुओं से बने हमारे कवि पन्त की वाणी भी मर्म को वे. मानव के प्रति फूटी···

अचिर विश्व में अखिल दिशा वधि, कर्म, वचन, मन,
तुम्हीं चिरन्तन, अहे विवर्तन हीन विवर्तन।
प्रकृति धाम यह तृण तृण कण कण जहाँ प्रफुल्लित जीवित
यहाँ अकेला मानव ही रे चिर विषण्ण, जीवन्मृत।

फिर तो वह कह ही उठा—

वृथा धर्म गणतंत्र—उन्हें यदि प्रिय न जीव जन जीवन।

उसने जो गाँवों की गन्दी और दरिद्रता देखी तो लगा कि हमारे चिन्तक भूमि से दूर शून्य का चिन्तन करते रहे हैं। धिक्कारा उसने उन्हें—

ताक रहे हो गगन? मृत्यु नीलिका गहन गगन?
निःस्पन्द शून्य, निर्जन, निःस्वन?
देखो भू को, स्वर्गिक भू को!
मानव पुण्य प्रसू को!

उसने स्वयं फिर धरा की ओर देखा, उसके गाँवों की ओर, उपेक्षित वर्गों की ओर। गाँव की गोरी उसे अपनी स्वस्थ ताज़गी से निश्छल शालीनता से, आकृष्ट करने लगी। प्रकृत कवि गा उठा—

तन पर यौवन सुषमाशाली,
मुख पर श्रमकण, रवि की लाली,
सिर पर धर स्वर्ण शस्य डाली,
वह मेड़ों पर आती जाती
उरु मटकाती
कटि लचकाती
चिर वर्षातप हिम की पाली

धनि श्यामवरण,
अति क्षिप्रचरण,
अधरों से धरे पकी बाली

निःसन्देह 'ग्राम्य युवती' नागरिक बटरफ्लाई से भिन्न थी, टटकी! और उससे भी कहीं तीक्ष्ण तो धोबियों के नाच का वह दृश्य था, गुजरिया का जो आप उनकी 'ग्राम्या' में पढ़ सकते हैं!

वह काम शिखा सी रही सिहर,
नट की कटि में लालसा भँवर
कँप कँप नितम्ब उसके थर् थर्
भर रहे घंटियों में रति स्वर,
लो, छन छन, छन छन,
मस्त गुजरिया हरती मन!
लहराता लँहगा लहर लहर
उड़ रही ओढ़नी फर् फर् फर्
चोली के कन्दुक रहे उभर
(स्त्री नहीं गुजरिया, वह है नर)
लो, छन छन, छन छन,
हुलस गुजरिया हरती मन!

इस गाँव के उन्मुक्त जीवन से कवि को लगा—

तोड़ युगों के स्वर्णपाश अब मुक्त हो रहा मानव!

जैसे प्रगतिशील कवि 'सुमन' कड़क उठा हो—

तोड़ कर बन्धन युगों का आज मानव आ रहा है!

पर मानवीय दृष्टिकोण को मानव की बन्दी सचेत आत्मा को खुलकर चित्रित किया तब के नरेन्द्र ने—

आओ हथकड़ियाँ तड़का दूँ, जागो रे नतशिर बन्दी!
उन निर्जीव शून्य श्वासों में
आज फूँक दूँ लो नवजीवन,
भर दूँ उनमें तूफ़ानों का,
अगणित भूचालों का कम्पन
प्रलयवाहिनी हों, स्वतंत्र हों, तेरी ये साँसें बन्दी!
उठो सूर्य से चीर तिमिर को, उठो, उठो, नतशिर बन्दी!

फिर जगे कवि का खिन्न स्वर भटके शृंगारी कवियों की अभ्यर्थना कर उठा—

बहुत बज चुकी जर्जर वीणा, बहुत प्रेम का गान हुआ,
बहुत हो चुका रास रंग, कवि, बहुत, दिनों मधुपान हुआ,
वे सब सपने की बातें थीं, ज़रा सत्य को अपनाओ,
बहुत दिनों तक हुआ न्याय का, और बहुत अपमान हुआ !

सान्दों शब्द 'सुमन' ने वही आवाज़ अपने 'अभिशप्त तुम्हारा कवि जीवन' में फिर बुलन्द की।

और शीघ्र ही एक ऐसे कवि ने इस मानवीय तत्व से दूर गये कवियों को धिक्कारा जिसकी कल्पना तक नहीं कर सकते ! भावनायें तभी फलती हैं कि उनसे लोक के कल्याणका अंकुर कहीं फूटे—

कवि, हृदय को लग गई है ठेस !
धरा में हल चलेगा।
मगर तुम तो गरेबाँ टोह कर देखो
कि क्या वह लोक के कल्याण का भी
बीज तुम में है ?

पूछिये कौन है यह ? मानवीय कवि सिद्धान्त रख दिया है उसने अपनी इन पंक्तियों में।

और भी कहता है वही—

तुम, जो बड़े बड़े गद्दों पर ऊँची दूकानों में,
उन्हें कोसते हो जो भूखे मरते हैं खानों में,
तुम, जो रक्त चूस ठठरी को देते हो जलदान
सुनो, तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा के गान।
तुम, सत्ताधारी, मानवता के शव पर आसीन,
जीवन के चिररिपु, विकास के प्रतिद्वन्द्वी प्राचीन,
तुम, श्मशान के देव, सुनो यह रणभेरी की तान...
आज तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा के गान !

यकीन होगा आपको कि यह घोर व्यक्तिवादी कवि अज्ञेय उच्चारित कर रहा है ! मानवीयता का अनिवार्य जादू सिर पर चढ़कर बोल रहा है। खेद कि वह मानवीय दृष्टिकोण कुछ काल बाद फाँसी के तख्ते से लौटे कवि को सन्दिग्ध हो चला—

बन्धु हैं नदियाँ
प्रकृति भी बन्धु है,
और क्या जाने, कदाचित्
बन्धु
मानव भी

पर मानवता का राज कुछ ऐसा है जो चैन नहीं लेने देता अज्ञेय में फिर एक बार

स्पन्दन होता है—

बहुत दिनों के बाद आज कवि,
मुझ में फिर कुछ जाग रहा है,
दर्द भरे अप्रतिहत स्वर में
जाने क्या कुछ माँग रहा है
मेरे प्राणों के तारों को छू कर फिर तड़पा दो।

निःसन्देह कुछ जाग रहा है कवि में वरना वह 'उनकी तो दृष्टि और होती है', शीर्षक कविता हरगिज न लिखता। शायद उसने अपना गरेबाँ टोह कर देखा है और पाया है कि 'लोक के कल्याण का भी बीज' उसमें है।

इसी प्रकार तब 'दिनकर' की मानवीय चेतना भी जग चली थी, क्योंकि उसने पूछ कर उत्तर दिया था—

आरती लिये तू किसे ढूँढ़ता है मूरख,
मन्दिरों, राजप्रासादों में, तहखानों में?
देवता कहीं सड़कों पर गिट्टी तोड़ रहे,
देवता मिलेंगे खेतों में, खलिहानों में।

स्वयं रोमैंटिक बच्चन उस मानवीय दृष्टिकोण से सर्वथा न बचा रह सका। बोला—

मर्त्य की मिट्टी तू म्रियमाण,
साधना तेरी सब स्वर्गीय,
देवतों में तू ईर्ष्या पात्र,
मानवों में तू है दयनीय,

भगवती चरण वर्मा ने भी अपनी 'भैंसागाड़ी' के जरिये वही दृष्टिकोण पेश किया। पर उसके विशिष्ट कवि हैं निराला, केदार और सुमन। क्रान्तिवादी निराला की बस कुछ लाइनें सुना कर सन्तोष करूँगा—

रुद्धकोष, है क्षुब्धतोष,
अंगना अंग से लिपटे भी
आतंक अंक पर काँप रहे हैं
धनी, वज्रगर्जन से बादल!
त्रस्त नयन मुख ढाँप रहे हैं
जीर्णबाहु, है शीर्ण शरीर
तुझे बुलाता कृषक अधीर,
ऐ विप्लव के वीर।

केदार का सम्बन्ध तो मानवीय संघर्षों के आन्दोलन से प्राय आरम्भ से ही जुड़ा रहा है उसकी प्राय: सभी कवितायें इस दिशा की ही द्योतक हैं उसका अद्यतन कवितोच

फिर भी सुन लीजिये।

कहते हैं मुझको प्रेम दूत हूँ तुम्हारा
मैं हूँ दिव्य तारा।
मृत्यु के अँधेरे में खोया नहीं हारा,
बारंबार मैंने तुम्हें खोजा है उबारा,
प्राणों से सँवारा॥

मानवीय दृष्टिकोण की कविताओं मे 'सुमन' का योग विशिष्ट रहा है। 'गांधी' 'निराला', 'नई आग', 'दिवाली' आदि उसकी इस दिशा मे प्रशस्त रचनाये है। 'प्रलय सृजन' मे उसकी इस प्रकार की अनेक कविताये संगृहीत है। 'सुमन' की एक बडी लोकप्रिय कविता 'बंगाल का अकाल' की कुछ लाइने इस प्रकार थी—

इस ओर पड़ी खानाबदोश मेहनतकश मानव की पाँतें
फुटपाथों की चट्टानों पर जो काट रही अपनी रातें,
सोई हैं उनकी आशायें कंकड़ पत्थर पर आज विवश
गिर पड़े गाज प्रासादों पर ढह जायँ समुन्नत स्वर्ण कलश।

वर्ग की विषमताओं और मानवीय भावतत्व की ओर जन कवि शील ने बड़े ओज से सकेत किया है—

जल रहा रक्त की ज्वाला में कंकाल विषमता का विषाद,
संघर्ष क्रान्ति की छाती से कर चुका पलायन भाग्यवाद।
रख चुकी अशोषित मानवता नूतन भविष्य की ओर चरण,
जनरव के चित्र उतार रहा कवि कुल की वाणी का निनाद,
मिटने की जागृति तृष्णा में डगमगा रहे हैं सिंहासन
गीतों की धरती पर नाचो उन्चास पवन, बरसो सावन !

मानव ठमकता नही सदा चलता ही रहता है, उसके सारे अध्यवसाय, अभिनव साधे, सघर्ष सभी प्रगतिशील है, मानवतावादी दृष्टिकोण भी उसी के अनुसार अभिव्यक्त होता है। आज के आकाश पर युद्ध के बादल मँडरा रहे हैं, शान्ति को मानवता अपनी ही रक्षा के लिए कायम रखना चाहती है। हमारे नवकवि समूची मानवीय सृष्टि को एकस्थ देखते हैं। देश-देश की जनता में उन्हें भेद नही। इसी से उनकी भारती और विशद् हो चली है। नरेश मेहता इस क्षेत्र में बड़े प्रौढ़ हैं—

नगर दीवारों के वे टूटे फूटे बुर्जे घास की बढ़ डाढ़ियाँ
गोलों के ले घाव सोचते ढह जाने की
पंख और डाढ़ी वाले उन शेरों की वे शिला मूर्तियाँ
पानी भरे धान खेतों में खड़ी हुई हैं देती पहरा
राजमंदिरों के खमों पर बने हुये ये तेज़ दाँत के उड़ते ड्रैगन
रग ओढ़ कर हाँफ रहे हैं

झुरियाँ पागल जैसी अन्ध हवायें चीख रही हैं रक्तसनी वे,
इन सत्ताधूरों के ऊपर धुएँ जला इतिहास खड़ा है,
ज्वालाओं के जिसके केश दिशा कन्धों पर जली घास से लहर रहे हैं
सदियों के कोड़ों ने खींची रक्तनदियाँ
महाकाश के नील क्रास पर महामनुज वह रक्त सेना बेहोश आज फिर जाग उठा है।

शमशेर बहादुर सिंह की एक कविता सुनाता हूँ—

देखो न हक़ीक़त हमारे समय की कि जिसमें
होमर एक हिन्दी कवि सरदार जाफ़री को
इशारे से अपने क़रीब बुला रहा है
कि जिसमें
फ़ैयाज़ख़ाँ बिटोफ़ेन के कान में कुछ कह रहा है
मैंने समझा कि संगीत की कोई अमर लता हिल उठी
मैं शेक्सपियर का ऊँचा माथा उज्जैन की घाटियों में
झलकता हुआ देख रहा हूँ,
और कालिदास को वेमर के कुंजों में विहार करते
और आज तो मेरा टैगोर मेरा हाफ़िज़ मेरा तुलसी मेरा ग़ालिब
एक एक मेरे दिल के जगमग पावर हाउस का
कुशल आपरेटर है।
आज सब तुम्हारे ही लिये शान्ति का युग चाहते हैं
मेरी कुट्टबुट्ट
तुम्हारे ही लिये मेरे प्रतिभा शाली भाई तेजसिंह
मेरे गुलाब की कलियों से हँसते खेलते बच्चो
तुम्हारे ही लिये तुम्हारे ही लिये
मेरे दोस्तो जिन से ज़िन्दगी में मानी पैदा होते हैं
और उस निश्छल प्रेम के लिये जो माँ की मूर्ति है
और उस अमर परम शक्ति के लिये जो पिता का रूप है
हर घर में सुख
शान्ति का युग
हर छोटा बड़ा हर नया पुराना हर आज कल परसों के
आगे और पीछे का युग
शान्ति की स्निग्ध कला में डूबा हुआ
क्यों कि इसी कला का नाम जीवन की भरी पुरी गति है
मुझे अमरीका का लिबर्टी स्टैचू उतना ही प्यारा है

जितना मास्को का लाल तारा
और मेरे दिल में पेकिंग का स्वर्गीय महल
मक्का मदीना से कम पवित्र नहीं
मैं काशी में उन आर्यों का शंखनाद सुनता हूँ
जो वोल्गा से आये
मेरी देहली में प्रह्लाद की तपस्याएँ दोनों दुनियाओं की चौखट पर
युद्ध के हिरण्यकश्यप को चीर रही हैं

सुनी आपने ये पंक्तियाँ ? देखा कितनी सबल हैं ? यह मानवीय दृष्टिकोण का अगला अन्तर्जातीय कदम है, जिसे खुशी है कि हमारे तरुण कवियों ने उठाया है, और चूँकि एक समूचा जीवन उनके सामने है, बखूबी वे डग भरेंगे।

१२

अक्कादी साहित्य

अक्कादी साहित्य का तात्पर्य उन सारे नगरों के साहित्य से है जो अति प्राचीन काल में (३०००-६०० ई० पू०) मध्य और दक्षिण ईराक तथा दक्षिण-पश्चिमी ईरान पर छाये हुए थे और जिन्हें सुमेरी एलामी-बाबुली (अक्कादी) असुरी सभ्यता का नाम दिया जाता है।

वह साहित्य बहुत पुराना है प्रायः उतना जितनी वह सभ्यता पुरानी है, सुमेरी सभ्यता। सदियों सहस्राब्दियों दजला-फरात के द्वाबा के दक्षिणी भाग में, फिर मध्य और उत्तर में, पश्चिम और पूर्व में गीली ईंटों पर कीलनुमा अक्षरों से (जिससे लिपि का नाम "क्यूनीफार्म" पड़ा) साहित्य लिखा गया। उस अगाध भंडार में सभी सुरक्षित भी न रह सका, अधिकांश नष्ट हो गया, फिर भी बहुत कुछ बच रहा, विशेषतः एक असुर सम्राट, असुर-बनिपाल के अध्यवसाय से।

ईसा पूर्व तीसरी सहस्राब्दी में ही इस साहित्य का निर्माण शुरू हो गया था परन्तु समय-समय पर मौसम और मनुष्य दोनों उसे नष्ट कर देते थे। सातवीं सदी ई० पू० के इस असुरबनिपाल (६६८–२६ ई० पू०) को इसकी रक्षा की ऐसी लगन लगी कि उसने अपने ग्रंथागार में हजारों लिखी ईंटें, खुदे पत्थर, एकत्र कर लिये। यदि वे सारे एक ही जगह उस प्राचीन काल में ही एक भावुक मानव की निष्ठा से संरक्षित न कर लिये गये होते तो सम्भवतः हमें उस प्राचीन सभ्यता के साहित्य का बोध न होता।

इस संगृहीत सामग्री में काव्य, कानून, अनुवृत्त, धर्मशास्त्र, सूक्त सभी कुछ था। इस भंडार के रत्नों का हम यहाँ विवरण देंगे।

सुमेरी साहित्य और इस अर्थ में विश्व-साहित्य का प्राचीनतम ऐतिहासिक (वीर-महा) काव्य (एपिक) "गिल्गमेश" है। यह उस जल-प्रलय की कहानी है जिसका उल्लेख प्रायः सारी सभ्यताओं के साहित्य में मिलता है। उस जल-प्रलय से सृष्टि की रक्षा बाइबिल में नूह करता है, शतपथ ब्राह्मण में मनु। वह जलप्रलय सुमेर में ईसा पूर्व ३५०० के लगभग हुआ। उरुक में पुराविदों ने बाढ़ और वर्षा के जल से लाई पाँच फुट गहरी मिट्टी खोद डाली है। उस जल-प्रलय का पहला लोमहर्षण वर्णन सुमेरी में २५०० ई० पूर्व के लगभग लिखा गया, शतपथ ब्राह्मण की जल-प्रलयवाली कथा से प्राय डेढ़ हजार वर्ष पहले उसी का रूप कुछ काल बाद फिर 'गिल्गमेश' नाम से रचा गया जो १२ ईंटों पर खुदा हुआ असुर बनिपाल के ग्रन्थ-सग्रह में असुरों

की राजधानी निनेवे में मिला।

गिलगमेश काव्य के भीतर काव्य है। काव्य का हीरो गिलगमेश है परन्तु उसके भीतर आये जलप्लावन का वर्णन जलप्लावन के हीरो, गिलगमेश का पूर्वज, जिउसुद्दू करता है। वह शुरुप्पक का रहनेवाला है, सुमेरी बाबुली कथाओं का मनु। गिलगमेश महाकाव्य में वही जिउसुद्दू अपने वंशधर और काव्य के नायक गिलगमेश से जल-प्रलय की कथा इस प्रकार कहता है :—

"मैं तुमसे एक भेद की बात कहूँगा, रहस्या और तुझसे देवताओं की मंत्रणा तक कह दूँगा। नगर शुरुप्पक को तू जानता है, उसे जो फरात (फरात्) के तट पर है— वह नगर पुराना हो गया था और उसमें बसनेवाले देवता—महान् देवता—उनके चित्त में हुआ कि जल-प्रलय करें"

"दिव्य स्वामिन्—नेक देवता एँकी—उनके विरुद्ध था। उसने उनकी मंत्रणा एक नरकट की झोपड़ी को सुना कर कही—"नरकट की झोपड़ी, दीवार, ओ दीवार। सुन, हे नरकट की झोपड़ी, समझ, ओ दीवार।"

यह इस प्रकार झोपड़ी के बहाने इसलिए कहा गया था कि जिउसुद्दू, जो उसी झोपड़ी में सो रहा था, सुनले। फिर देवता ने खुल कर उससे कहा—

"शुरुप्पक के मानव, उबर्बुदू के पुत्र, घर को गिरा डाल, एक नौका बना, माल असबाब छोड़ दे, जान की फिक्र कर। जायदाद को तोबा कर और (अचानक मर नहीं) जिन्दगी बचा ले। सारे जीवों के बीज चुन ले और नौका के बीच ला रख।"

जिउसुद्दू ने नौका बनाई और उसे जीव-बीजों से, भोजन आदि से भर लिया और नगर वासियों से वह बोला—शक्तिमान-पवन देवता एनिलल उससे घृणा करता है, इससे वह (जिउसुद्दू) अब उनके बीच नहीं रहेगा। जाते समय उसने अपने परिवार को नाव में चढ़ा उसे सब ओर से बन्द कर लिया और तब भयानक तूफान आया और काले विकराल मेघों के बीच स्वयं देवताओं को समस्त नागरिकों ने मशाल चमकाते देखा।

"भाई-भाई को न पहचान पाता था। सूने और आदमी में कोई फर्क नहीं था (लोग दिखाई नहीं पड़ते थे)। स्वयं देवताओं को जलप्लावन से भय हो चला। वे सरके। वे देवता अन के स्वर्ग जा पहुँचे। देवता कुत्तों की भाँति भय से काँप रहे थे, स्वर्ग की देहली में एक दूसरे से चिपटे। देवी इक्षा (सुमेरी मातृ-देवी-सामियों की इश्तर अथवा अस्तार्ते-सी) प्रसव पीड़ित नारी की भाँति चीख उठी। वह मधु-भाषिणी देव पत्नी रो-रो कर देवताओं से कहने लगी—'दिन मिट्टी हो जाय क्योंकि मैंने देवसभा में अनुचित कहा। भला क्यों देवताओं की सभा में मैंने कुवाच्य कहा। क्यों अपनी ही प्रजा के नाश के लिए तूफान बरपा किया? मैंने क्या अपनी प्रजा को इसलिए जना कि उनसे मछलियों के अंडों की तरह समुद्र भर जाय!"

छः दिन और सात रात तूफान और जल की बाढ़ उमड़ती रही और जल की सतह पर बहता जिउसुद्दू अपने साथियों के लिए जार जार रोता रहा। पर्वत शृंखला

के ऊँचे शिखर मात्र जल के ऊपर थे और इन्हीं में से एक से नौका जा लगी। और सप्ताह भर वहीं लगी रही। जिउसुद्दू कहता गया—

"सातवें दिन मैंने एक कबूतर निकाला और उड़ा दिया। कबूतर उड़ गया। वह चहुँ ओर उड़ता रहा पर कहीं उतरने को जगह न मिली और वह लौट आया। मैंने एक अबाबील निकाली और उड़ा दी। अबाबील उड़ गई। वह चहुँओर उड़ती रही पर कहीं उतरने को जगह न मिली और वह लौट आई। मैंने एक काग निकाला और उड़ा दिया। काग उड़ गया और उसने घटते हुए जल को देखा। उसने (दाना) चुगा, जल हेला, डुबकियाँ लगाईं, लौट कर नहीं आया। मैंने (हविश) निकाला और कुर्बानी की (यज्ञ किया)—चारों हवाओं के प्रति पर्वत की उत्तुंग शिला पर मैंने आपान (मदिरा) चढ़ाया, सात और सात बोतल रख दिये। उनके नीचे वेन, दारु और धूप और अगरु बिखेरे। देवताओं ने सुरभि सूँघी, देवता यज्ञ के स्वामी के चारों ओर इकट्ठे हो गये। अन्त में देवी (इनन्ना) ने पहुँच कर वह ग्रैवेयक (हार) उठा कर जो देव अन ने उसके कहने से बनाया था, कहा—'देवताओ, जैसे मैं अपने गले की नील मणियों को नहीं भूलती उसी प्रकार मैं इन दिनों को नहीं भूल सकती, इन्हें सदा याद रक्खूँगी। देवता यज्ञ में पधारें, परन्तु एन्लिल न आवे, इस यज्ञ का भाग वह न पावे, क्योंकि उसने कहना न माना, क्योंकि उसने जलप्रलय की सृष्टि और नाश के लिए मेरी एक एक प्रजा गिन ली।' तब देवता एन्लिल ने आने पर नाव देखी। एन्लिल क्रुद्ध हो उठा।" उसने पूछा कि किस प्रकार कोई मर्त्य (उस प्रलय से) बच कर निकल गया। धीमान् और शिष्ट भूदेव एंकी ने उससे तर्क पूर्वक कहा—

"देवताओं के देवता, वीर, क्यों, तूने कहना नहीं माना और बरबस प्रलय किया? पाप पापी के ऊपर डाल सीमोल्लंघन का अपराध सीमा लाँघनेवाले पर। कृपा कर जिससे वह सर्वथा उच्छिन्न (एकाकी) न हो जाय। नितान्त विभ्रान्त (मूढ़) न हो जाय। तेरे जलप्रलय लाने से अच्छा है कि सिंह भेज कर प्रजा की संख्या कम कर दे। तेरे जलप्रलय लाने से अच्छा है भेड़िया भेजकर प्रजा की संख्या कम कर दे..."

क्रुद्ध देवता शान्त हो चला, एंकी कुछ के लिए पापों का दण्ड बहुतों को देनेवाले उस देव की भर्त्सना करता गया। अन्त में "एन्लिल नौका के भीतर चला आया। उसने मेरा हाथ पकड़ा और बाहर लाया, स्वयं मुझे। वह मेरी पत्नी को (भी) बाहर निकाल लाया और मेरी बगल में उससे घुटने झुकवाये (प्रणाम कराया)। उसने हमारे माथे का स्पर्श किया और हमारे बीच खड़े होकर हमें आशीर्वाद दिया—"पहले जिउसुद्दू मनुष्य था। पर अबसे जिउसुद्दू और उसकी पत्नी निश्चय हमारी तरह देवता होंगे। जिउसुद्दू और उसकी पत्नी नदियों के मुहाने में वास करेंगे।"

परन्तु जैसा ऊपर कहा जा चुका है, यह कहानी में कहानी है। जलप्रलय की कथा इस काव्य का अंतरग तो है और इसी से वही प्रधान भी है परन्तु काव्य स्वय

गिल्गमेश के पराक्रमों पर आधारित है जो इस प्रकार हैः—

(पहली ईंट) गिल्गमेश का पिता आधा अपार्थिव है आधा मानव और माता देवी निन्सुन (लुगालबन्दा की पत्नी) है। उसका उरुक राज्य का शासन इतना निरंकुश और अत्याचार व्यंजित है कि प्रजा देवताओं से रक्षा के लिए प्रार्थना करती है। देवताओं ने उसका अन्त करने के लिए एक विचित्र वनैला मानव सिरजा। इस एंकिदू का सारा बदन बालों से भरा था (—वैदिक वृषाकपि) और वह वन के पशुओं के साथ रहता था।

"उसने कभी नगर की भूमि न देखी थी, न मनुष्य। आखेट के हिरणों के साथ वह पौधे चरता। जल के पास मवेशियों में वह रहता।"

मरु के शिकारियों ने गिल्गमेश से उसकी शिकायत की कि वह अचरज का जीव उन्हें डरा देता है। पशुओं को उनके पास से छुड़ा कर स्वतंत्र कर देता है। गिल्गमेश ने उसे रिझाने के लिए सुन्दर देवदासी (मन्दिर की कन्या) भेजी जिससे एक बार पतन हो जाने पर पशु उससे मुँह फेर लें। वह अपने कार्य में सफल हुई और जब वह उसके आलिंगन से अलग हुआ तब—

"हरिणों ने उसे देखा, उस एंकिदू को, और भाग चले।
खेत के पशु उससे दूर-दूर हो चले।
क्योंकि एंकिदू की पवित्रता नष्ट हो चुकी थी।"

अपने पशु-मित्रों को छोड़ देने पर वह नारी के साथ उरुक पहुँचा। नारी ने गिल्गमेश के पराक्रम और शक्ति का वर्णन कर उसकी ईर्ष्या उभाड़ दी थी।

"मुझे उसे ललकारने दो। मैं गर्व से बोलूँगा।"
उरुक के नगर में चिल्ला कर कहूँगा—"शक्तिमान् मैं हूँ।
मैं, मैं जो प्रारब्ध को बदल सकता हूँ।
निश्चय मुझ मरु भूमि में जन्में की कूवत बड़ी है।"

एंकिदू के आने का पता गिल्गमेश को अपने सपने से चल गया था और उसकी माँ ने सपने का अर्थ यह लगाया था कि दोनों वीर मित्र हो जायेंगे। (दूसरी ईंट) नारी ने एंकिदू को नगर में लाकर उसे रोटी खाना, जौ की शराब पीना, तेल लगाना, नहाना, सभ्यता के सारे तरीके सिखा दिये थे। एंकिदू गिल्गमेश से लड़ा। खूब द्वंद्व-युद्ध हुआ। दोनों एक दूसरे की शक्ति से परिचित हो उसे सराहकर मित्र हो गये।

(तीसरी ईंट) फिर वे (सीरिया के) दारु वन की ओर चले जिसकी रक्षा हुआवा अथवा हुंबाब (हव्वा दैत्य—सम्भवतः जलहीन मरु का रूपक) करता था—

"हुवावा की गरज तूफान है,
उसका मुख-गह्वर आग।
उसकी साँस मृत्यु!"

एंकिदू पहले कुछ घबड़ाया परन्तु गिल्गमेश की महत्त्वाकांक्षा उसे प्रेरित करती रही। यद्यपि उरुक के वृद्ध और सूर्य देवता तक ने उन्हें मना किया दोनों दारु वन

की ओर चल पड़े। माता निन्सुन सूर्यदेव को मनाती रही। (चौथी ईंट टूट गई है पर जान पड़ता है) वे सकुशल दारु वन पहुँच गये। (पाँचवीं ईंट) गिल्गमेश को भयानक स्वप्न आये जिसका अर्थ एंकिदू ने हुवावा का संहार लगाया। दैत्य के मिलने पर गिलगमेश ने सूर्यदेव को याद किया और देवता ने जब आठ हवायें चलाकर हुवावा को विक्षिप्त कर दिया तब गिलगमेश ने उसका सिर काट लिया। (छठी ईंट) दोनों वीर विजयी होकर उरुक लौटे। अब देवी इनिन्ना, जिसके अनेक प्रिय पात्र थे, उस पर रीझ गई। परन्तु गिलगमेश ने उसे यह कहकर विमुख कर दिया कि उसके सभी प्रेमियों का भीषण अन्त हुआ—

"एक बार तूने शक्तिम सिंह को वरा,
पर तूने उसके लिये चौदह (दो सात) गड्ढे खोदे।
तब तूने समर में निश्चल अश्व को वरा,
पर तूने लगाम और कोड़ों से उसे विह्वल कर दिया।"

क्रोधाभिभूत देवी ने अपने पिता अन देवता से उसके संहार के लिए दिव्य वृषभ सिरजने को कहा। देवता ने उत्तर दिया कि इसका परिणाम पृथ्वी पर सात वर्ष तक अकाल होगा। परन्तु वनस्पतियों की स्वामिनी ने प्रत्युत्तर में कहा—

"सात वर्ष का अकाल होगा,
मैं स्वयं प्रजा के लिए अन्न बटोरूँगी।
मवेशियों के लिए लेहना उगाऊँगी।"

दिव्य वृषभ सिरज दिया गया। पहले सौ आदमी फिर दो सौ, और तब तीन सौ उससे लड़ने भेजे गये। उसने सबको मार डाला। तब एंकिदू ने उसकी सींगें पकड़कर उसे पटक दिया और गिलगमेश ने उसे मारकर इनिन्ना का घोरतर अपमान किया। वृषभ की सींगों से उन्हें साठ मन तेल मिला जिसे उन्होंने महार्ह रत्नों के दीप में डाल लुगालवन्दा के मन्दिर में जलाया। तब दोनों प्रीति भोज में बैठे और गिलगमेश ने पहले कहा—

"वीरों में शालीन कौन है,
वीरों में अप्रतिम कौन?'
'गिलगमेश वीरों में शालीन है,
एंकिदू वीरों में अप्रतिम है!"

उस रात एंकिदू ने एक भयानक स्वप्न देखा (सातवीं ईंट टूट गई परन्तु एशिया माइनर के बोगजकोए से मिले महाकाव्य के एक सत्ती अनुवाद से स्पष्ट है कि) उसने देखा कि देवताओं ने अपनी सभा में निश्चित किया कि एंकिदू वृषभ मारने के कारण मरे और गिलगमेश जीवित रहे। उसने जाकर बुरी तरह उस नारी को कोसना शुरू किया जिसने उसे पशु जीवन के निश्चल वातावरण से छल से लाकर विपज्जनक मानव जगत् में पटक दिया (बाबुली पाठ में) तब सूर्य देवता उसे धिक्कारता है

'एंकिदू तू देवदासी को क्यों कुवाच्य कहता है, उस आनन्द कन्या को?

केसने तुझे देवोचित रोटियाँ खाने को दीं, किसने पीने को राजोचित सु
तुझे प्रशस्त वस्त्र से ढका, और किसने तुझे एंकिदू तुझे, गिल्गमेश
मेत्र दिया ?

अब देखो वीर, गिल्गमेश तेरा भाई है,
तुझे समुन्नत पर्यंक पर लिटा देगा (मरने के बाद)।
सुख शैया पर तुझे वह लिटा देगा, वह गिल्गमेश,
और तुझे वह विश्राम सिंहासन पर बिठायेगा, अपनी बाईं ओर,
जिससे मुल्क के राजा तेरे चरण चूमें,
वह उरुक की जनता द्वारा शोक प्रकट करायेगा, तेरे लिए रुलाये
तेरी सेवा के लिए वह रखैलें और आदमी नियुक्त करेगा।"

(ऊर और कीश की कब्रों से इस वक्तव्य की सत्यता स्थापित ह
जहाँ राजाओं और श्रीमानों की लाश के साथ जीवित नारियाँ, दास, व
प्रभूत सामान दफनाये मिले हैं।) और तब एंकिदू ने प्रसन्न होकर मन्दि
आशीर्वाद दिया—

"शाह, राजा और अमीर तुझे प्यार करें!"

फिर एंकिदू ने एक और स्वप्न देखा जिसमें यमलोक का वर्णन था

"उस सदन की ओर जहाँ प्रवेश कर कोई लौटकर नहीं आता,
उस मार्ग से जो फिर लौटता नहीं,
उस सदन की ओर जिसमें बसनेवाले प्रकाश नहीं पाते,
जहाँ धूल (खाने के लिए) मास है, मिट्टी रोटी है,
और, जहाँ वे पक्षियों की भाँति परों के वस्त्र पहनते हैं,
और अन्धकार में रहते आलोक से वंचित रहते हैं।"

(आठवीं ईंट) गिल्गमेश अपने मरणासन्न मित्र को धीरज बँधाता
एंकिदू की शक्ति निरन्तर क्षीण होती जाती है—

"कैसे हो, कैसी नींद है यह जिसने तुझे जकड़ लिया है
तू काला पड़ गया है, मेरी आवाज नहीं सुनता!'
पर उसने अपनी आँखें नहीं खोलीं।
गिल्गमेश ने उसके हृदय पर हाथ रखा, गति बन्द थी
उसने (अपने मृत मित्र को) बधू की भाँति ढक दिया।"

गिल्गमेश उसके लिए कातर विलाप करने लगा परन्तु तभी र
दारुण विचार ने आ घेरा—क्या अपने मित्र की ही भाँति वह भी इसी
जायगा, अकड़कर गूँगा हो जायेगा? सन्त्रस्त हो उसने दूर बसनेवाले
को ढूँढ़ निकालने और उससे उस अमरता का भेद जानने का निश्चय कि
लय के पश्चात् ज़िउसुद्दू को देवताओं से प्राप्त हुआ था। (नवीं ईं
त्रा का वर्णन है) पहले वह पर्वतों पर चढ़ता है जिनकी रक्षा

मानव करते हैं जिनके सिर और धड़ मनुष्य के हैं, टाँग पक्षियों के और डंक बिच्छू के। तब उसे मद्यकन्या मिलती है। जो समुद्र की गहराइयों में रहती है और जिससे (दसवीं ईंट में) वह अपनी पिछली साहस पूर्ण यात्रा का वर्णन करता हुआ अमरता प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा घोषित करता है। मधुबाला (उमर खय्याम के स्वर में जैसे) कहती है—

"गिलगमेश तू दूर (विदेश) क्यों जा रहा है?
जो तू ढूँढ़ रहा है वह (अमर) जीवन तू नहीं पा सकता।
जब देवताओं ने मानव जाति को सिरजा,
तब उसके लिये मृत्यु की व्यवस्था की;
स्वयं उन्होंने अपने दोनों हाथों जीवन को पकड़ा!
और देख, गिलगमेश, तू तो अपना पेट भर!
दिन और रात तू ऐश कर'''
अपने सिर को धो डाल! जल में स्नान कर ले। अपने हाथ पकड़े शिशु को दुलार।
पहलू में बीबी को डालकर उसे सुखी कर।
यही, यही, आदमी की किस्मत है!"

गिलगमेश उससे आश्वस्त नहीं होता, चलता चला जाता है, जब तक कि जिउसुद्दू के मृत्यु के समुद्र में नाव चलानेवाले माँझी को नहीं ढूँढ़ निकालता। (यहाँ पाठ टूट गया है पर टूटी लिपि से ध्वनि निकलती है कि) वह क्रुद्ध होकर नौका की पाल फाड़ देता है, मस्तूल उखाड़ देता है। तब माँझी भी उसे मधुबाला की भाँति ही मरण को जन्म सिद्ध मान लौट जाने को कहता है। परन्तु जब वह लौटने को राजी नहीं होता तो माँझी उसे इस शर्त पर ले जाने को उद्यत होता है कि नाव को बढ़ाने के लिए वह बाँस काट लिया करे। "मृत्यु का समुद्र" विषाक्त था इससे नाव खेने के लिए प्रत्येक चोट के बाद बाँस को फेंक देना पड़ता था। बावन लग्गियों (की चोटों) के बाद अन्त में वह मृत्यु का समुद्र पार कर विस्मित अमर जिउसुद्दू के सामने जा खड़ा हुआ।

गिलगमेश ने मानव जाति को परम भय से मुक्त करने की अपनी उत्कट महत्वाकांक्षा घोषित करते हुए जिउसुद्दू से पूछा कि वह किस प्रकार अपने स्वाभाविक मरण भाग्य से मुक्त हो सका है। (ग्यारहवीं ईंट) तब जिउसुद्दू उससे जलप्रलय की कथा कहता है। यही जलप्रलय की कथा गिलगमेश एपिक की अन्तरंग है फिर वह कहता है कि यदि तुम अमर जीवन प्राप्त करना चाहते हो तो पहले सप्ताह भर बिना सोये रहो, जागो। परन्तु यात्रा के श्रम से गिलगमेश जागने की बजाय सप्ताह भर सोता है तब जिउसुद्दू उसे माँझी के साथ स्नान करके ताजा होने को भेजता है और लौटने पर उसे बताता है कि अमरता समुद्र तल में उगनेवाली एक औषधि

(पौधा) से प्राप्त होती है—

"उसके काँटे तेरे हाथ में गुलाब की भाँति चुभेंगे।
फिर भी यदि तू उस औषधि को पा ले तो जीवन (अमरता) को पा लेगा।
गिल्गमेश ने यह सुनकर कमरबन्द कसा।
और पैरों में भारी पत्थर बाँधे।
वे उसे गहरे तल में खींच ले गये और उसने वह औषधि देखी।
तब उसने पौधा उखाड़ लिया, और उसके काँटे उसके हाथ में चुभ गये।"

मोती निकालनेवाले पनडुब्बे आज भी फारस की खाड़ी में इसी प्रकार अपने पैरों में पत्थर बाँधते हैं। अब गिल्गमेश अपने पत्थरों की रस्सी काट मुक्त हो गया। उसके ऊपर प्रसन्न बदन पहुँचने पर माँझी उसे मृत्यु जगत् की ओर लौटा ले चला। साठ घण्टे निरन्तर चलते रहने से थककर गिल्गमेश विश्राम और सरोवर में स्नान करने के लिए रुका।

"एक सर्प ने औषधि की गन्ध पा ली।
जल से वह सर्प निकला और औषधि लेकर चम्पत हो गया।
(सरोवर) में लौट कर सर्प ने अपनी त्वचा (केंचुल) छोड़ दी, पुनर्जन्म हुआ।
तब गिल्गमेश बैठ कर रुदन करने लगा।
उसके गालों पर आँसू बह चले...
'किसके लिए मैंने अपने हृदय का रक्त सुखाया है?
मैंने अपने लिए कुछ (मूल) नहीं किया।
केवल धूल के नृशंस जीव (सर्प) का भला किया?"

प्रायः सभी प्राचीन सभ्यताओं के विश्वास में अमरता का रहस्य सर्प को ज्ञात है। समुद्र तल का पौधा वस्तुतः प्रवाल, मूँगा है जिसे सभी प्रारम्भिक जातियाँ संजीवनी मानती थीं। काव्य का वस्तुतः यहीं अन्त हो जाता है। उन्नत, उदात्त, श्रमशील मानव ने अपने साहस द्वारा देवताओं के अमृत रहस्य को ले लेना चाहा परन्तु विफल मनोरथ अन्ततः मृत्यु का शिकार हो उनका हास्यास्पद बना। (बारहवीं ईंट सम्भवतः बाद की है) गिल्गमेश, वृद्ध और व्याकुल परलोक की व्यवस्था जानने के लिए अपने मित्र के प्रेत से साक्षात्कार के लिए उन सारे तपुओं (तपसविधानों) को तोड़ देता है जो मानव को प्रेत की छाया से रक्षा करते हैं। देव नर्गल जो यमलोक पहुँच कर निकल भागा था, भूमि में छेद कर देता है और—

"एंकिदू का प्रेत वायु की भाँति पृथ्वी से निकल पड़ा।
दोनों सपद गले मिले। क्रन्दन करते वे बात करने लगे।
"बता, मेरे मित्र बता मेरे मित्र, बता कब्र के विधान जो तूने देखे हैं।"
'नहीं बताऊँगा मित्र, तुझे नहीं बताऊँगा, क्योंकि यदि अपने देखे कब्र के विधान तुझे बता दूँ, तो तू बैठा रोया करेगा।'
तो (कुछ परवाह नहीं) मुझे बैठकर रोने दे।'

एंकिदू के प्रेत ने तब बताया कि किस भयानक रीति से वस्त्र की भाँति शरीर शरीरको कीट चट जाते हैं। केवल वही परलोक में शान्ति पाते हैं जिनकी समाधि पर जीवित परन्तु अहार और पेय भेंट चढ़ाते हैं। अन्यथा प्रेत निरन्तर सड़कों पर घूमते अन्न खाते और नालियों का जल पीते रहते हैं। यहीं गिल्गमेश काव्य का नितान्त निराशा में अन्त हो जाता है। हाल के मिले काव्य की एक दूसरी प्रति से ज्ञात होता है कि गिल्गमेश को भी अन्ततः मरना पड़ा और मर कर उसने परलोक के देवताओं (जजों) में स्थान पाया।

यह काव्य इतना लोकप्रिय हुआ कि इसके अनुवाद गत्ती, हुर्री आदि भाषाओं में हुए और ग्रीक पुराणों पर इसका प्रभाव पड़ा। अनेक आर्य-अनार्य चीन आदि के पुराणों में भी जलप्लव की कथा गाई गई। भारतीय शतपथ ब्राह्मण और मनुस्मृति पर भी इसकी छाया पड़ी।

अक्कादी का दूसरा काव्य इरा (ईरा-इला-संस्कृत) का काव्य कहलाता है। इसमें प्रधानतः देवता इरा के मानव जाति के प्रति क्रोध का वर्णन है जिसके परिणाम स्वरूप निकट पूर्व की सारी जातियों में दारुण युद्ध होता है। अन्त में बाबुली (अक्कादी) उस महासमर में विजयी होते हैं। परन्तु इस काव्य से बड़ा और विशिष्ट महत्त्वका एपिक काव्य सृष्टि सम्बन्धी 'एनुमा एलिश' (जब ऊपर काव्य के दो प्रारम्भिक शब्दोंके आधार पर उसका नाम रखा गया) है।

एनुमा एलिश के सम्बन्ध में जो धारणायें प्रचलित थीं उन्हीं का इस एपिक से आभास मिलता है। काव्य में एक हजार से ऊपर पंक्तियाँ हैं और वह अब सबकी सब मिल गई हैं। इस काव्य की पंक्तियाँ सात पट्टिकाओं पर खुदी हैं। सम्भवतः इस काव्य की रचना ईसा पूर्व द्वितीय सहस्राब्दी के पूर्वार्ध में हुई थी यद्यपि उपलब्ध सामग्री पहली सहस्राब्दी (ईसा पूर्व) के लेखों से ही प्रस्तुत हुई। इसमें उन घटनाओं का सविस्तार वर्णन है जिनमें अन्ततोगत्वा अशान्ति की परिचायिका जल देवी तियामत (अथर्ववेद का तैमात) पर मार्दुक विजयी होता है। मध्य भाग में मर्दुक के कार्यों का उल्लेख है—तियामत के शव से विश्व का निर्माण विश्व की व्यवस्था और मनुष्य की अभिसृष्टि और अन्त में मार्दुक से पचास नामों की महिमा पर स्तोत्र का उपसंहार है।

इनके अतिरिक्त उस साहित्य में कुछ और काव्य भी मिलते हैं। हाँ, इनके खण्ड मात्र आज उपलब्ध हैं। एक में दैत्य लब्बू के संहार का वर्णन है दूसरे में महादेव एनेलल की भाग्य पट्टिकाओं का।

एक तीसरे काव्य खण्ड में दानवों की सेना से लड़नेवाले कुथाह के राजा का वर्णन है।

उस साहित्य में अनेक पौराणिक आख्यानों का वर्णन मिलता है। एनुमा एलिश और गिल्गमेश की पौराणिक कथाओं का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। दो मानव प्रकार उत्नपिश्तिम का उल्लेख हुआ है। दो स्थानों में परलोक (पाताल-नरक) का उल्लेख है इनमें से पहले में देवी इश्तर के नरक के कारण पृथ्वी पर सारे

(पौधा) से प्राप्त होती है—

"उसके काँटे तेरे हाथ में गुलाब की भाँति चुभेंगे।
फिर भी यदि तू उस औषधि को पा ले तो जीवन (अमरता) को पा लेगा।
गिल्गमेश ने यह सुनकर कमरबन्द कसा।
और पैरों में भारी पत्थर बाँधे।
वे उसे गहरे तल में खींच ले गये और उसने वह औषधि देखी।
तब उसने पौधा उखाड़ लिया, और उसके काँटे उसके हाथ में चुभ गये।"

मोती निकालनेवाले पनडुब्बे आज भी फारस की खाड़ी में इसी प्रकार अपने पैरों में पत्थर बाँधते हैं। अब गिल्गमेश अपने पत्थरों की रस्सी काट मुक्त हो गया। उसके ऊपर प्रसन्न वदन पहुँचने पर माँझी उसे मृत्यु जगत् की ओर लौटा ले चला। साठ घण्टे निरन्तर चलते रहने से थककर गिल्गमेश विश्राम और सरोवर में स्नान करने के लिए रुका।

"एक सर्प ने औषधि की गन्ध पा ली।
जल से वह सर्प निकला और औषधि लेकर चम्पत हो गया।
(सरोवर) से लौट कर सर्प ने अपनी त्वचा (केंचुल) छोड़ दी, पुनर्जन्म हुआ।
तब गिल्गमेश बैठ कर रुदन करने लगा।
उसके गालों पर आँसू बह चले...
'किसके लिए मैंने अपने हृदय का रक्त सुखाया है ?
मैंने अपने लिए कुछ (मूल) नहीं किया।
केवल धूल के नृशंस जीव (सर्प) का भला किया ?"

प्रायः सभी प्राचीन सभ्यताओं के विश्वास में अमरता का रहस्य सर्प को ज्ञात है। समुद्र तल का पौधा वस्तुतः प्रवाल, मूँगा है जिसे सभी प्रारम्भिक जातियाँ संजीवनी मानती थीं। काव्य का वस्तुत यहीं अन्त हो जाता है। उन्नत, उदात्त, श्रमशील मानव ने अपने साहस द्वारा देवताओं के अमृत रहस्य को ले लेना चाहा परन्तु विफल मनोरथ अन्ततः मृत्यु का शिकार हो उनका हास्यास्पद बना। (बारहवीं ईंट सम्भवतः बाद की है) गिल्गमेश, क्रुद्ध और व्याकुल परलोक की व्यवस्था जानने के लिए अपने मित्र के प्रेत से साक्षात्कार के लिए उन सारे तपुओं (तपसविधानों) को तोड़ देता है जो मानव को प्रेत की छाया से रक्षा करते हैं। देव नर्गल जो यमलोक पहुँच कर निकल भागा था, भूमि में छेद कर देता है और—

"एंकिदू का प्रेत वायु की भाँति पृथ्वी से निकल पड़ा।
दोनों रुदन गले मिले। क्रन्दन करते वे बात करने लगे।
"बता, मेरे मित्र बता मेरे मित्र, बता कब्र के विधान जो तूने देखे हैं।"
'नहीं बताऊँगा मित्र, तुझे नहीं बताऊँगा, क्योंकि यदि अपने देखे कब्र के विधान तुझे बता दूँ तो तू बैठा रोया करेगा'
तो (कुछ परवाह नहीं) मुझे बैठकर रोने दे'

एंकिदू के प्रेत ने तब बताया कि किस भयानक रीति से वस्त्र की भाँति शरीर शरीरको कीट चट जाते हैं। केवल वही परलोक में शांति पाते हैं जिनकी समाधि पर जीवित परन्तु अहार और पेय भेंट चढ़ाते हैं। अन्यथा प्रेत निरन्तर सड़कों पर घूमने जूठा खाते और नालियों का जल पीते रहते हैं। यहीं गिल्गमेश काव्य का नितान्त निराशा में अन्त हो जाता है। हाल के मिले काव्य की एक दूसरी प्रति से ज्ञात होता है कि गिल्गमेश को भी अन्ततः मरना पड़ा और मर कर उसने परलोक के दण्डधरों (जजों) में स्थान पाया।

यह काव्य इतना लोकप्रिय हुआ कि इसके अनुवाद ग्मृत्ती, हुर्री आदि भाषाओं में हुए और अनेक पुराणों पर इसका प्रभाव पड़ा। अनेक आर्य-अनार्य चीन आदि के पुराणों में भी जलप्रलय की कथा गाई गई। भारतीय शतपथ ब्राह्मण और मनुस्मृति पर भी उसकी छाया पड़ी।

अक्कादी का दूसरा काव्य इर्रा (इरा-इर्रा-एरकल) का काव्य कहलाता है। इसमें प्रधानतः देवता इर्रा के मानव जाति के प्रति क्रोध का वर्णन है जिसके परिणाम स्वरूप निकट पूर्व की सारी जातियों में दारुण युद्ध होता है। अन्त में बाबुली (अक्कादी) उस महासमर में विजयी होते हैं। परन्तु इस काव्य से बड़ा और विशिष्ट महत्त्वका एपिक काव्य सृष्टि सम्बन्धी 'एनुमा एलिश' (जब ऊपर काव्य के दो प्रारम्भिक शब्दोंके आधार पर उसका नाम रखा गया) है।

एनुमा एलिश के सम्बन्ध में जो धारणायें प्रचलित थीं उन्हीं का इस एपिक से आभास मिलता है। काव्य में एक हजार से ऊपर पंक्तियाँ हैं और वह अब सबकी सब मिल गई हैं। इस काव्य की पंक्तियाँ सात पट्टिकाओं पर खुदी हैं। सम्भवतः इस काव्य की रचना ईसा पूर्व द्वितीय सहस्राब्दी के पूर्वार्ध में हुई थी यद्यपि उपलब्ध सामग्री पहली सहस्राब्दी (ईसा पूर्व) के लेखों से ही प्रस्तुत हुई। इसमें उन घटनाओं का सविस्तार वर्णन है जिनमें अन्ततोगत्वा अशान्ति की परिचायिका जल देवी तियामत (अथर्ववेद का तैमात) पर मार्दुक विजयी होता है। मध्य भाग में मर्दुक के कार्यों का उल्लेख है—तियामत के शव से विश्व का निर्माण विश्व की व्यवस्था और मनुष्य की अभिसृष्टि और अन्त में मार्दुक के पचास नामों की महिमा पर स्तोत्र का उपसंहार है।

इनके अतिरिक्त उस साहित्य में कुछ और काव्य भी मिलते हैं। हाँ, इनके खण्ड मात्र आज उपलब्ध हैं। एक में दैत्य लब्बू के संहार का वर्णन है दूसरे में महादेव एतेलल की भाग्य पट्टिकाओं का।

एक तीसरे काव्य खण्ड में दानवों की सेना से लड़नेवाले कुथाह के राजा का वर्णन है।

उस साहित्य में अनेक पौराणिक आख्यानों का वर्णन मिलता है। एनुमा एलिश और गिल्गमेश की पौराणिक कथाओं का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। दो मानव संहार उत्नपिश्तिम का हुआ है दो स्थानों में परलोक (पाताल-नरक) का उल्लेख है इनमें से पहल म दवा स्तर के नरक के कारण पृथ्वी पर सारे

मौन कृत्यों के अन्त और परिणाम का विशद् वर्णन है। दूसरे उन घटनाओंका उल्लेख है जिनके फलस्वरूप अक्कादी यम (नरक देवता) नेर्गल की पाताल लोक के शासक के रूप मे नियुक्ति होती है।

इनके अतिरिक्त दो और पौराणिक ख्याते खण्डित रूप मे मिली हैं। जिनका सम्बन्ध दो महत्त्वशाली व्यक्तियों से है—अदपा और एतना से। अदपावाले प्रसग में मनुष्य के मृतत्व के कारणों पर विचार है और एतनावाले मे जन्म सम्बन्धी औषधि की खोज का जिक्र है। दूसरी कहानी मनोरंजक है। एक बार सर्प और गरुड़ ने परस्पर मित्रता की प्रतिज्ञा की परन्तु गरुड़ ने सर्प के बच्चों को खा लिया। इस पर दुखी और क्रुद्ध सर्प ने सूर्य देवता से शिकायत की। उसने उसे राय दी कि बैल का अस्थि-पञ्जर उठा लाये और जब गरुड़ उसे खाने आए तो वह उसे पकड़ ले। सर्प ने ऐसा ही किया और जब गरुड़ आया तब उसने उसे पकड़ कर उसके पंख काट लिए और उसे गढ़े में डाल दिया जहाँ गरुड़ कष्ट में कराहता पड़ा रहा। अब सूर्य से प्रार्थना करने की बारी उसकी थी परन्तु समुचित बदले से भला उसे क्या आपत्ति हो सकती थी और वह सर्प के विरुद्ध कुछ कर न सका। पर गरुड़ पर वह कृपा सचमुच करना चाहता था। इसी समय एक घटना घटी। कीश के राजा एतना की पत्नी गर्भवती थी और वह उसकी प्रसव पीड़ा कम करने के लिए जादू की 'जन्म-औषधि' ढूँढ़ने लगा। उसके लिए उसने सूर्य से पूछा। सूर्य जानता था कि वह औषधि केवल स्वर्ग में है और उसने उसे गरुड़ की सेवा कर स्वस्थ कर देने को कहा। एतना ने गरुड़ को स्वस्थ कर दिया और पक्षिराज उसे स्वर्ग ले जाने को राजी हो गया। दोनो उड़ चले। दो घण्टे बाद गरुड़ ने कहा—'देखो, मित्र, पृथ्वी कैसी है। उसके चतुर्दिक सागर देखो, गम्भीर अम्बुधि। देखो पृथ्वी कैसी पर्वतमात्र-सी दीखती है, और समुद्र कुल्या-सा।' अनेक स्वर्ग तक पहुँचने के पहले हर दो घण्टों बाद वह उसी प्रकार एतना से पृथ्वी की घटती हुई आकृति का वर्णन करता था। वह अन, एन्लिल और एंगी के द्वार लाँघ गया परन्तु यात्रा का अभी अन्त नहीं हुआ। अभी उन्हें उस देवी के सिंहासन तक पहुँचना था जिसके पास वह 'जन्म-वृक्ष' था। एतना के लिए यह असह्य हो उठा और चीखकर वह दूर नीचे पृथ्वी पर गिर पड़ा।

अक्कादी साहित्य मे देवस्तोत्रों, सूक्तों और राजप्रशस्तियों का भी अभाव नहीं, विशेषतः स्तोत्र तो उसमें भरे पड़े हैं। इनमें अधिकतर प्रधान देवता मादुक के प्रति कहे गए है। कुछ युद्ध और प्रेम की देवी ईश्तर (सुमेरी इनन्ना) के लिए है, कुछ सूर्य देवता शमश (सुमेरी उतू), और कुछ ज्ञानदेव इया (सुमेरी एन्की) के लिए। कुछ गीत तो प्रायश्चित रूप में पाप के स्वीकरण में गाए गए हैं जो अत्यन्त हृदयस्पर्शी है। एक उदाहरण यह है—

"मैं तेरा स्मरण करता हूँ (ईश्वर), मैं तेरा अभागा, व्यथित,
मेरी ओर देख, मेरी देवी, मेरी बिनती स्वीकार कर, रुग्णदास,
मुझ पर दया की दृष्टि डाल मेरी प्रार्थना सुन

मुझे मुक्ति दे, मेरी रूह को राहत दे;
मेरे पतित शरीर को मुक्ति, अशान्त शरीर को,
मेरे रुग्ण हृदय को मुक्ति, हृदय जो आँसुओं और उच्छ्वासों से भरा है,
मेरी अभागी अँतड़ियों को मुक्ति, अशान्त अँतड़ियों को,
मेरे दुःखी परिवार (गृह) को मुक्ति जो करुण विलाप कर रहा है,
मेरी आत्मा को मुक्ति जो आँसुओं और उच्छ्वासोंसे आर्द्र है।'

पाताल के देवता नेर्गल के प्रति एक सूक्त इस प्रकार है—

"स्वामिन्, आपानक में प्रवेश न करो,
न मधु बेचती वृद्धा को ही मारो।
स्वामिन्, सभागृह में प्रवेश न करो,
न वहाँ बैठे धीमान् जरठ को मारो।
स्वामिन्, खेल के मैदान में न ठहरो,
न बच्चों को उनके खेल के मैदानों से भगाओ।
वहाँ प्रवेश न करो जहाँ तन्त्री-स्वर गूँज रहा है,
न तरुण को भगाओ जो तन्त्रीनाद समझ रहा है।"

सम्राट् हम्मुराबी के सम्बन्ध में एक बड़ी ओजस्विनी कविता है। यशस्वी विजेता आक्रमण के लिए उद्यत होकर भी आक्रमण में जैसे देर कर रहा है और अक्कादी कवि ललकार उठता है—

"बाल (एन्लिल) ने तुझे प्रभुता दी है—
फिर तू प्रतीक्षा किस की कर रहा है?
सिन ने तुझे महत्तम बनाया है—
फिर तू प्रतीक्षा किसकी कर रहा है?
निनुर्ता ने तुझे शक्तिम शस्त्र दिया है—
फिर तू प्रतीक्षा किसकी कर रहा है?
ईश्वर ने तुझे युद्ध और समरावसर दिया है—
फिर तू किसकी प्रतीक्षा कर रहा है?
शमश और अदाद् तेरे सहायक मित्र हैं—
फिर तू प्रतीक्षा किसकी कर रहा है?
चारों दिशाओं में अपनी शक्ति प्रतिष्ठित कर दे!
तेरे काम की पुकार ऊँची हो गूँज उठे!
दूर दूर के लोग तेरी पूजा करें!
तुझे वे अपना सिर झुकाएँ
हम्मुराबी, सम्राट्, महावीर
समर का

शत्रु जनपद का संहारक, विद्रोह का आक्रान्ता,
विप्लव का शास्ता, समर में सम्मुख खड़े होने वाले
को मिट्टी के पुतले की भाँति चूर कर देने वाला,
अभेद्य गिरियों की अर्गला तोड़ देने वाला (हम्मुराबी)।"

यहाँ हम्मुराबी के शास्त्र (अनुशासन, कानून) का उल्लेख किये बिना यह लेख अधूरा रह जाएगा। जैसे मनु का धर्मशास्त्र महत्त्व का है उससे प्रायः डेढ़ हजार वर्ष प्राचीन (२००० ई. पू.) हम्मुराबी का विधान भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। संसार का वह प्राचीनतम विधान है जिसमें वाद, प्रतिवाद प्रमाण, दण्ड, वैयक्तिक सम्पत्ति, आराजी, कृषि, व्यापार, लाइसेन्स (मदिरा आदि के लिए), ऋण, ट्रस्ट, विवाह, दाय, नारी, पुरोहित, दत्तकपुत्र, फौजदारी, वैद्य-चिकित्सा, राज-मजूर, नदी की राह का उपयोग, मवेशी, कृषि-मजदूर, दास आदि सभी के लिए अनुशासन है। हम्मुराबी के बाद का अनुशासन मूसा (१६ वीं सदी ई. पू.) का है, फिर मनु का (पाँचवीं-दूसरी सदी ई. पू०)।

प्राचीनता को देखते हुए प्रकट है कि सुमेरी और विशेषतः अकादी (बाबुली-असूरी) साहित्य में गजब की मार्मिकता है। बाबुल ने संसारको बहुत कुछ दिया है, लिपि, ज्योतिष, गणना और इन सब से ऊपर वह जलप्रलय की कथा, 'गिलगमेश,' जो संसार का प्राचीनतम वीरकाव्य है।

१३

मिस्र का प्राचीन साहित्य

मिस्र का प्राचीन साहित्य हमे दो साधनों से उपलब्ध हुआ है। एक तो उन अभिलेखों के जरिए जो प्राचीन इमारतों की दीवालों पर अन्य भग्नावशेषों पर खुदे है, दूसरे उन लेखों के जरिए जो 'पेपिरस' नामक कागज़ पर लिखी पुस्तकों में सुरक्षित हैं। इसमे सन्देह नहीं कि अभिलेखों का विषय वस्तुतः साहित्य नहीं कहा जा सकता। अधिकतर तो वे राजनीति और धर्म सम्बन्धी हैं जो साहित्य के क्षेत्र में स्थान नहीं पा सकते। यह तो उन अभिलेखों की साधारण स्थिति है। परन्तु उनमें कुछ ऐसे भी हैं जिनका रूप साहित्यिक है।

इस प्रकार के अभिलेखों में सबसे महत्त्वपूर्ण एक कविता है जिसमें रामेसेज़ महान् की कीर्तिकथा गाई गई है, विशेष कर उस कठिन युद्ध तथा विजय की कीर्ति-कथा जो उस महान् नृपति ने खत्तियों के विरुद्ध अर्जित की थी। अन्य अभिलेख अधिकतर शुद्ध ऐतिहासिक महत्त्व के हैं और उनमें विविध राजकुलों की सूची दी हुई है। अभाग्यवश इन आनुक्रमिक सूचियों में से एक भी सम्पूर्ण नहीं है। यही बात पेपिरस पर लिखे अधिकतर ऐतिहासिक वृन्तों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। यह महत्त्व की बात है कि इन तिथिपरक तालिकाओं का मेल मानेथो की तालिका से प्रायः बैठ जाता है। परन्तु मानेथो की वह तालिका भी केवल जोज़ेफ़स् और दूसरो के उद्धरणों में ही उपलब्ध हो सकी है। मूल तो उसका सर्वथा नष्ट हो चुका है। फिर भी इन दोनों की तुलना कर प्रोफ़ेसर पेत्री ने यह सिद्ध कर दिया है कि मानेथो का ग्रन्थ कैसा सच्चा इतिहास रहा होगा और उसका अभाव वर्तमान इतिहास के लिए कितना क्लेशजनक है।

जिन पेपिरस के 'रोलों' पर इतिहास के साहित्यिक अवशेष अभिलिखित हैं वे रोल निःसन्देह वास्तविक ग्रन्थ हैं। पत्रों पर लिखित ग्रन्थों की शैली अपेक्षाकृत आधुनिक है। प्राचीन काल में विशेष कर पश्चिमी देशों में लपेटे हुए रोल के रूप मे ही पुस्तकों का निर्माण हुआ। वैसे तो मोम की पट्टिकाओं पर भी विषयों का उल्लेख हुआ है, परन्तु उनको सही-सही पुस्तक कह सकना कठिन है। कम-से-कम लम्बे-चौड़े क्रमिक ग्रन्थों के रूप में बाज़ारों मे बिकने के लिए और घरों में प्रयुक्त होने के लिए उनका निर्माण नहीं हुआ था। यह सम्भव है कि ग्रन्थकारों ने अपनी आरम्भिक कृतियों का अभ्यास उनपर कुछ अंश में किया हो मध्य युग तक इस रोल का उपयोग होता रहा है पिछले काल में ग्रीस और रोम में पुस्तक लिखने का आधार कपड़ा

रहा है। परन्तु प्राचीन मिस्र में जब तब ही उसका प्रयोग हुआ है। साधारणतः पुस्तकें वहाँ पेपिरस पर ही लिखी जाती रहीं।

पेपिरस का कागज़ पेपिरस नामक पौधे की खुखड़ी या छिल्के-टुकड़ों को एक के ऊपर एक सटाकर बनता था। पेपिरस कागज की ये चादरें चौड़ाई में छः से चौदह इंच तक और लंबाई में कई फुट तक की होती थी। लेख नरकट की कलम से कागज़ की लम्बाई में खड़े स्तम्भों के रूप में लिखे जाते थे। ये स्तम विविध चौड़ाइयों के होते थे, परन्तु उनका आकार लेखक तथा पाठक की सुविधा पर अवलम्बित होता था। मिस्र में मिली प्राचीन लेखक की एक मूर्ति से जान पड़ता है कि लेखक काम करते समय पलथी मार कर बैठता था। पेपिरस अत्यन्त आशुनश्य पदार्थ होने के कारण मिस्र की शुष्क जलवायु में ही सुरक्षित रह सकता है। उसी साधारण जलवायु के प्रताप से हमें मिस्र के तृतीय सहस्राब्दी ई० पू० तक के अभिलेख उपलब्ध हो सके है। ऐतिहासिक दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्व के वे लेख हैं, जो त्यूरिन संग्रहालय में सुरक्षित हैं। परन्तु उनसे भी प्राचीन पेपिरस वे हैं, जिन्हें उनके अन्वेषक प्रिस्से दावेन के नाम पर प्रिस्से पेपिरस कहते हैं। ये सम्यक् आचरण और युक्त आजीव के ऊपर लिखे अनेक निबन्ध हैं। अपने विषय की महत्ता के अतिरिक्त इनका महत्त्व इसमें भी है कि यही प्राचीनतम मिस्री लेखन के नमूने हैं। चित्र-लेखन से त्वरा-लेखन के लिए जिस प्राचीन लिपि का प्रादुर्भाव हुआ उसी में ये अभिलिखित हैं। फ्रेंच भाषा तत्व-विद् दि रूगे का यह दृढ़ विश्वास था कि इसी लिपि से फ़िनीशिया की वर्णमाला निकली और अन्य विद्वानों ने भी इस निष्कर्ष को तब अंगीकार कर लिया था, यद्यपि आज वह सिद्धान्त कुछ कमज़ोर पड़ चला है। मिस्रियों के चिकित्सा और गणित विषयक अन्य निबन्ध भी प्रभूत संख्या में सुरक्षित हैं।

पेपिरस के रोलों में एक और प्रकार का साहित्य भी बहुमात्रा में उपलब्ध है। यह धार्मिक साहित्य है, वस्तुतः श्राद्ध सम्बन्धी और 'मृतक की पुस्तक' कहलाता है। यह वास्तव में प्राचीन मिस्रियों की धर्मपुस्तक है, जिसकी समूची अथवा खण्डित अनेक प्रतियाँ मिली हैं। इनमें कइयों में विषय को अंकित करने के लिए चित्र भी बने हैं। साधारणतः चित्रित ग्रन्थ का प्रचलन अपेक्षाकृत आधुनिक माना जाता है, परन्तु इन मिस्री अभिलेखों से प्रमाणित है कि मिस्र के प्राचीन निवासी ईसा से दो हज़ार वर्षों से भी पूर्व इस कला का उपयोग करते थे।

शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से पेपिरस पर लिखे और अनेक पाठों में सुरक्षित कुछ कहानियाँ और कविताएँ हैं। कहानियाँ और उपन्यास अधिकतर परियों की कथाओं के तौर पर हैं, यद्यपि उनमें वास्तविकता का सर्वथा अभाव भी नहीं है। कविताएँ अधिकतर प्रणय सम्बन्धी और गेय हैं। काल के परिमाण से इतनी दूर और विदेशी भाषा के कलात्मक सौन्दर्य तथा साहित्यिक सुरुचि की वाणियों को हृदयंगम करना निश्चय कठिन है, परन्तु मिस्र तत्वविदों का कहना है कि ये कविताएँ तब के मिस्र में अत्यन्त लोकप्रिय थीं कुछ कहानिया और कविताएँ तो निश्चय ऐसी हैं कि वर्तमान

मानदण्ड की कल्पना, विचार और शब्दयोजना की दृष्टि से भी पर्याप्त सुन्दर मानी जायँगी।

उनमें यात्रा और उत्साहस की कहानियों की संख्या प्रचुर है। पहले समुद्र सम्बन्धी कथाएँ नहीं मिलीं और विद्वानों का यह विश्वास दृढ़ हो चला कि सम्भवतः इस प्रकार की कथाएँ लिखी ही नहीं गईं। ग्रीक और लातीनी मे तो अक्सर यह लिखा मिलता है कि प्राचीन मिस्री समुद्र को अपावन मानते थे और स्वेच्छा से कभी समुद्र-यात्रा नहीं करते थे। इसी आधार पर वर्तमान अन्वेषकों का जो विश्वास बना तो उन्होंने स्पष्ट समझ लिया कि मिस्र में न तो कभी जहाजी बेड़ा था और न वहाँ देशी मल्लाह ही थे।

रानी हत्शेप्सू की खोज सम्बन्धी यात्राएँ और रामसेज़ तृतीय की सामुद्रिक विजय ये उनको फिनीकियों के कृत्य मालूम हुए। परन्तु सेंट पीटर्सबर्ग में मिली कहानी ने इन विचारों को निर्मूल कर दिया है। इस कहानी का सम्बन्ध तब के बारहवें राजकुल से है, जब भूमध्यसागर के तट पर फ़िनिकियों का पता भी न था और न मिस्र ने ही अभी सीरिया-विजय की सोची थी। उस कहानी से यह निष्कर्ष निकलता है कि अरब से सुगन्धित द्रव्य और अन्य वस्तुओं को लाने के लिए फ़राऊन ने जिन माझियाँ को भेजा था, वास्तव में वे जन्मतः मिस्री थे।

सेन्ट पीटर्सबर्ग के इम्पीरियल हर्मिटेज संग्रहालय में गोलेनिशेफ़ को १८८० में 'परित्यक्त' नाम की कहानी मिली। किसी को पता नहीं कि वह कहानी कहाँ मिली, रूस में कैसे आई या उस संग्रहालय में ही कैसे पहुँची। जिस प्रकार उन्नीसवें वंश-काल की 'दो भाइयों' की कहानी उस काल के लिए विशिष्ट हो गई, उसी प्रकार यह भी बारहवें वंश-काल के लिए विशिष्ट हुई। 'परित्यक्त' की यह कहानी पढ़ कर माँझी सिन्दबाद की याद आ जाती है, अन्तर बस इतना है कि जहाँ सर्पों का संयोग सिन्दबाद के लिए सौभाग्य का सृजन करता है, वहाँ मिस्री माँझी का उनका अनुभव विपज्जनक है।

परित्यक्त की कहानी धार्मिक है जो उपन्यास के रूप में प्रस्तुत की गई है। उसका द्वीप मरी आत्माओं की भूमि है, जिसका अध्यक्ष सर्प है। वर्णित यात्रा परलोक की है, जो रहस्यपूर्ण पश्चिमी समुद्र के मार्ग से हुई है और जिसका अन्त मृत आत्माओं के निवासस्थान में जाकर हुआ है। इस कहानी का आधार-तत्त्व सर्वथा मिस्री है। कहानी की वार्ता इस प्रकार है :—

विद्वान् अनुचर ने कहा—"प्रभु, चित्त को प्रसन्न करें, क्योंकि हम पितृदेश पहुँच गए हैं। नौका के अग्रभाग में हमारे आदमी बैठे और डाँड़ों को चला कर यहाँ आ पहुँचे। नौका का अग्रभाग अब रेती पर टिक गया है। हमारे सारे आदमी आनन्द मना रहे हैं, एक दूसरे का आलिंगन कर रहे हैं, क्योंकि हमारे अतिरिक्त अन्य भी भली-भाँति घर आ पहुँचे हैं, हमारे जनों में से एक भी नहीं खोया, और हम उआउआत की दूरतम सीमाओं तक जा पहुँचे थे, सेन्मुत के प्रदेशों तक को लाँघ लिया था। अब हम शान्ति पूर्वक लौट भी आए और आज यहाँ पितृदेश में हैं सुनें, मेरे प्रभु, यदि आप मुझे सहारा

न देंगे तो मेरा कोई सहायक नहीं। जल से शुद्ध हों, हाथों पर जल डालें, तब फ़राऊन से वक्तव्य करें और आपके चित्त तथा वक्तव्य में एकता स्थापित हो, वक्तव्य में किसी प्रकार का पेंच या अस्पष्टता न हो। इस बात को न भूलें कि जहाँ मनुष्य का मुख उसकी रक्षा कर सकता है, वहीं वह ढक दिए जाने का कारण भी बन सकता है।* अपने हृदय की चेतना के अनुकूल आचरण करें, फिर जो कुछ आप कहेंगे उससे मेरा चित्त शान्त होगा।

"अब मैं आपको बताऊँगा कि मुझ पर कैसी बीती। मैं हीनहेम की खानों के लिए चल पड़ा। डेढ़ सौ हाथ लंबे और चालीस हाथ चौड़े जहाज में चढ़कर मैं समुद्र में चला। हमारे जहाज में डेढ़ सौ मिस्र के सर्वोत्तम नाविक थे जिन्होंने आकाश-पाताल देखा था और जिनके हृदय सिंह के हृदय से भी अधिक साहसी थे। उन्होंने तो यह कहा कि वायु प्रतिकूल तो नहीं ही होगी, बल्कि होगी ही नहीं। परन्तु समुद्र के वक्ष पर हमारे उतरते ही वायुका एक प्रबल झोंका आया और हमने किनारे पहुँचने का जैसे ही प्रयास किया झोंके वेगवान हो गए और आठ-आठ हाथ ऊँची लहरें उठने लगीं (नौका टूट गई), मैंने एक तख़्ता पकड़ कर किसी प्रकार जान बचाई परन्तु शेष सभी नष्ट हो गए, एक न बचा। अकेला, अपने चित्तके सिवा सर्वथा निर्मित्र तीन दिन-रात मैं उस तख्ते पर झूलता रहा और तब लहरों ने मुझे एक द्वीप के किनारे फेंक दिया। पेड़ों की झुरमुट मे तनिक आराम करने के लिए मैं पड़ रहा। अन्धकार से फिर मैं आच्छन्न हो गया। तब मैंने मुँह के आहार की खोज के लिए अपने पदों का उपयोग किया। मुझे अजीर और अंगूर मिले, कई प्रकार के शाक मिले—फल, छुहारे, गरी, तरबूज़, मछली, पक्षी—किसी चीज की वहाँ कमी न थी। मैंने अपनी बुभुक्षा शान्त की और उससे जो कुछ बच रहा था उसे फेंक दिया। फिर मैंने एक खाई खोदी, आग जलाई और देवताओं के लिए यज्ञ के साधन जुटाए।

"सहसा मैंने बिजली की कड़क-सी एक आवाज सुनी जो, मैंने समझा, समुद्र की तरंग टूटने की थी। वृक्ष काँप उठे, पृथ्वी हिल गई। मैंने अपने मुँह से परदा हटाया और देखा कि एक सर्प चला आ रहा है। वह तीस हाथ लंबा था, दो हाथ नीचे लटकती उसकी डाढ़ी थी। उसके लाल रंग पर जैसे सुवर्ण चढ़ा हुआ था। वह मेरे सामने रुका, उसने अपना मुँह खोला और अभी मैं स्तब्ध-सन्त्रस्त उसकी ओर देख ही रहा था कि उसने कहना प्रारम्भ किया—'तू यहाँ क्यों आया, तू यहाँ क्यों आया, तुच्छ जीव, तू यहाँ क्यों आया? यदि तूने यह बताने में देर की कि तू यहाँ क्यों आया तो मैं तुझे जना दूँगा कि तू क्या है: या तो फिर तू आग की लपट की भाँति लुप्त ही हो जयगा या कुछ ऐसी बात कहेगा जो मैंने पहले कभी न जानी।' तब उसने मुझे अपने मुँह में ले लिया और ले जाकर अपनी बिल में बिना कोई हानि पहुँचाए रख दिया। मैं सर्वथा सकुशल

* बातों से ही रक्षा भी हो सकती है विपत्ति भी आ सकती है मुँह ढक कर तब महा अपराधी ले जाए जाते थे इससे इस पद का अर्थ विपत्ति का आगम है

था, साबुत।

"तब उसने अपना मुँह खोला। मैं फिर भी उसके सामने चुप था। वह बोला—'तू यहाँ क्यों आया, तू यहाँ क्यों आया, तू यहाँ क्यों आया, तुच्छ जीव, इस द्वीप में जो समुद्र के बीच है और जिसके तट लहरों से घिरे हैं?'

"बाहुओं को नीचे लटका मैंने उत्तर दिया। मैंने कहा—'फ़राऊन की आज्ञा से डेढ़ सौ हाथ लंबे और चालीस हाथ चौड़े जहाज़ पर चढ़ कर मैं खानों की ओर चला। मिस्र के सर्वोत्तम डेढ़ सौ माँझी उसमें सवार हुए, माँझी, जिन्होंने आकाश और पृथ्वी देखी थी और जिनके हृदय देवताओं के हृदयों से दृढ़तर थे। उन्होंने कहा था कि वायु प्रतिकूल तो नहीं ही होगी, वायु होगी ही नहीं। उनमें से हर एक दूसरे से हृदय की बुद्धि और भुजाओं की शक्ति में बढ़ा-चढ़ा था और मैं स्वयं उनमें से किसी से किसी बात में कम न था। परन्तु जब हम इस समुद्र में पहुँचे तब तूफ़ान उठा और जब हम तट की ओर बढ़े तब तूफ़ान और बढ़ा और लहरें आठ-आठ हाथ ऊँची उठने लगीं। मैंने तो एक तख्ता पकड़ लिया परन्तु शेष नष्ट हो गए, इन तीन दिनों में एक भी साथ न रहा और अब मैं यहाँ तेरे सामने हूँ, क्योंकि समुद्र की एक लहर ने मुझे इस द्वीप ने फेंक दिया है।'

"तब वह मुझसे बोला—'डर नहीं, डर नहीं, तुच्छ जीव, तेरा चेहरा दुःख का आवारण न पहने। अगर तू यहाँ मेरे पास है तो इसका अर्थ है कि देवता तुझे जिन्दा रखना चाहता है। वही तुझे इस द्वीप में लाया है जहाँ किसी वस्तु की कमी नही और जो सारी अच्छी चीजों से भरा है। देख, तू इस द्वीप में चार महीने बिता, महीने पर महीना, तब तुम्हारे देश से नाविकों के साथ एक जहाज आएगा, तब तू अपने देश को जाएगा और अपने नगर में ही मरेगा। आ अब हम बात करें, प्रसन्न हों; जो बात चीत का आनन्द जानता है वह विपत्ति को सफलता से झेल सकता है। अब सुन कि इस द्वीप में क्या है। यहाँ मेरे साथ मेरे भाई और बच्चे हैं—बच्चे और नौकर मिलाकर हम सब पचहत्तर सर्प हैं। इनमें मेरी इस कन्या का जोड़ नहीं है, जिसे सौभाग्य ने मुझे दिया था परन्तु जिस पर भगवान् की अग्नि गिरी और जो जलकर भस्म हो गया। और यदि तू सशक्त है और तेरा हृदय धीर है तो, तू निश्चय अपने बच्चों को हृदय से लगाएगा, अपनी पत्नी का आलिंगन करेगा, तू फिर अपने गृह को देखेगा और सबसे उत्तम तो यह कि तू अपने देश को पहुँच जायगा, अपने स्वजनों को भेंटेगा।' तब उसने मुझे प्रणाम किया और मैंने भी उसके सामने पृथ्वी पर माथा टेककर कहा, 'अब मुझे तुझसे इस विषय पर यह कहना है—मैं फ़राऊन के सामने तेरा वर्णन करूँगा और उसे तेरी महत्ता बताऊँगा। मैं तुझे विविध सुगन्धित द्रव्य, अगराग, धूप, नैवेद्य भेजूँगा जिनका उपयोग हमारे मन्दिरों में होता है और जो देवताओं को चढ़ाए जाते है। मैं जो कुछ तेरे अनुग्रह से देख सका उसका भी वर्णन करूँगा और सारी जाति तेरा करेगी मैं तेरे लिए यज्ञ में गधों की बलि दूँगा। मैं तेरे लिए पक्षी पकड़ूँगा और मिस्र की सारी अद्भुत वस्तुओं से भर भर कर मैं तेरे पास

जहाज भेजूँगा, तुझे—उस देवता के लिए जो दूर देश के निवासियों का मित्र है पर जिसे वे निवासी नहीं जानते।'

"मेरी बात पर वह मुसकराया और बोला—'निश्चय तू गन्धों का धनी है, क्योंकि जिनके नाम तूने अभी गिनाए हैं वे मेरे लिए कुछ भी नहीं हैं। मैं पुन्त देश का स्वामी हूँ और ये चीजें वहाँ अफ़रात हैं। परन्तु हाँ, जिस 'हाकेनू'*—द्रव्य—को भेजने की बात तू कहता है वह निश्चय इस द्वीप में अधिक नहीं है। परन्तु एक बार जब तू इस द्वीप को छोड़ देगा फिर इसे न देख सकेगा क्योंकि यह तत्काल लहरों मे परिवर्तित हो जायगा।'

"और देख, जैसा कि उसने कहा था, जहाज आ पहुँचा। मैं एक पेड़ पर यह देखने के लिए चढ़ गया कि उसमें कौन है। फिर मै जल्दी उसे खबर देने के लिए दौड़ा पर वहाँ जाकर मालूम हुआ कि उसे मुझ से पहले ही खबर मिल चुकी है। और वह मुझसे बोला : 'सुयात्रा ! स्वदेश की तेरी यात्रा, तुच्छ जीव, निर्विघ्न हो ! तेरी आँखें तेरे बच्चों को देखें और नगरमें तेरा यश फैले—यही तेरे लिए मेरी शुभ कामना है।'

"तब अपनी बाहुओं को उसकी ओर लटका कर मैं आगे झुका और उसने मुझे सत्, हकेनू, रस, तेल, और अनेक प्रकार की और अत्यधिक मात्रा में धूपादि, गज-दन्त, कुत्ते, बनमानुस, हरित कपि तथा अनेक अन्य रत्न और कीमती वस्तुएँ भेंट की। इन सारी वस्तुओं को मैंने उस आये हुए जहाज में रखा और दण्डवत् पड़ कर मैंने उसे पूजा अर्पित की। उसने तब मुझसे कहा—'देख, तू अपने देश में दो महीने में पहुँचेगा, तू अपने बच्चों को हृदय से लगाएगा और शान्तिपूर्वक अपनी क़ब्र में सोएगा।'

"उसके बाद मैं किनारे जहाज की ओर गया और मैंने माँझियों को पुकारा। मैंने तट पर खड़े होकर द्वीप के स्वामी और उसके निवासियों को धन्यवाद दिया।

"जब दूसरे महीने उसके कहने के मुताबिक फराऊन के नगर में पहुँचे, तब हम राजप्रासाद की ओर बढ़े। मैं फ़राऊन के समीप गया और उसे उस द्वीप से लाई हुई सारी वस्तुएँ प्रदान कीं और उसने एकत्रित जनता के सामने मुझे धन्यवाद दिया। इसीसे उसने मुझे अपना अनुचर बनाया और दरबार के मुसाहिबों में मुझे जगह दी। अब मुझे देखें कि कितना सह और देखकर मैं फिर इस तटपर पहुँचा हूँ। मेरी प्रार्थना सुनें, क्योंकि लोगों की बात सुनना अच्छा है। किसीने मुझसे कहा, 'मेरे मित्र, विद्वान् हो, तुम्हारी पूजा होगी।' और देखें, मैं यहाँ आ पहुँचा।"

यह कहानी जैसी की तैसी उस पुस्तक से उठा ली गई है और अत्यन्त प्राचीन साहित्य का एक सुघड़ नमूना है।

१४

नारवेई साहित्यके हज़ार वर्ष

विस्तारमें बड़ा होकर भी नारवे आबादीके विचार से यूरोपके छोटे राष्ट्रों में गिना जाता है। कहते हैं कि अमरीका में नारवे-निवासियों की संख्या स्वदेशसे अधिक है। सम्भव है, इस वक्तव्य में अतिरंजन हो, पर इसके अन्तरंगकी सत्यता में सन्देह नही। फिर भी इस छोटे राष्ट्र ने साहित्य के क्षेत्र मे काफ़ी तत्परता दिखाई है। इसका एक विशेष कारण है। नारवे प्रकृतिका अपना देश है और उसका निवासी प्रकृति-विदग्ध है। शायद ही कोई नारवे-निवासी ऐसा हो जो शीतकाल की विकटतम प्रकृति के सामने—रूबरू—खड़ा होकर थिरक न उठता हो, उसकी स्कीइंग और स्केटिंग प्रकृतिकी कठोर छातीपर, जमी झीलोंपर, पहाड़ी मैदानों में बिछी बर्फ़ पर न होती हों। प्रकृति का यह साहचर्य प्रबह साहित्यका जनक है।

इसी शास्वत साहचर्य से नारवेइयों की कलात्मिका कल्पनाएँ जाग्रत होती है। इसीसे वे अपने प्रकृत स्वातंत्र्य के राग अलापते हैं। इसीसे उनकी प्राचीनतम कविताएँ मुखरित है। उनके प्राचीनतम गान-तरंग 'एद्दा' बारहवीं सदी में आइसलैंड मे प्रस्तुत हुए, जब वह देश नारवेई उपनिवेश बन चुका था। उसका अधिकतर काव्य वस्तुतः नारवे से ही आइसलैंड गया था। साहित्यालोचकों का विचार है कि 'एद्दा' का सर्वोत्कृष्ट काव्य 'वोलुस्पा' नवीं-दसवीं सदी में नारवे में ही रचा गया था। इस काव्यकी भविष्यभाषिणी वोल्वेन विश्वकी व्याख्या करती है—सृष्टि, देवासुर-संग्राम, मानव का प्रादुर्भाव, भाग्य के उलट-फेर, सभी पर उसमें एक-एककर विचार होता है। अन्त में वोल्वेन भविष्य का विवरण दे उससे मानव जगत् को सावधान करती है—'दिन आएँगे, जब भाई-भाई से लड़ेगा, व्यभिचार और क्रूरता का ताण्डव होगा। फिर पहले परशु-युग और वृक-युग आयँगे। बाद में रागनारोक का वह महासमर ठनेगा जिसमें सत्य और अनृत अपने अन्तिम निर्णयके लिए सन्नद्ध होंगे।' अन्त में वोल्वेन का दर्शन है—'एक नई दुनिया जगेगी, अच्छी-भली दुनिया। इस नई दुनिया में खेत बगैर बोए अन्न उगलेंगे, और घासों पर देवताओं के खेले स्वर्ण-खण्ड लुढके मिलेंगे।'

८००-१०५० ई० का काल-खण्ड नारवे के इतिहास में वाइकिंग-युग कहलाता है, जब नार्समैनों के सांघातिक नाविका चोटोंसे यूरोप की उत्तरी दुनिया आर्त हो गई थी इसी समय 'एद्दा' का साहित्य भी रचा गया यह साहित्य तात्कालिक नारवेई जन-साहित्य है इसके रचयिताओं का पता नहीं ये नारवेइयों के 'महाभारत'

हैं—गेय पुराण, जिनमें नारवेकी प्राचीन जनता का कल्पित जीवन—उसके देवता और आदर्श पुरुष, आख्यायिकाएँ-गाथाएँ—प्रस्तुत हैं। उनकी शैली सूत्रवत सूक्ष्म है। उनके अनेक स्थल ऐसे हैं, जो सजग अभिनय का रूप धारण कर लेते हैं। उनका प्रसादगुण बरबस खींच लेता है।

उन्हीं की भाँति प्राचीन, परन्तु उनके प्रतिकूल स्काल्दीय काव्य की गणना है। इनके कवि जाने हुए हैं—ऐतिहासिक व्यक्ति, जो कभी नारवेई थे, परन्तु बारहवीं-तेरहवीं सदी में आइसलैंड के निवासी बने। यह काव्य समूह भी गेय है जिसमें राजाओं और सामन्तों के चरित गाए गए हैं। इनके रूपक जटिल हैं, उपमाएँ अस्पष्ट हैं, परन्तु इनकी राग-तरंग अभिराम है। ओस्लो में इनको मैंने लोगों से सुना। इनके राग का कम्पन सम्मोहक था। पर 'एद्दा' का काव्य-जगत् निश्चय ही अनूठा है। आइसलैंड के लेखकों में सर्वोत्कृष्ट स्नोरे स्तूरलासों हुआ। 'हाइम्स्क्रिंग्ला' उसकी अनुपम कृति है—११७७ ई० तकके नारवेई राजाओं का अनूठा इतिहास, जो आज भी साधारण साहित्य की भाँति नारवे में पढ़ा जाता है। जब-जब—१८१४, १९०५, १९४० में—नारवे पर चोट पड़ी है, तब-तब 'हाइम्स्क्रिंग्ला' की वाक्यावलि उस देशके आकाश में गूँज उठी है। स्तूरलासों का निधन १२४१ ई० में हुआ।

तेरहवीं सदीमें नारवे इंग्लैंड और फ्रांस के अत्यन्त निकट आ गया था। इस सांस्कृतिक और व्यावसायिक मैत्री का उसके साहित्य पर अच्छा प्रभाव पड़ा। 'कोंग्स्पा-इलेत' उस सान्निध्यका परिणाम है। यह (राजदर्पण) पश्चिमी यूरोपके वीर-काव्य का सुन्दर अनुवाद है। अगली सदियों ने नारवे पर प्रबल उत्कापात किया और उसे 'दारुण-मृत्यु' के आघात सहने पड़े। पर मध्य-युग की पिछली दशाब्दियाँ काफ़ी उर्वरा सिद्ध हुईं। यद्यपि तब का सारा साहित्य प्रायः मौखिक ही है, पर है वह अत्यन्त भाव-प्रगल्भ। उन्नीसवीं सदी के मध्य वह पहले-पहल लिखा गया।

नारवेई साहित्य में उसके ग्राम-गीत खूब चमके हैं। इसमें सन्देह नहीं कि पिछले मध्यकालीन नारवेई गीतोंका डेन, अंग्रेजी और स्काच गीतोंसे घना सम्बन्ध है, परन्तु निश्चय ही उनसे भिन्न उनकी अपनी सत्ता भी है। गेय (लिरिक) अथवा वीर-काव्य मे उनकी शक्ति और उनके वैयक्तिक दृश्यों की शक्तिमत्ता मिलनी कठिन है। उनका चित्रण प्रकृति-जगत्से ओतप्रोत है, जिसमें पर्वत और वन, समुद्र और झील में रहनेवाले वायव्य जीवों का मानवों से सर्वदा सम्पर्क होता रहता है। काल्पनिक अभिराम दृश्यांकन की इस दिशा में नारवेई ग्राम-गीत भारतीय गीतों के काफी समीप आ जाते हैं।

चौदहवीं-सोलहवीं सदियोंके बीच नारवे में उस अभिराम काव्य-साहित्यका सृजन हुआ, जिसमें सुर-कन्याओं और परियों के चरित्र प्रतिबिंबित हुए। परन्तु यह साहित्य भी एक काल तक मौखिक ही रहा और पीढ़ी-दर-पीढ़ी कहानियोंके रूप में निचली सदियों में उतरता चला आया १८४० ई० के बाद फिर यह लिपिबद्ध किया गया नारवे की जनता ग्रामीण खेतिहर जनता—यूरोपीय

धाराओंसे दूर अपनी घाटियोंमें रहते हुए अपना सादा जीवन व्यतीत करती थी। इसी कारण उसने एक जन-कला और जन-काव्यको जन्म दिया, जो यूरोपीय जगत्में सर्वथा अनूठे हैं। इन अप्सरा-कथाओंमें राजवकी काल्पनिक प्रौढ़ता है। इनका विनोद-वैभव तो प्रायः अनजाना है। उन्नीसवीं सदी में उनके विनोद को रूप देनेवाले कलाकार भी मिल गए। एरिक वेरेन्स्किओल्द और थियोदोर किस्तेल्सेनने उसका सुन्दर रेखांकन किया। तबसे तो वे काव्यबद्ध कहानियाँ नारवे के प्रत्येक परिवार का धन बन गई हैं। अब उन्होंने अनेक यूरोपीय साहित्यालोचकों को भी आकर्षित किया है। नारवे की ग्राम-कविताओंके कुछ अनुवाद अँगरेजी और फ्रेंच भाषाओं में हाल ही में छपे हैं।

'धार्मिक सुधार' के बाद नारवे में साहित्यिक क्रियात्मकता फिर जग चली। इस दिशा में अनेक पादरी चले। उनमें से अनेक कोपेनहागेनके विश्वविद्यालय में पढ़ चुके थे, जहाँ नए विचारों और विदेशी बौद्धिक प्रगति से उनका सम्पर्क हो चुका था। सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों में इसी कारण नारवेके साहित्य में मानवता-सम्बन्धी काव्यका प्रदुर्भाव हुआ। परन्तु आज के अर्थ में साहित्यिक और प्रतिभावान सर्जक नारवे में सत्रहवीं सदी के अन्त में ही जन्मा। लुडविग होल्बर्ग (१६८४–१७५४) नारवे का पहला साहित्य-साधक था जो सावधि यूरोप में किसी साहित्यिक से प्रतिभा में घटकर नहीं।

होल्बर्गका जन्म बर्गेन में हुआ। युवावस्थामें ही वह इंग्लैण्ड, हालैण्ड, जर्मनी, फ्रांस, इटली आदिका भ्रमण कर चुका था। इंग्लैण्ड में ढाई वर्ष रहकर उसने क्वीन ऐन के साहित्यिक जगत् से साक्षात् किया। उसने उन सुखान्त नाटकों की परम्परा प्रस्तुत की, जो डेन और नारवे के रंगमंचके प्रबल स्तम्भ बन गए। इस समय नारवे डेन्मार्क की राजनीति का अर्द्धांग था। वस्तुतः सदियों से दोनों एक ही राजशक्ति के अधीन रहे थे। इससे होल्बर्ग भी दोनों देशों में समान अपनापा का अनुभव करता था। अपने पिछले दिनों में उसने दार्शनिक निबन्धकार के रूप में अनेक यूरोपीय कृतिकारों को प्रभावित किया। अनेक नारवेई लेखकों का विचार है कि उसकी प्रतिभा में एडिसन, मोलिएर और वोल्तेयर के गुणों का सम्मिलित योग है।

होल्बर्ग की मृत्यु के बाद पहली ही पीढ़ी में नारवे में एक नई राजनीतिक अभिरुचि जन्मी। देश-प्रेमने इतिहास और काव्य दोनों में अपनी नई सत्ता प्रदर्शित की। पोप, टाम्सन और यंग के अनुरूप नारवेई रोमांचक कवियों ने भी नारवे के सौन्दर्य और राष्ट्रीय भावनाओं का काव्य में मूर्त्तन किया। साहित्य में १७७० ई० के बाद यह विचारधारा विशेषतः लक्षित होने लगी और शीघ्र ही उसने १८१४ ई० में राजनीतिक आन्दोलनका रूप धारण किया, जिसके फल-स्वरूप नारवे डेन्मार्क से अलग होकर ही रहा। शीघ्र ही एक संविधान-समिति कायम हुई और उसने नारवे को अपना स्वतन्त्र संविधान दिया। इस संविधान का सबसे मूर्त्त परिणाम है हेन्टक वर्गेलैण्ड (१८०८ ४५) वह नारवे के काव्य-जगत् का सबसे अभिराम गायक है

का अप्रतिम प्रतिनिधि। बर्गेलैण्ड बायरन को पसन्द करता था, परन्तु भावतत्व और उसके अंकन में वह शैली के अधिक निकट था, यद्यपि अपनी प्रखर कल्पना में वह शेक्सपियरके अत्यन्त समीप था। उसकी प्रकृति-मैत्री ने उसके काव्य में विराटता का रूप धारण किया। कुसुम और तितली, तरु और पक्षी, सभी के साथ वह जैसे बात करता और उसकी कल्पना बादलों के अनजाने देश और गगन-गगाके झिलमिलाते तारों में जा बसी। यूरोपीय जगत्का यह कवि पहला जन-भावुक है। कविताके साथ ही उसने देशी-विदेशी राजनीति में भी खुलकर भाग लिया। देश-विदेश दोनों में उसने स्वतंत्रता और स्वतंत्र विचारों का पोषण किया। दलितों का दूसरा मित्र नारवे में उस समय नहीं जन्मा। यहूदियों पर होनेवाले अत्याचारों के विरुद्ध उसने अपनी जान लड़ा दी।

बर्गेलैण्ड सब प्रकार से अतिकाय था। जीवन की उसे परवाह न थी। क्षीण होते शरीर को उसने कभी न गुना। असंयम उसका स्वभाव था, अद्भुत उसका रस— अद्भुत, जो शौर्यका फल होता है। उसके मित्र-शत्रु दोनों थे। इससे उसका आदर भी होता था, उससे घृणा भी की जाती थी। साधारणतः उसके विचार स्पष्ट न थे। उनमें गुत्थियाँ थी। पर अन्तकाल जब उसका विपुल शरीर क्षय की चोट से बिस्तर पर जा गिरा और उसका विशाल अस्थिपंजर शिथिल हो पड़ा, तब उसकी मेधा अचानक अकृत्रिम और स्पष्ट हो उठी। अपनी रोगशय्या से जिस भावधाराका, जिस काव्य-वैभव का उसने प्रवाह किया, उसने नारवे की जनता में उसके प्रति राष्ट्रीय साधुकी भावना जगा दी।

वर्गेलैण्डका प्रखरतम शत्रु वेल्हावेन था। उसमें बर्गेलैण्ड की जागरूक प्रतिभा तो न थी, परन्तु व्यक्तित्व उसका असाधारण, आकर्षक और कलाप्रिय था। अन्तर्मुख उसकी प्रेरणा थी, निजी समीक्षा उसके कृतित्व का प्राण थी, मूर्तन उसका परुष था। उसने अपने वर्तमान को न जाना। उसकी स्मृतिवती कविताओं में चुटीली आर्द्रता है, गजब की यातना, जो गजब की ही मायूसी पैदा करती है। इस दिशा में नारवे के कवियों में शायद वह अनूठा है। नारवे के साहित्यिक इतिहास में इन दोनों कवियों की पारस्परिक शत्रुता के बावजूद उस काल की एक विशेष स्थिति ने कुछ गुदगुदी पैदा कर दी। अपने भरे यौवन में बर्गेलैंड की अनुपम प्रतिभाशालिनी बहन कामिला कालेत ने अपने भाई और पिता दोनों के परम शत्रु वेल्हावेन को अपना हृदय समर्पित कर दिया; परन्तु स्वयं वेल्हावेन ने उसकी मर्यादा न मानी। उसका मन उस उन्मदा प्रतिभा के सौन्दर्य से न खिचा। सात वर्ष निरन्तर भावावेगों को कुचलती अभिमानिनी कामिला प्रणय-बेलि सेती रही; परन्तु उसे कवि ने स्वीकार नहीं किया। किन्तु इस कठोर परिस्थिति ने कामिला को लेखिका निश्चय बना दिया। वेदना और आवेग-भरे उसकी डायरियाँ, नोट और आपबीती इसके प्रमाण हैं। 'देहाती शेरिफ़ की कन्या' नामक उसका अपना विशेष स्थान रखता है कामिला ने नारी के अधिकारों की जो निर्भीक माँग नारवे में उपस्थित की उसकी के लिए उसने

जो भगीरथ प्रयत्न किए, वह सब उसी अस्वीकृत प्रणय का फल था।

उसने नारवे की प्राकृतिक छटा पर जो रचनाएँ कीं, उनका भी साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा। १८५० ई० के आसपास जो उस साहित्य में प्रकृति-सम्बन्धी सृजन हुआ, वह उसी कामिला की कृतियों का परिणाम है। इसी समय नारवे की परी-कथाएँ, ग्राम-गीत, ख्यातें आदि संगृहीत कर प्रकाशित की गई थीं। इसी समय नारवे के इतिहास, भाषा, सांस्कृतिक छानबीन की ओर वह साहित्य झुका था। इस समय प्रकृति-सम्बन्धी 'लिरिक' और प्रहसन-व्यंग्य को ए० ओ० विन्ये ने पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया। १८५०-६० का नारवे की बोलचाल की भाषा का वह प्रमुख कृतिकार था।

इसी समय विन्ये के दो बाल-मित्र—हेनरिक इब्सन (१८२८-१९०६) और ब्योर्नस्त्येर्न (१८३२-१९१०)—साहित्यिक भाषा-क्षेत्र में प्रादुर्भूत हुए। संसार के साहित्य में होल्बर्ग के बाद प्रसिद्ध होनेवाले ये दोनों पहले नारवेई थे। अपनी तरुणावस्था में दोनों राष्ट्रीयता की भावनाओं से प्रेरित हुए थे। दोनों को ही नारवे के इतिहास और जन-काव्य ने प्रेरित किया था। परन्तु जैसे-जैसे उनकी आयु बढ़ती गई, उनका आकर्षण-क्षेत्र भी विस्तृत होता गया। उनकी कृतियों में नई समस्याएँ, नई आकृतियाँ निरुपित होने लगीं। प्रायः आधी शताब्दी तक उनकी प्रतिभा चमकती रही, उनका कृतित्व अकुण्ठित रूप से व्यापक और सम्पन्न बना रहा। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में नारवे के साहित्य के दोनों विशिष्ट नेता बने रहे। आज भी उनकी मूर्तियाँ ओस्लो के केन्द्रीय पार्क में खड़ी हैं, जो उनके तात्कालिक बौद्धिक नेतृत्व की स्मारक हैं।

आरम्भ में इब्सन ने गेय कविताएँ ही लिखीं—लिरिक, विचारों में ऋद्ध और और मूर्तन में अभिराम; परन्तु निस्सन्देह वह मुख्यतः नाटककार था। उसके विकास में समय लगा। प्रारम्भिक रचनाएँ—विशेषकर नारवे के इतिहास अथवा ग्राम-साहित्य सम्बन्धी—कुछ अप्राकृतिक सिद्ध हुईं; परन्तु निजी कठोर परिस्थितियों के अनुभव से उसे ऐसा लगा कि कविता में 'वस्तु' इतना प्रधान नहीं, जितना कवि का दृष्टिकोण। तब से उसने कविता को कवि की समीक्षा मानी, अनुभूति की अभिव्यंजना। शुद्ध काव्य-जगत् से तब उसने छुट्टी ले ली और नाटक की ओर वह दत्तचित्त हुआ। शेक्सपियर की कृतियों से उसे पहले बड़ा सहारा मिला। उसका पहला प्रसिद्ध नाटक 'कोम्स्नर्ने' (अंगरेज़ी में यह 'प्रिटेंडर' नाम से प्रकाशित है) इतिहास की एक घटना पर अवलम्बित था। फिर दो राजनीतिक दार्शनिक नाटक—'ब्रैण्ड' और 'पियर गिण्ट'—प्रकाशित हुए। इनमें दो विचारों का विरोध प्रदर्शित है। इनमें से पहले का नायक पादरी ब्रैण्ड आदर्शवादी मनस्वी है, जो सब पर समान नियन्त्रण का क़ायल है। इस स्थिति में न वह अपनी माँ की कठिनाइयों को सोचता है, न पत्नी की, और न पुत्र की ही परिणामतः मानव-जीवन से विरत औचित्य की मात्राओं से उदासीन, ऐकान्तिक से वह स्वयं नष्ट हो जाता है इसके विपरीत पियर गिण्ट नारवे

की जन-कथा का नायक है—साधारण भूलों से भरा कमजोर मानव, जो कठिनाइयों को टरकाता जाता है। उसमें इतनी कमजोरियाँ हैं कि मनस्वी लजा जाय, फिर भी पाठक उसके साथ अधिक अपनापा स्थापित करता है। एडवर्ड ग्रिग के गान के साथ 'पियर गिण्ट' का अभिनय इस सदी में प्रायः सभी देशों में जनप्रिय हो गया है। मैंने स्वयं उसे अनेक बार विदेशों में देखा। परन्तु 'हैम्लेट' की ही भाँति यह नाटक भी खेलने और पढ़ने दोनों में सुन्दर है। यह निश्चय ही नारवेई साहित्य की प्रधान कृति है, यद्यपि स्वयं इब्सन का दावा था कि उसकी प्रधान कृति 'दि एम्परर ऐण्ड दि गैलीलियन' है। परन्तु न तो साहित्यिक गौरव में और न विचारों के संघर्ष में ही यह कृति 'ब्रैण्ड' या पियर गिण्ट' की समता कर सकती है।

कुछ काल बाद इब्सन ने एक नया प्रयोग आरम्भ किया। उसने कुछ यथार्थ-वादी आधुनिक घरेलू नाटक गद्य में लिखे। १८७७ और १८९९ के बीच उसने एक दर्जन नाटक प्रकाशित किए, जिन्होंने उसे संसारव्यापी ख्याति तो दी ही, सारे जगत् के नाट्य-साहित्य को भी प्रभावित किया। इनमें से पहले चार सामाजिक और उद्देश्य-परक हैं। दूसरे चार को हम मनोवैज्ञानिक अध्ययन और अन्तिम वर्ग को स्वानुभूति-प्रणयन कह सकते हैं। मानव-अध्यन के विचार से उसकी पाँच कृतियाँ अत्यन्त सुन्दर हैं—'ए डाल्स हाउस', 'घोस्ट्स', 'ऐन एनिमी आफ् दि पीपुल', 'दि वाइल्ड डक' और 'रोज़्मरशोल्म'। परन्तु इब्सन के प्रेमियों के लिए उसका 'ह्वेन वी डेड अवेकेन' भी कुछ कम महत्त्व नहीं रखता। उसमें वह पूछता है—जीवन के बदले कला का वरण क्या उचित था? यशोलिप्सा और कला की उपासना के लिए प्रेम और सुख की हत्या कहाँ तक शोभन है? उत्तर स्पष्ट और अनावश्यक है। इब्सन का सारा जीवन दैनिक कटु सत्यों और आदर्शों के संघर्ष में बीता। उसके विचार में मानव-जीवन की उच्चतम उपादेयता अपने विचारों को आचरण में परिवर्तित कर देने में है। अपने मित्र ब्योर्नस्त्येर्न ब्योर्नसन के सम्बन्ध में उसने कहा था कि 'यदि कभी उसका स्मारक बने, तो उसपर खुदना चाहिए: उसका जीवन उसका सुन्दरतम काव्य था।'

इब्सन के मुकाबले ब्योर्नसन की प्रतिभा अतीव व्यापक है। यद्यपि उसका कृतित्व असम-विषम है, परन्तु उसकी प्रतिभा के चिह्न उसकी प्रारम्भिक कृतियों में ही स्पष्ट हो गये थे। उसने नाटक और कथा-साहित्य में मूर्तन के अलंघ्य परिमाण धर दिये हैं और अपने देश को तो उसने लिरिक (गेय) कविता की अमूल्य निधि प्रदान की है। इसके अतिरिक्त वह अपने समय का सबसे सुन्दर व्याख्याता था, अद्भुत रंगमंच-निर्देशक, आकर्षक पत्र-लेखक, पत्र-पत्रिकाओं का असामान्य निबन्धकार। कला, राजनीति, धर्म, शिक्षा, सामाजिक और अन्तर्जातीय सभी विषयों पर उसकी लेखनी अविराम चलती रही। कालान्तर में उसकी वाणी स्व देश की सीमाएँ लाँघ दूर जा पहुँची और वृद्धावस्था में तो वह दलित राष्ट्रों का नेता ही बन गया। दक्षिणी जटलैण्ड के निवासी, चेकोस्लाव, फ़िन, पोल, रुथेनियाई, सभी ने उसके साहाय्य से प्रेरणा पाई व्यक्तित्व के विचार से नारवे ने इतना महान् व्यक्ति दूसरा नहीं पैदा किया।

उसकी प्राथमिक कृतियों में अनेक लिरिक, कृषक-कथाएँ और ऐतिहासिक नाटक थे। इन पिछलों में 'सिगुर्द स्लेम्बे' अद्भुत है। इससे ब्योर्नसन का राष्ट्रीय आन्दोलनों से सम्बन्ध स्पष्ट है। पीछे इसी साहित्यकार ने स्कैण्डिनेविया (नारवे, स्विडन और डेन्मार्क) में यथार्थवादी आधुनिक नाटक लिखकर इब्सन और स्ट्रिण्डवर्ग के लिए मार्ग प्रस्तुत किया। उसकी नाटकीय कृतियों में 'पाल लाज ऐण्ड तोरा पार्सबर्ग' प्रधान माना जाता है और 'ओवर ईव्ने' की गणना तो संसार के सुन्दरतम नाटकों में की जाती है। उपन्यासकार और नाटककार के रूप में ब्योर्नसन ने यूरोप और अमरीका में अच्छी ख्याति प्राप्त की। उसके गाने रंगमंच और साधारण कन्सर्ट दोनों में गाये जाते हैं। वह आज भी अपनी कृतियों से नारवे की जनता का हृदय छू लेता है।

इब्सन और ब्योर्नसन दोनों प्रकृति और मनुष्य का अपनी कृतियों में एक साथ ऊहापोह करते हैं। १८७० के आसपास लिखनेवाले प्रायः सभी नारवे के उपन्यासकारों की यही मनोदशा है। परन्तु दस वर्ष बाद ही नितान्त यथार्थवादी उपन्यासों का स्थान उद्देश्यपरक प्रकृतिवादी उपन्यास ले लेते हैं, जिनका वस्तु-विन्यास बड़े नगरों में होता है और जिनसे प्रकृति-लिरिक का सम्बन्ध टूट जाता है। अब का साहित्य जन को साफ़ छूने लगता है—उसकी राजनीतिक-सामाजिक परिस्थिति को, प्रगतिवादिता-राजनीतिक वामता को, समस्याओं को।

इब्सन और ब्योर्नसन के पूर्ववर्ती मित्र योनस ली और अलेक्ज़ेण्डर कीलैण्ड ने उस व्यवस्था को नहीं माना। १८९० के शीघ्र बाद नारवे के साहित्य में उपन्यासों की बाढ़-सी आ गई। इनमें समाज बराबर प्रतिबिम्बित होता रहा और साहित्यिक सिद्धान्तों का विवेचन होता रहा। उपन्यास के क्षेत्र में भी इस समय नारवे ने यूरोप में अपना पद उसी प्रकार प्राप्त किया, जिस प्रकार नाटक के क्षेत्र में इब्सन और ब्योर्नसन के नाटकों ने किया था। परन्तु १८९० के आसपास इस उपन्यास-साहित्य को एक ठेस लगी। उनके बीच एक नवरोमांचक दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया जन्मी। व्यक्ति-चित्रकार योनस ली ने कुछ काल उपन्यास लिखना छोड़कर प्रकृति की शक्ति, चन्द्रिका, परी-कथा आदि पर साहित्य रचना शुरू किया। बोलचाल के प्रधान लेखक आर्ने गार्बोर्ग ने गाँव लौटकर उसी मार्ग का अनुकरण किया। फिर लिरिक आदि लिखे जाने लगे। परन्तु कृषक का जीवन भी उस वर्णनात्मक साहित्य में विशेषतः झलकने लगा।

बीसवीं सदी की पहली दशाब्दी में इब्सन, ब्योर्नसन और उनके अनेक समकालीन साहित्यिकों का देहावसान हुआ। उनके साथ ही उनके युग का अन्त भी हो गया। परन्तु शीघ्र एक नये युग का प्रारम्भ हुआ। नई प्रवृत्ति भी नारवे में जगी। क्नुत हामसुन और योहन बोयेर अब यूरोप में व्यापक ख्याति प्राप्त करने लगे। उपन्यास-क्षेत्र फिर एक बार चमका। १९०७ में दो अनेक साधक प्रकट हुए, जिनमें श्रीमती सिग्रिद उन्दसेन्त ने तो अपने साहित्यिक युग की काया ही पलट दी। उसने

नारवे में अपने सावधि उपन्यासों से ख्याति प्राप्त की, परन्तु ऐतिहासिक ज्ञान और कल्पना ने उसका यश पहले ही विस्तृत कर दिया था। उसकी कृति 'क्रिस्तिन् लव्रान्स्दत्तर' (१९२०-२२) बीसवीं सदी के नारवेई साहित्य की चूड़ामणि है, जो फिर से ऐतिहासिक उपन्यासों का प्रारम्भ करता है। श्रीमती उन्दसेन्त (जन्म १८८२) असाधारण प्रतिभावान् पुराविदकी सन्तान है। उनका स्वय का ऐतिहासिक ज्ञान इतना असामान्य है कि चौदहवीं सदी के नारवे-सम्बन्धी इस कृतिमें विशेषज्ञ विद्वान् भी कोई काल-विरुद्ध दूषण या त्रुटि न पा सके। इस उपन्यासके चमकते चित्रण मे ऐतिह्य के अतिरिक्त मानववाद के कालातीत वर्णन भी हैं। क्रिस्तिन् ६०० वर्ष पूर्व की होकर भी आज की है—नितान्त सजीव और सुघड़।

सिग्रिद उन्दसेन्त पूर्णतः अपनी मातृभूमि की प्रतिनिधि हैं। उनकी कृतियो मे नारवे सर्वतः रम गया है। उसकी ऋतुएँ, पर्वत और झील, जंगल और फ्यूर, खेत और किनारे, किसान और मज़दूर, सभी उनमें है। इसी परम्परा में उन्दसेन्त के समकालीन दो पुरुष भी हैं—वोलाव दून और योहन फ़ाल्कबर्गेत। दोनो ने उपन्यास लिखे हैं और दोनों में नारवे की आत्मा उतर पड़ी है। १९२० से इधर नारवे मे साहित्यिक प्रवृत्ति और जग पड़ी है। उपन्यास, कविताएँ, गद्य, निबन्ध, नाटक सभी का सृजन हुआ है; यद्यपि नाटकों का स्थान दूसरा है। इधर वैज्ञानिक कृतियो की भी बाढ़-सी आ गई है।

जर्मन-विजय-काल में लिरिक काव्य फिर एक वार नारवे में विशेष सजग हुआ। मूक युद्ध में लिरिक एक अद्‌भुत आध्यात्मिक अस्त्र बन गया। इनमें सभी लिरिक-कला की दृष्टि से असाधारण न थे, परन्तु उनकी सख्या ने काफ़ी काम किया। इन गीत-कवियों में अनेक तो सचमुच कला की दृष्टि से भी ऊँचे उठ गये। अर्नूल्फ़ ओवरलैण्ड उन्हीं में से एक है, जिसकी भारती मे विजित नारवे की आत्मा जर्मनों के विरुद्ध पुकार उठी थी। चार साल वह जर्मन क़ैद मे रहा और उस चार साल की भयानक स्थिति में वह मृत्यु से लड़ता रहा। अन्त में संगमरमर की-सी श्वेत पंक्तियो मे उसने अपने उद्‌गार प्रसिद्ध 'वी ओवरलेवर आल्त'—हम फिर भी जिन्दा हैं—में भर दिए। यह कृति शक्ति और बर्दाश्त का अनुपम दृष्टान्त है। नोरदाल ग्रिग भी इसी प्रकार का एक निर्भीक साधु गायक था, जिसने वर्लिन की गोलाबारी के समय वीरगति प्राप्त की। 'फ्रीहेतेन' (आज़ादी) नामक उसकी कविताओं का संग्रह उसके मरने के बाद प्रकाशित हुआ। आज़ादी की लड़ाई लड़नेवाले नारवेइयों के लिए यह सग्रह गीता बन गया। नारवे की स्वतन्त्रता के बाद ही इसका प्रथम संस्करण हुआ। तीस लाख नर-नारियों के उस छोटे देश में उसकी सत्तर हज़ार प्रतियाँ देखते-ही-देखते बाज़ार से उठ गईं!

१८

अधिकृत डेनमार्कका साहित्य

सन् १९४० में नात्सी जर्मनी ने एक साथ नारवे और डेनमार्क पर अधिकार कर लिया। जीवन के सारे क्षेत्र पर जर्मन शिकंजा वज्र की भाँति पड़ा। फिर भी आजादी की लड़ाई लड़नेवालों ने सर्वत्र किस प्रकार अपनी आवाज़ बुलन्द की, यह कुछ अनजाना नहीं। परन्तु साहित्य ने इस स्थिति मे भी अपनी आवाज़ धीमी न पड़ने दी, यह सभी नहीं जानते। विदेशी अधिकृत शासन में साहित्यिक किस प्रकार अपनी आजादी के लिए लड़ सकता है, किस प्रकार वह शक्ति के साथ लेखनी का प्रयोग करता है, यह जितना नात्सी-अधिकृत डेनमार्क के पाँच वर्षों के साहित्य से प्रमाणित है, उतना शायद कहीं और के इतिहास से नहीं।

९ अप्रैल, १९४० को डेन-साहित्य का मुँह बन्द कर दिया गया। निःसन्देह कुछ डेन-साहित्यिक ऐसे भी थे जिन्होंने स्वयं अपना मुँह बन्द कर लिया था। जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति ने उनमे पहले से ही एक भय-सा भर दिया था, और उसका डेनमार्क पर अधिकार होते ही उन्होंने कलम रख दी। परन्तु जिनकी कहानी में लिखने जा रहा हूँ, वे उनमें से हैं, जिन्होंने सन् १९३३-४० के जर्मन उदय-काल में नात्सी खतरे से दुनिया को आगाह करने के लिए कलम चलाना अपना कर्तव्य समझा था। डेनमार्क के अधिकतम साहित्यिकों का नात्सी-विरोधी दृष्टिकोण अधिकार-काल से सालों पूर्व पक चुका था, और वे उस खतरे के विरुद्ध लिखने लगे थे। इस सम्बन्ध में डेनमार्क की अनागत विपत्ति की छाया मे लिखी तीन पुस्तकों का हवाला दिया जा सकता है।

इनमें से पहली ओट्टो गेल्स्टेड की लिखी सन् '३८ में प्रकाशित 'उद्वाल्गते दिग्ते' है। किस प्रकार आजादी की रक्षा के लिए प्रौढ़ प्रणय-गायक, शुद्ध रोमांचक साहित्यिक नात्सी उन्माद के विरोध में बदल कर यथार्थवादी राजनीतिक कवि बन जाता है, यह इस कृति से सिद्ध है। सन् '३९ में इस दृष्टिकोण से लिखा क्येल्द आवेल का वह अद्भुत नाटक 'अना स्टोफ़ी हेड्विग' निकला, जिसने साम्प्रत डेनमार्क का नात्सी जर्मनी के प्रति वास्तविक दृष्टिकोण स्पष्ट किया। उसने स्पष्ट शब्दों में आजादी के दुश्मनों को ललकारा और उनके विरुद्ध हर स्वतन्त्रता-प्रेमी को संघर्ष में शामिल होने की सलाह दी। मनुष्य जाति का शत्रु कहकर जर्मनी को जहाँ इस पुस्तक ने धिक्कारा, वहाँ अपनी जनता को उस खतरे के विरुद्ध कमर कसने को भी विवश किया। उन्हीं दिनों सन् '३९ के पतझड़ में हेराल्ड हरडाल ने अपने 'एन एग्न आफ़

लान्देत' (देशका एक कोना) लिखकर द्वितीय महासमरके गिरते हुए गोलों का जवाब दिया। निर्भीक शब्दों मे उसने स्वदेश मे भीनते हुए नात्सी जहर का प्रतिरोध किया।

जर्मन-अधिकार का अर्थ यह था कि कोई अपने विचारानुकूल बोलने या लिखने का अधिकारी नहीं। फिर भी जो राजनीतिक अस्त्र के रूप में कलमे चलाते रहे, उन्हें युक्ति से काम लेने की आवश्यकता पड़ी। खुली पुस्तकें प्रकाशित करना खतरे से खाली न था, इससे बिखरे लेखों पर ही सब्र करना पड़ा। लेखों की छिपी आवाज सदा विदेशी शत्रु पहचान नहीं पाता और उन्हें पत्र-पत्रिकाओं में छाप देना अपेक्षाकृत आसान होता है। वे साधारणतः पुस्तकों से कहीं अधिक दायरों मे फिर जाते हैं। पुस्तकों पर वैसे भी पत्रों से कहीं कड़ा पहरा (सेन्सर) बैठा हुआ था। फिर भी नाटककार सोया ने सन् '४१ में अपना उपन्यास 'यॉ गेस्त' (एक अतिथि) निकाल ही डाला। इसमें एक ऐसे पशु का चरित था जिसने धीरे-धीरे एक शान्तिप्रिय परिवार में प्रवेश किया और धीरे-ही-धीरे स्वयं निरन्तर बढ़कर उस परिवार का सर्वस्व हरण कर उसे बाहर निकाल दिया। रूपक स्पष्ट था। पुस्तक पकड़ ली गई। उसके लेखक सोया और प्रकाशक दोनों नात्सी-अधिकार के प्रथम वर्ष में ही कठघरे के पीछे कर दिए गए। उसी काल 'पोलितिकेन' (कोपेनहागेन का प्रसिद्ध दैनिक) में प्रसिद्ध कवि पिएत हाइन ने 'कम्बेल' नाम से अपनी कुछ कविताएँ प्रकाशित कीं। पहली नजर में ये कविताएँ सर्वथा साधारण लगती थी, परन्तु परिणाम में उनका गहरा अर्थ होता था। वे जर्मन सेन्सर की निगाह बचा गईं। हाइन की कविताओं का सुन्दरतम भाग फिर भी न छप सका। अधिकतर वे नकल कर ली जाती थीं और गाँव-गाँव, शहर-शहर फिरा करती थीं। क्येल्द आबेल की नाट्य-कृतियों का भी अधिकतर यही हाल हुआ। उसका प्रच्छन्नार्थ 'मिरेर्न' (चींटियाँ) डेनमार्क मे तो नहीं छप सका, परन्तु डेनमार्क में जब्ती के पहले यह स्वीडी साहित्यिक जर्नल 'बोनिएर लितरारा मागाजीन' में बराबर पढ़ा जा सकता था। कुछ पुस्तकें ऐसी भी थीं जो छपते ही अथवा छपने के पूर्व ही जब्त कर ली गईं। इनमें प्रसिद्ध थे—केत्रिन लिण्डमान का उपन्यास 'देन कान वेल क्रिहेद बाएर' (१९४३), हान्स शेर्फ़िग का उपन्यास 'आइदियलिस्तेर' ('४३), योहान लुसार्त का उपन्यास 'वेयेन बोद नार्द' (उत्तरकी राह, '४३) और पाल सोरेन्सन का कविता-संग्रह 'आप्रिल इ देन्मार्क' ('४२)। इनमे से अधिक पुस्तकें स्विडन में छपीं और डेनमार्क में चोरी से लाई गईं। जर्मनों ने डेनमार्क के अनेक पत्र-पत्रिकाओं का भी गला दबा दिया।

स्वाभाविक ही ऐसा साहित्य, जो राजनीतिक न था और जिसमें नात्सी जर्मनी अथवा नये शासन के प्रति संकेत न होता था, प्रकाशित होता रहा। परन्तु यह सोचना कि '४० से '४३ तक चार साल डेन-पुस्तकों का प्रकाशन बन्द रहा, अर्थ नहीं रखता। इस काल की प्रधान कृतियों में क्नुथ बेकर की आत्मकथा के दो खण्ड हैं। इसी बीच नोबेल-पुरस्कार के विजेता योहान जेन्सन ने अपना 'नार वोगेंव कोरेर' (जब गाड़ी चलाई जाती है) प्रकाशित किया जेन्सन की शान्त लेखनी इस काल में

भी चुपचाप निबन्ध उगलती रही। इसी काल एग्निस हेनिंग्सन की शालीन स्मृतियाँ और येरगेन्सन की कविताएँ 'दिग्ने इ दान्मार्क' (डेनमार्क की कविताएँ) प्रकाशित हुईं। इनके अतिरिक्त अनेक जाने-अनजाने लेखकों ने डेनमार्क को अपनी लेखनी के रत्न प्रदान किए। तोवे दित्लेवसन, आग दोन्स, फ़िन गर्दे, क्नुद सोन्दर्बी इन्हीं में से कुछ थे। इनमें अन्तिम ने अपने नाटक 'आँ क्विन्दे एर ओवरफ़्लोदिग' (नारी अनावश्यक है) से अच्छा नाम पैदा किया। यह नाटक कोपेनहागेन के रायल थियेटर में खेला भी गया। इस काल के सबसे प्रतिभावान् लेखकों में से दो योर्गेन निल्सन और मार्तिन येन्सन इसी बीच परलोक सिधारे। इनमें से पहला बाल-मनोविज्ञान और दूसरा राजनीतिक-सामाजिक साहित्य का व्युत्पन्न स्रष्टा था। वास्तव में इस नात्सी-प्रभुत्व-काल में प्रबल जर्मन-सेन्सर-शिकंजे के बावजूद लगातार डेनमार्क में छिपे-खुले ढंग से ऐसा साहित्य प्रस्तुत किया जाता रहा, जो नात्सी-दर्शन के सर्वथा प्रतिकूल था। उस साहित्य को तरह देते हुए जर्मन भूल गए कि उसके तथ्य ने भीतर-ही-भीतर नात्सीशाही पर गहरी चोट की है।

डेन-लेखकों में से केवल इने-गिने व्यक्तियों ने जर्मन शासन स्वीकार किया या उसके आतंक से आत्म-समर्पण कर दिया। थे भी ये सातवें दर्जे की योग्यता के, जो सत्साहित्य के सृजन में सर्वथा असफल रहे थे। केवल उन्होंने 'हेरेनफ़ोक' की धुरी स्वीकार की। उनके नाम हैं—नाटककार स्वेण्ड बोर्बेर्ग, समीक्षक हेराल्ड निल्सन, उपन्यासकार हेराल्ड टाण्ड्रप, ओल्गा एगर्स, स्वेण्ड फ़्लूरों और एकाध और। केवल दो जाने हुए साहित्यिकों ने जर्मनों की नीति में योग दिया—पुराने देशभक्त लिरिक कवि वाल्दमार रोरदम और हेराल्ड बर्गस्टेड ने। इनमें से पहले ने डेन-नात्सी-दल के पत्र 'फ़ादरलैण्ड' में हिटलर पर एक कविता लिखी। दूसरे ने कभी अत्यन्त सुन्दर गीत लिखे थे। स्वतन्त्रता के बाद इस दूसरे को डेन-सरकार ने नात्सियों के साथ सहयोग करने के कारण दो साल की क़ैद की सज़ा दी।

२२ जून, १९४१ को डेनमार्क के प्रायः सारे कम्यूनिस्त पकड़कर जेलों में ठूँस दिए गए। इन्हीं के साथ डेनी लेखक भी एक बड़ी संख्या में पकड़ लिए गए। इन्हीं में प्रसिद्ध उपन्यासकार हान्स किर्क भी था, जिसकी पुस्तकें 'फ़िस्कर्नें' (मछलीमार), 'डाग्लेयर्नें' (दिनका मजूर), 'दि न्ये टाइडर' (नया युग) सामाजिक यथार्थवादितामें प्रतीक बन गई है। उसने अनेक व्यंग्यात्मक उपन्यास भी लिखे हैं। इन्हीं गिरफ्त लेखकों में हान्स शेर्फ़िग, निबन्धकार पीटर पी० रोडे और जीवित डेनी उपन्यासकारों में अपने देश की सीमाओं के बाहर सबसे प्रसिद्ध मार्टिन ऐण्डर्सन नेक्सो भी था। नेक्सो तो ऐसा बीमार पड़ा कि यदि विशेष आन्दोलन के कारण छोड़ न दिया गया होता तो जेल में ही मर जाता। परन्तु छूटते ही उसके पीछे गेस्टेपो का भूत लगा और उसे स्विडन भागना पड़ा। हान्स किर्क और पीटर रोड सैकड़ों कम्यूनिस्तों के साथ जेल से निकल भागे, वर्ना उनकी भी वही गति होती जो उन लेखकों और कम्यूनिस्तों की हुई जो कन्सेन्ट्रेशन कैम्पों में भेज दिए गए और जिन्दा न लौटे इन

दोनों लेखकों ने डेन गुप्तान्दोलनों को सम्हाला और उनमें गहरा योग दिया। जिन डेनी लेखकों ने अपनी आज़ादी की लड़ाई में अधिकाधिक भाग लिया और जिन्होंने अपनी प्रतिभा से ग़ैर-क़ानूनी प्रेसों को लेखन-सामग्री की कमी न होने दी, उनमें कोल्ड आबेल प्रधान था। उपन्यासकार मार्टिन हान्सन और ब्रेनर और कवि पाल ला कूर, पाल सोरेन्सन, बर्तिल बुल्स मोलर तथा हाल्फ़दन रासमुस्सन भी उन्हीं में थे। इनके अतिरिक्त इस स्वातन्त्र्य-संग्राम को हान्स हर्त्विग और सीदोर्फ़ पेडर्सन आदि का भी योग मिला, जिन्होंने अपनी कविताओं द्वारा उस डेनी काव्य-धारा की लाज रखी जिसे वाल्देमार रोरदम ने बहा दिया था।

इस काल के एक लेखक का उल्लेख आवश्यक है। काय मुंक उसका नाम है। जेटलैंड के पश्चिमी तटपर वेदर्सो के देहात मे उसका आवास था। नाटककार के रूप में युद्ध के पहले उसकी देश-भर में ख्याति हो चुकी थी; परन्तु राजनीतिक विचारक के रूप में अधिकतर वह एक ख़तरा ही समझा जाता था। उसके स्वप्न मुख्यतः धार्मिक थे। उसने जनवाद के उसूलों का खुल्लमखुल्ला खण्डन किया था और 'नेता' के देवतापन पर इतनी निष्ठा प्रकट की थी कि लगा, वह हिटलर और मुसोलिनी का स्पष्ट समर्थक बन जायगा। उन्हें उसने अनेक बार सराहा भी था। जर्मन सरकार के कायम होने के कुछ ही पूर्व उसने एक सभा में कुछ ऐसी बाते कहीं कि लोगों को डर लगा, कहीं वह डेनमार्क का हाम्सुन न बन बैठे। परन्तु स्थिति की शक्ति उस पर कुछ ऐसी हावी हुई, कम्यूनिस्टों के बलिदान ने उस पर कुछ ऐसा जादू डाला कि उसके विचार सहसा बदल गये और जर्मन नीति के विरुद्ध जो उसने 'ना' कहना शुरू किया तो वह 'ना' कहता ही रहा। उसकी कविताएँ, नाटक, लेख, व्याख्यान और धार्मिक उपदेश सभी देश के शत्रुओं के विरुद्ध पुकार उठे। उसके नाटक 'निल्स एब्सन' को, प्रकाशित होते ही, सन् '४२ में जर्मनों ने जब्त कर लिया। इसका नायक डेनमार्क का राष्ट्रीय नेता निल्स एब्सन था, जिसने पूर्व काल में जर्मन तानाशाह काउण्ट गर्ट को मार डाला था। इस नाटक का उद्देश्य डेन जनता को आक्रमणकारियों के विरुद्ध भड़काना था। कला की दृष्टि से यह कृति कुछ ऐसी महान् न थी, परन्तु इसका परिणाम देशानुकूल सिद्ध हुआ। काय मुंक की 'नाविगारे नेसेर्स' और 'स्वेर्ग देत, द्रेंगे' (शपथ लो, जवानो!) तथा दूसरी कविताओं में, जो यद्यपि खुल्लमखुल्ला प्रकाशित न हो सकीं, पर जो देश के कोने-कोने तक पहुँच गईं, एक नई डेन चेतना का विकास हुआ। इस प्रकार यह लेखक अपने देश के शत्रुओं के विरुद्ध लेखनी से लड़ता रहा। अपने 'फ़ार काने' नामक नाटक-स्केच में कायकला की दृष्टि से भी अत्यन्त ऊँचा उठा। उसमें उसने ऐतिहासिक समानान्तरता द्वारा यह स्थापित किया कि असहयोग और सहयोग की आत्मा में कितना अन्तर है। उसकी पुस्तकें जब्त कर ली गईं, उसके व्याख्यान बन्द कर दिये गये, परन्तु वह जर्मनों के दमन और डेन जनता की थकी बुज़दिली दोनों के विरुद्ध समान रूप से लड़ता रहा। सन् '४४ के नये दिन को जब उसे देना था, उसने चुपचाप गिरजे के फ़र्श पर खड़े हो

अपने सुननेवालों को पराजय-स्वीकरण और निष्क्रियता के विरुद्ध कुछ खरी-खरी सुनाई। यही उसका अन्तिम सार्वजनिक व्याख्यान था। ४ जनवरी को जर्मन गेस्टेपो ने उसे पकड़ लिया। जेटलैंड के बीच, देहात के एकान्त पथपर जहाँ उसका निवास था, हिमलर की आज्ञा से मुंक को गोली मार दी गई। डेनमार्क का वह अविजित सितारा डूब गया, परन्तु उसका तेज स्वतन्त्रता के संग्राम में लड़नेवालों का मार्ग विजय-काल तक उज्ज्वल करता रहा।

इस काल अनेक ख्यातनामा डेनी लेखक स्विडन चले गए। इन्हीं में मार्टिन ऐण्डर्सन नेक्सो और यहूदी उपन्यासकार हेनरी नाथान्सेन थे। नेक्सो रूस चला गया और नाथान्सेन ने यहूदियों पर होते अत्याचार सहन न कर सकने के कारण स्विडन पहुँचकर आत्मघात कर लिया। बाहर चले जानेवालों में कुछ और नाम उल्लेखनीय हैं—लेखिका कारेन आव्ले, उपन्यासकार मोगेन्स क्लितगार्द, प्रखर कवि ओत्तो गेल्स्तेद और पीटर फ़्रइन्चन के। मोगेन्स तो घर लौटकर तुरन्त मर गया। वह जीवन बड़ा कठिन था जो इस काल के डेनी मनस्वी लेखकों ने अपनाया था, बिरले ही जीवित बचे। उसने अपने प्रवास में कविताओं का एक संग्रह 'एमिग्रान्दिग्ते' (शरणार्थी की कविताएँ) और उपन्यास 'फ़्लिग्लिन्येने इ हुसावी' (हुसावी के शरणार्थी) लिखा। कविताएँ शरणार्थियों के प्रवास और स्वदेश लौटने की बेक़रारी के अद्भुत चित्र हैं और उपन्यास स्विडन के एक डेनी शरणार्थी-कैम्प का यथार्थ वर्णन करता है।

जर्मन हुकूमत में तीन विशिष्ट डेन-लेखक मार डाले गए। इनमें से एक ईमानदार और मौलिक पत्रकार सिगुर्द टाम्सन था, जिसने अनेक रेडियो-नाटक और साहित्यिक जीवनियाँ लिखी थीं। कुछ जर्मनों के मारे जाने के बदले में शत्रुओं ने उसकी सड़क पर हत्या कर दी। युवा कवि मोर्टेन निल्सन भी २२ साल की अल्पायु में सन् '४४ में मार डाला गया। निल्सन, जिसने 'क्रिगेरे उदेन वाबेन' (अस्त्रहीन लड़ाके) नामक कविता-संग्रह सन् '४३ में प्रकाशित कर अपनी प्रौढ़ प्रतिभा का परिचय दिया था, स्वातन्त्र्य-संग्राम के एक सशस्त्र दल का सक्रिय सदस्य हो गया था। उसकी जान वास्तव में गोली की आकस्मिक चोट से गई। उसकी मृत्यु और देश की आजादी के बाद उसकी कविताओं का संग्रह—'एफ़्तरल्दादूते दिग्ते' (मरणान्तर कविताएँ)—निकला, जिसने उसकी ख्याति सीमातीत कर दी। दमन ने उसकी शक्तियों को उभाड़ दिया था। उसकी मृत्यु से डेन-साहित्य का काफ़ी अपकार हुआ। किम माल्थे-ब्रून दूसरा जवान लेखक था, जो आजादी की लड़ाई में काम आया और जिसे जर्मनों ने लड़ाई के अन्तिम साल 'देशद्रोही' कहकर मार डाला। वह केवल २१ साल का था जब वह जर्मन गोलियों का शिकार हुआ। उसका नाम उसके मित्र-मात्र जानते थे। उसकी मृत्यु के बाद उसकी माँ ने उसकी चिट्ठियों और पत्रिका से कुछ उद्धरण छापे। ये पत्र उसने अपने १७वें और २१वें वर्ष के बीच लिखे थे। जिसने 'किम' पढ़ा है वह जानता है कि किम माल्थे-ब्रून की मृत्यु से डेन-साहित्य का एक मुक्त कवि एक तरुण डेन-शैलीकार छिन गया

निश्चय ही अधिकृत डेनमार्क में नारवे की भाँति नोर्दाल ग्रीग अथवा आर्नुल्फ वोवलैण्ड न थे और न जनता को आज़ादी के लिए बेताब कर देनेवाले कवि उगर हागेरप, गनर रीस ऐण्डर्सन या लीफ़ रोड ही हुए। जनता के दिल में झाँककर देखने वाला और उसकी आवाज़ को अपनी कविता में सही मुखरित करनेवाला कवि तरुण पाल सोरेन्सन था; परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वह भी नारवेइयों के राष्ट्रीय गगन चुम्बी गायनों की ऊँचाई तक नहीं पहुँच पाता। अधिकृत काल में कविताओं का एक संग्रह 'देर ब्रान्देर एन इल्द' (आग जलती है) नाम से निकला, जिसमें अनेक अज्ञातनामा कवियों की कविताएँ संग्रहीत हुई; पर इनमें कोई असाधारण न थी। डेनमार्क में सिवा काय मुंक के दूसरा इतना प्रखर था भी नहीं, और मुंक जनता के दृष्टिकोण को अनेक बार सन्दिग्ध रूप में रख जाता था। हाँ, नारवेई कवि निश्चय अपनी लेखनी से आग उगलते रहे और उनके स्वर को डेनमार्क ने सदा अपना स्वर माना। कोई विदेशी इस सत्य को नहीं आँक सकता कि नोर्दाल ग्रीग की कविताएँ किस मात्रा में डेनी जनता की अपनी थी, किस अंश में वे उन्हें अपनी आज़ादी की लड़ाई लड़ने को प्रस्तुत करती थीं। उसकी कविताएँ छिपे तौर से छपकर देश के कोने-कोने तक पहुँचती थीं और किसान और मुदर्रिस समान उत्साह से उन्हें पढ़ते थे। पहला विदेशी लेखक जिसकी रचना सामूहिक रूप से छपकर देश-व्यापी हुई और गैर कानूनी तौर से देश में फिरी, वह जान स्टाइनबेक था और उसकी रचना, जिसने देश में एक प्रकार की क्रान्ति मचा दी, 'चाँद अस्तंगत है' थी। अन्य विदेशी रचनाओं मे, जो इस काल डेनमार्क में प्रचलित हुई, स्वीडी लेखक बर्तिल माल्मबर्ग की 'ऐक्सेलेन्सन', नारवेई सिनोव क्रिस्टेन्सन की 'या, येग एर सन नोर्स्क क्विन्दे' (मैं नारवेई नारी हूँ), ऐक्सेल कीलैण्ड की 'ह्वीस एत फ़ोक बिल लीव' (यदि राष्ट्र जिन्दा रहेगा) और स्वीडिश लेखक विल्हेल्म मोबर्ग की 'रिड इ नाट' (रात की सवारी) थीं। जो पुस्तकें विदेशों में छिपकर देश में चोरी से आई, उनमें प्रमुख 'नोर्स्क फ़्रट', 'नोर्जउण्डेर हाकेकोर्सेट' और 'नोर्दैन्स स्तामा' (नारवे की आवाज़) थी। इनके अतिरिक्त देश में कारिन बायज का उपन्यास 'कालोसेन,' आइविण्ड योनसन की कीलन पुस्तकें, पार लाजेर-क्विस्त का 'बोदेल्न' (जल्लाद) और आल्डस हक्स्ले का 'ग्रे एमिनेन्स' भी आये।

हाँ, उस काल कुछ नये—सर्वथा नये—डेनी लेखक भी उत्पन्न हुए, जिनसे डेनी साहित्य के लिए भविष्य में बहुत कुछ आशा की जा सकती है। ओले यूल ने, जो स्विडन भागने पर मजबूर हुआ था, 'द रोड एंगे' नामक एक उपन्यास लिखा। इसमें डेनमार्क की लड़ाई का अच्छा चित्रण है। युद्ध के दिनों में यह पुस्तक स्विडन मे प्रकाशित हुई, फिर डेनमार्क में आई। पीछे इसकी फ़िल्म भी बनी। इसके अतिरिक्त दो अन्य डेनी लड़ाकों ने दो उपन्यास लिखे, जो स्वतन्त्रता के बाद छपे। ये थे हान्स एडवर्ड डेम्कर का 'कैम्प फ़ार माल्त हाद दु हार केर्ते' (अपने प्रिय स्वत्वों के लिए लड़ो) और आर्ने सेयर्स का 'ओग दरफ़ार लेवेर वी (इसी से हम जिन्दा हैं) इसी

प्रकार की डेनी आज़ादी की लड़ाई की एक झलक क्नुद सोन्दरबी-कृत 'देन उसिन्लिए हेर' (गुप्त-सेना) में भी मिलती है, यद्यपि इसका साहित्यिक स्तर कुछ ऊँचा नहीं।

स्वतन्त्रता के बाद तो डेनमार्क के साहित्य और पुस्तक-प्रकाशन-क्षेत्र में बाढ़-सी आ गई है। उनका वर्णन यहाँ अभीष्ट नहीं। इनका स्तर भी आकर्षक नहीं। इनमें भी क्येल्द आबेल के नाटक 'सिल्कबोर्ग' का उल्लेख करना होगा, जो यद्यपि अधिकृत काल से सीधा सम्बन्ध तो नहीं रखता, परन्तु तज्जनित समस्याओं के हल का विधान करता है। शान्ति के प्रश्नों को लेकर इस नाटक का प्रणयन हुआ है और पिछले डेनी साहित्य में यह अपना स्थान रखता है। जर्मन-युद्ध की पृष्ठभूमि से अनेक प्रशस्त साहित्य-कृतियाँ प्रस्तुत हुई हैं, जो अगली शान्ति के निर्माण की ओर संकेत करती हैं।

१६

बीसवीं सदी का फ़िन्नी साहित्य

१९१७ तक फ़िनलैंड विदेशी सत्ता का वाहन रहा है। ६०० वर्ष यानी १८०९ तक उसे राजनीतिक क्षेत्र में स्विडन ने भोगा और बाद में सौ वर्ष रूस ने। १९१७ में जब रूस में साम्यवादी क्रान्ति हुई तब फ़िनलैंड स्वतन्त्र हुआ। १८०९ तक लगातार केवल स्वीडी वहाँ की राज्यभाषा रही और उसी में फ़िनलैंड का साहित्य अधिकतर लिखा गया, जिसे स्वीड और फ़िन दोनों जातियों के साहित्यकारों ने प्रस्तुत किया।

१८८३ में पहले-पहल फ़िनलैंड की जन भाषा को स्वीडी के साथ-साथ राजभाषा (शासन की भाषा) बनने का अधिकार मिला। परन्तु शासन की एक मात्र भाषा वह १९१७ में ही बन सकी। इसलिए यद्यपि लोक साहित्य फ़िनलैंड का पुराना है और फ़िन्नी ज़बान में स्वीडी के साथ-साथ ही साहित्य का सृजन सदियों पहले हुआ, उसका सही साहित्य वास्तव में बीसवीं सदी का ही है। फिर भी वर्तमान फ़िन्नी साहित्य का अध्ययन करते समय हमें उन्नीसवीं सदी के बीच से ही उसका आरम्भ करना होगा।

उन्नीसवीं सदी के बीच फ़िनलैंड के साहित्यकार बाहरी संसार की सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के सम्पर्क में आए और सार्वभौम मानव-समस्याओं के विश्लेषण में भाग लेने लगे। उनकी अपनी भाषा के साहित्य में नई साहित्यिक शैलियों और प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव हुआ। १८८० में वहाँ उस प्रकृतिवाद का विचार फैला जो यूरोप के उत्तरी देशों में नई सामाजिक चेतना का आन्दोलन बन गया था। वर्गों के पारस्परिक संघर्ष और नारी तथा श्रमिक वर्ग के अधिकारों की समस्याएँ उस चेतना का प्राण थीं। फ़िनलैंड ने भी उस नई चेतना को अपने साहित्य का आधार बनाया।

वर्तमान फ़िन्नी साहित्य में इन प्रवृत्तियों की पहली जनयित्री मिन्न कान्थ (१८४४-९७) थीं। १८८५ लगते-लगते उन्होंने सामाजिक समस्याओं को अपने साहित्य का विषय बना लिया। उस साल उनका ड्रामा 'मजूर की बीवी' प्रकाशित हुआ, जिसमें उन्होंने रूढ़ियों और सामाजिक विधानों की मारी, अधिकारहीना नारी की आफ़तों को दिखाया। उनके उपन्यास "गरीब लोग", "छिपी चट्टान" (१८८६-८७) और 'अभाग्य के बच्चे' (१८८८) भी उसी प्रवृत्ति के परिचायक हैं। तीनों उपन्यासों में कान्थ ने सम्पत्तिहीन श्रमिकों और उनके हृदयहीन, स्वार्थी, धनी मालिकों का चित्र खींचा है उनका अन्तिम नाटक 'अना लीसा' (१८९५) था मिन्ना फ़िन्नी साहित्य में नव युग की स्रष्टा तो थीं ही, शैलीकार भी वह प्रथम श्रेणी की थीं

वस्तुतः उस साहित्य के चोटी के शैलीकारों में मिन्ना की गणना की जाती है। उस दिशा में अगर उनसे कोई बाजी मार सकता है तो वह है जुहानी अहो (१८६१-१९२१)।

फ़िनलैंड में जुहानी अहो से ही बीसवीं सदी का साहित्य प्रारम्भ होता है। जुहानी ने अपने उपन्यास 'रेलवे' में यथार्थ जीवन का सफल निरूपण किया, फिर भी उन्होंने साहित्य को कला के स्तर से नीचे न उतरने दिया। उनका दूसरा उपन्यास 'पादरी की बेटी' (१८८५) भी समस्या-प्रधान है जिसमें एक ऐसी लड़की का अन्तरंग खोलकर रख दिया है जिसे ऐसे पुरुष से विवाह करना पड़ा था जिसे वह प्रेम नहीं करती थी। उसकी नायिका नारी जाति का प्रतीक बन जाती है। उनका 'पादरी की बीवी' (१८९३) दूसरे उपन्यास का ही प्रसार या उपसंहार है, जिसमें बेटी तरुण पादरी की पत्नी के रूप में चित्रित की गई है। यह उपन्यास कला की परिणति है, जिसमें जीवन की कोमल-से-कोमल परिस्थितियाँ गजब की साहित्यिक प्रौढता से अभिव्यक्त हुई हैं। अहो ने कहानियाँ भी लिखी है। उनमें फ़िनलैंड की आम जनता के हर्ष-विषाद का सविस्तर उद्घाटन हुआ है। अहो ने अपनी कहानियों में शैली का चमत्कार उपन्यासों से भी बढ़कर दिखाया है। उद्देश्य-परक साहित्य की सबसे बड़ी कमजोरी उसकी गद्यात्मक नीरसता है। परन्तु जुहानी उस कमजोरी से साफ़ ऊपर उठ गया है।

इसी काल यूरोप के साहित्यों पर लियो ताल्स्तोई का प्रभाव अधिकाधिक दृष्टिगोचर होने लगा था। फ़िनलैंड का साहित्य भी उस प्रभाव से बचा न रह सका। आर्विद जानफ़ेल्त (१८६१-१९३२) उसी प्रभाव का परिणाम था। अपने विचारों के प्रति ईमानदारी के कारण वह किसान बन गया। १८९३ में उसका उपन्यास 'पितृभूमि' प्रकाशित हुआ, जिसमें रोमानी पृष्ठभूमि के यथार्थवादी क्षेत्र की ओर प्रगति हुई। वैसे आर्विद विचारक अधिक प्रचारक कम है। अपने विचारों को उसने उपन्यास, कहानी और नाटक द्वारा मूर्त किया। 'मेरा परिवर्तन' (१७९४) उसी दिशा का उपन्यास है। उसकी दो प्रसिद्ध कहानियाँ 'मानव भाग्य' (१८८५) और 'जीवन का समुद्र' (१९०४) हैं, जिनमें-जीवन के पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। उसका अन्तिम उपन्यास 'श्रेता और उसका भगवान्' (१९२५) भी उसी परम्परा में है।

समाज की ही भाँति साहित्य में भी उदार भावनाओं का अभाव बढ़ता जा रहा था। उस दिशामें तरुण कवि काज़ीमीर लेइनो (१८६६–१९१९) अग्रणी था। वैसे वह आलोचक भी था और उसकी विशेष रुचि रसवादी सिद्धान्तों में थी। उसने लिखा तो कम ही—उसकी कविताओंके तीन संग्रह और एक नाटक ही उपलब्ध है—परन्तु उसकी कृतियों के रसपाक की सभी ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। मिन्ना और जोहानी की ही भाँति फ़िन्नी शैली और काव्य रूप के विकास में लेइनो का भी पर्याप्त हाथ रहा है।

धीरे धीरे फ़िन्नी में लिखनेवाले साहित्यकारों की संख्या बढ़ी और लोग स्वीडी

के मोह को छोड़ने लगे। इन नये लेखकों में विशेष प्रभावशाली जोहानिज लिनानाहोस्की (१८६१-१९१३) था। काजीमीर का छोटा भाई आइनो लाइनो (१८७८-१९२६) फ़िन्नी साहित्य का असामान्य कवि हो गया है। वह असाधारण प्रतिभाशली था। प्रायः ३० वर्षों तक उसने काव्यक्षेत्र का नेतृत्त्व किया। उसकी कविताएँ असाधारण मधुर तो होती ही थीं, लिखा भी उसने बहुत। उसकी कविताओं के दो संग्रह फ़िन्नी साहित्य की अनुपम कृतियाँ मानी जाती हैं। उसकी 'हिल्गा ऋचाएँ' फ़िनलैण्ड के लोक साहित्यसे बहुत प्रभावित और उसके बहुत निकट हैं। अपने प्रबन्ध काव्य 'काल की लहरों से' में उसने फ़िनलैण्ड की जनता की समस्याओं पर विचार किया। आइनो भी काजीमीर की भाँति कवि होने के साथ आलोचक भी था। यह विशेष महत्त्व का प्रसंग है, क्योंकि तभी फ़िनलैण्ड को रूसी अत्याचार और क्रूरता का शिकार होना पड़ा था। आइनों की कविताओं में गहरी अनुभूति की सम्पदा भरी पड़ी है और अनुभूति भी ऐसी जो रूसी क्रूरता की चोटसे स्पन्दित है। परिणामतः जीवन के प्रति कवि की श्रद्धा अदम्य हो उठती है। काव्यरूप की कलाकारिता में फ़िनलैण्ड का कोई कवि उसका मुकाबला नहीं कर सकता।

उसके बाद के कवियों में दो के नाम साथ साथ अधिकतर लिये जाते हैं। ओतो मानीनैन और कोस्केनीमी के। दोनों समकालीन थे। पहले की कविताएँ रूप में कसी और विचारों में गठी हैं। उनमें से अनेक प्रतीकवादी हैं। दूसरा तो प्रायः सर्वथा विचार प्रधान है। उसकी कविताएँ रूप की प्रधानता लिए हुए हैं और उसकी शैली स्पष्ट और अकृत्रिम है।

यहाँ उस साहित्य की तीन नारी-साहित्यकारों का उल्लेख कर देना समीचीन होगा। वे हैं माइला तालिकओं (ज० १८७१), मारिया जौतुनी (१८८०-१९४३) और आइनो कालास (ज० १८७८)। माइला ने अधिकतर मिन्ना कान्थ का काम आगे बढ़ाया। उनके उपन्यास, कहानियाँ और नाटक सामाजिक सुधारपरक थे। बाद में वह मनोवैज्ञानिक समस्याएँ हल करने लगीं। मारिया आधुनिक फ़िनलैण्ड के नाटककारों की अगली पंक्ति में गिनी जाती हैं। उनके नाटक बड़े प्रभावोत्पादक और सफल हुए हैं। उनकी शैली चुस्त है। उन्होंने अपने नाटकोंमे यथार्थवादी जीवन का उद्घाटन किया है। अधिकतर देहात के रहनेवाले उनके नाटकों के पात्र हैं। आइनों कालास ने अधिकतर उपन्यास और कहानियाँ लिखीं और उनमें उन्होंने इस्तौनिया के सामाजिक जीवन के पट खोले।

फ़िनलैण्ड में भी अभिव्यंजनावाद का विकास हुआ। इस दिशा में जर्मन अभिव्यंजनावादी लेखकोंसे प्रभावित लौरी हारला (१८९०-१९४४) ने अपने नाटकों द्वारा पहला क़दम उठाया। उसके नाटक अधिकतर ऐतिहासिक हैं और उसके पात्र स्पष्टतया चित्रित। उसके दो नाटक—"पाप" (१९२३) और "जूडास" (१९२७)—काफ़ी प्रसिद्ध हुए हैं

आज के फ़िन्नी साहित्य के सबसे बड़ उप   फ्रांज एमिल सिलान्पा

(ज० १८८८) हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों के प्लाट सदा फ़िनलैण्ड के गाँव से चुने हैं। उनकी कृतियों में सामाजिक वर्ग सर्वथा सजीव चित्रित हुए हैं।

सिलान्पा ने बहुत-सी कहानियाँ भी लिखी हैं पर सबमें अधिकतर उनके दर्शन और जीवन के प्रति दृष्टिकोण का ही प्रतिपादन हुआ। १९३९ में उन्हें नोबेल पुरस्कार मिला था।

फ़िन्नी साहित्य दोनों महायुद्धों के बीच काफ़ी फलाफूला। दूसरे महायुद्ध के बाद तो उस देश में पुस्तक-प्रकाशन और विक्रय की बाढ़-सी आ गई। देश में प्रकाशकों की संख्या ८० से ऊपर हो गई और सन् '४५ में एक करोड़ पुस्तकें बिकीं, जिसका अर्थ है कि १५ वर्ष से ऊपर की आयुवाले प्रत्येक व्यक्ति के हिस्से ५ पुस्तकें पड़ीं।

उस बीच फ़िनलैण्ड के स्वीडी साहित्य का विस्तार भी पर्याप्त हुआ, यद्यपि अब साहित्यकारों का विशेष प्रेम फ़िन्नी साहित्य के प्रति रहा। फ़िन्नी साहित्य की प्रधान धाराएँ 'लिरिक' काव्य और उपन्यास के क्षेत्र में बहीं। सिलान्पा ने १९४५ में अपना सुन्दरतम उपन्यास 'मानव जीवन का सौन्दर्य और कष्ट' प्रकाशित किया। साहित्य के क्षेत्र में तीन नारियों के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके नाम ऊपर लिखे जा चुके हैं—आइनो कालास, मारिया जोतूनी और माइला ताल्वियो। इनमें पहली 'लिरिक' काव्य में प्रयत्नशील हैं और दूसरी और तीसरी उपन्यास-रचना में। आइनो की दो लिरिक, 'मृत्यु का हंस' (१९४२) और 'चन्द्र-रश्मि' (१९४३), प्रसिद्ध कविताएँ हैं।

लौरिहाली ने नाटक के क्षेत्र में काफ़ी ख्याति पाई थी, अब उन्होंने उपन्यास लिखने शुरू किए। मध्यकालीन फ़िन्नी जीवन पर उनके दो उपन्यास, 'तरुण सरदार' (१९३५) और 'कुर्की परिवार की कहानी' (१९४०), जाने हुए हैं। पुराने साहित्यकारों में बी० ए० कौस्केनीमी विशेष उल्लेखनीय है।

फ़िनलैण्ड के साहित्याकाश में अनेक नक्षत्रों का उदय हुआ है। इनमें हेला, वुओलियोकी, लौरी विल्यानेन, कत्री वाला और साइमा, हर्मावा, ऊर्नो कैलास (१९०१-३३), उन्तो सेपानेन और मिका वुल्तारी के नाम लिए जा सकते हैं। हेला के नाटक रंगमंच पर बड़े सफल हुए हैं। साइमा की २४ वर्ष की उम्र में अकाल मृत्यु ने फिनलैण्ड के साहित्य को गहरी क्षति पहुँचाई। स्वयं ऊर्नो ३२ की आयु में चल बसा। उपन्यास के क्षेत्र में उन्तो सेपानेन बहुत सफल हुए। उनका रोमानी उपन्यास, 'सूरज और तूफ़ान' (१९२९), अंग्रेजी में भी 'सन ऐण्ड स्टार्म' नाम से प्रकाशित हुआ। मिका का ऐतिहासिक उपन्यास 'मिस्री सिनुहे' (१९४५) प्रसिद्ध हो चुका है। मिका ने साहित्य में बड़ी सक्रियता दिखलाई है और पर्याप्त लिखा है।

सदियों फ़िनलैण्ड का साहित्य स्वीडी भाषा और साहित्य के दबावों के कारण नगण्य बना रहा है। परन्तु १९१७ के बाद वह निश्चय दिन-ब-दिन प्रगति करता जा रहा है, उसका क्षेत्र नित्य विकसित होता जा रहा है

१७

संस्कृत का प्रचार

स्वराज्य-प्राप्ति के बाद, विशेषकर पिछले कुछ सालों से, संस्कृत के अध्ययन अनुशीलन और प्रचार के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के प्रयत्न हुए हैं और हो रहे है। उस सम्बन्ध में कुछ तथ्यों पर विचार करना यहाँ अनुचित न होगा।

देश में संस्कृत के व्यापक महत्त्व के अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। देश की संस्कृति में भाषा और ज्ञान के रूप में संस्कृत शरीर की नसों की तरह छाई हुई है। धर्म, विश्वास, दर्शन, साहित्य—प्राचीन और अर्वाचीन—आधुनिक साहित्यो की पृष्ठभूमि और परम्पराओ पर भी—उसका दूरगामी और गहरा प्रभाव है। इसी स्थितिको ध्यान में रखकर देश के संविधान ने चौदह राष्ट्रीय भाषाओं में इसको भी गिना है। वस्तुतः चाहे जितना भी इसका व्यापक असर हो, बोली जानेवाली भाषा की दृष्टि से संस्कृत जीवित नहीं कही जा सकती। अनेक लोगों ने इस बात में भी सन्देह किया है कि संस्कृत कभी भी, प्राचीन काल में भी, वाल्मीकि और कालिदास के समय भी, बोली जाती थी। उनका कहना है कि भाषा यह यद्यपि अत्यन्त महत्त्व की, पर मात्र दर्शन, धर्म और साहित्य की, शिष्टों की थी, और शिष्ट ही उसे विशेष अवसरों पर बोलते थे।

जिस प्रकार किसी जमाने में फ्रेंच यूरोपीय देशों की जबानों पर हावी थी, जिस प्रकार चार्ल्स द्वितीय के चौदहवें लुई के फ्रांसीसी दरबार से लौटकर लन्दन मे राजसत्ता पुनर्ग्रहण कर लेने के बाद फ्रेंच दरबार तथा शिष्ट समुदाय की सांस्कृतिक भाषा बन गई थी (जिसका परिणाम यहाँ तक हुआ कि आज न केवल मिस्र और ईरान तक बल्कि अफ़गानिस्तान तक में लोग ऐसे मिल जाते है जो फ्रेंच लिख-बोल लेते हैं) उस प्रकार और उस मात्रा में भी संस्कृत का प्रचार कभी इस देश में नहीं हुआ, उस काल भी नही जब उसकी सत्ता देश के सारे साहित्यों और भाषाओं के ऊपर प्रतिष्ठित थी। और युग ऐसे भी आये जब संस्कृत तथा संस्कृत की सांस्कृतिक सत्ता के विरुद्ध मनीषियों ने विद्रोह भी किया और प्राकृतों के पक्ष मे आवाज उठाई। निर्ग्रंथ नाटपुत्त (वर्धमान महावीर) का छठी सदी ईस्वी पूर्व में अर्द्धमागधी में जैन धर्म का और छठी-पाँचवीं सदी ईस्वी पूर्व में बुद्ध का पाली में प्रवचन और बौद्ध धर्म का प्रचार, फिर पीछे की सदियों में जैन धर्म के अनेक ग्रन्थों का धारावाहिक रूप से प्राकृतों में लिखा जाना उसी ब्राह्मण-संस्कृत विरोधी परम्परा के प्रमाण हैं यह निःसन्देह सही है कि बौद्ध परम्परा कम से कम दर्शन के क्षेत्र में एक बार फिर संस्कृत की परिधि में खिंच आई,

विशेषकर जब सिद्धान्तों का प्रणयन दार्शनिक दृष्टि से संघ के ब्राह्मण-भिक्षु और स्थविर करने लगे। फिर भी शास्त्रार्थों से पृथक् संस्कृत का जनबोली तो क्या शिष्टों की विशिष्ट अवसरभिन्न बोली होना भी प्रमाणाभाव में असिद्ध ही है। संस्कृत साहित्य में भी जहाँ जनसंकुल मानव परिवार का दर्शन होता है, जैसे नाटकों के पात्र वर्ग में, वहाँ भी स्वाभाविक ही राजा, मन्त्री और पुरोहित को छोड़ शेष प्रायः सभी प्राकृतें या संस्कृत-भिन्न जनबोली बोलते हैं।

इस स्थिति से जब यह प्रकट है कि स्वाभाविक जनबोली 'प्राकृतों' का ही प्राचीन काल में जनसत्ताक उपयोग होता था और संस्कृत का उपयोग बहुत कुछ आज की ही भाँति, यद्यपि मात्रा में कुछ अधिक, परिमित था, तब उसे संजीवित करने के कृत्रिम उपाय कहाँ तक सफल या नीतिसम्मत होंगे, यह कहने की आवश्यकता नहीं। संस्कृत के तत्त्वबोध में, उसके देश के सांस्कृतिक जीवन के ऊपर प्रभाव में, साहित्यों पर व्यापक सत्ता में तब किसी प्रकार या अंश में हानिकर असर नहीं पड़ता यदि उसके प्रचार में उन अनेक दृष्टियों को तज दिया जाय जो आज की हवा में हैं पर वस्तुतः गहराई से देखने पर विशेष अर्थ नहीं रखते।

आज संस्कृत के प्रचार और प्रसार के लिए देश में पर्याप्त प्रयत्न हो रहे हैं, यद्यपि अधिकतर प्रचारों के मूल में संस्कृत के ज्ञान और संस्कृत भाषा के गैरजानकार लोग ही अधिकतर सक्रिय रहे हैं। जो भी हो, संस्कृत के प्रचारार्थ जो संकल्प हुए हैं उनका कार्य सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है। संस्कृत विश्वपरिषद् देशव्यापी अधिवेशन कर रहा है, ओरियंटल कान्फ्रेंसों में संस्कृत विभाग का अपेक्षाकृत प्रसार भी अधिक हुआ है, कुरुक्षेत्र में एक संस्कृत यूनिवर्सिटी का सूत्रपात भी हुआ और बनारस में तो संस्कृत यूनिवर्सिटी देश के अन्य विश्वविद्यालयों की भाँति विविध विषयों के विधान से ज्ञान के साधनों और अध्ययन-अध्यापन के विभिन्न अर्वाचीन उपकरणों की सहायता से कार्य भी कर रही है। इधर जो केन्द्रीय सरकार ने एक संस्कृत कमीशन की नियुक्ति की थी उसने भी अनेक सुझाव उस भाषा के प्रचार और प्रसार के लिए दिये हैं।

कहा तो यहाँ तक गया है कि संस्कृत को अँग्रेजी का स्थानापन्न कर दिया जाय, संस्कृत को स्कूलों के पाठ्य-क्रम में व्यापक रूप से अनिवार्य कर दिया जाय, औपचारिक अवसरों पर संस्कृत का ही उपयोग किया जाय और, कुछ लोगों ने तो यहाँ तक साहस कर कहा, कि संस्कृत राजभाषा बना ली जाय। स्वाभाविक ही इस साहस की बात पर विचार करने की आवश्यकता नहीं, पहले तो इस कारण कि सभी समझदार व्यक्तियों ने इस नीति का घोर विरोध किया है, दूसरे इस भाषा का आम प्रयोग इस देश में भी असम्भव है, आज के दिन भी, जब पहले भी अर्थात् उसके असाधारण उत्कर्ष के दिनों में भी, ऐसा न हो सका था। कहा तो यहाँ तक जा सकता है कि यदि आधुनिक ग्रीक इस देश की राजभाषा बना दी जाय तो शायद इतना अनुचित न होगा जितना संस्कृत को बनाना अनुचित होगा, क्योंकि आखिर ग्रीक किसी देश की आज जीवित भाषा है जिसे वहाँ के रहनेवाले आम तौर से बोलते हैं

जहाँ तक स्कूलों में संस्कृत को अनिवार्य बनाने की बात है वह स्वयं विशेष महत्त्व की नहीं। इस राज को इस सम्बन्ध में भली भाँति समझ लेना चाहिए कि जिस भाषा का समाज में सक्रिय और जीवित प्रयोग नहीं उसका अध्ययन चाहे जिस मात्रा में अनिवार्य कर दिया जाय, उसका प्रचार अकेले इस साधन से नहीं हो सकता। इस दिशा में एक-आध उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। १९वीं सदी में, कुछ अंशों में आज भी ऐसा है, यूरोप के स्कूलों में ग्रीक या लातीनी का अध्ययन अनिवार्य था, पर स्कूल की परीक्षाएँ पास करते ही विद्यार्थी उन भाषाओं से उदासीन हो जाते और प्रायः सभी उन्हें सर्वथा भूल जाते थे। हाँ, आधुनिक भाषाओं को अगर वे वैकल्पिक रूप से संकल्पतः पढ़ते, निश्चय उन्हें वे अपने ज्ञान में जीवित रख पाते थे, क्योंकि उन भाषाओं का सक्रिय रूप में व्यवहारतः जीवित होना स्वयं उनके अविस्मरण की गारंटी था। हाँ, जो पंडित कि प्राचीन ग्रीक, लातीनी, आर्य अथवा सामी भाषाओं का अभ्यास करते, अपने शोध और गवेषणा का, अनुसंधान का विषय बनाते, वे निश्चय उन्हें अपने में अथवा अपने तक पुनर्जीवित कर अपने-अपने ज्ञान और उनकी संस्कृति का लाभ आम जनता को कराते हैं। इसी प्रकार संस्कृत के पंडित जिनका उस भाषा में राग है केवल वे ही उसे जीवित रख सकते हैं, और उनको रखना चाहिए। और इस दिशा में काम करनेवाले विद्वानों की संख्या बढ़े तथा उनकी स्थिति समृद्ध हो, इसका प्रयत्न राष्ट्र और राज्य दोनों की ओर से समुचित होना चाहिए।

स्वयं देश में, विशेषतः उत्तर प्रदेश में, एक इसी प्रकार के अनिवार्य पाठ्यक्रम की असफलता भी उद्धृत की जा सकती है। उत्तर प्रदेश के स्कूलों में आठवीं कक्षा में उर्दू प्रधान भाषा लेने वाले को अनिवार्यतः हिन्दी पढ़नी पड़ती थी और हिंदी प्रधान भाषा लेने वाले को अनिवार्यतः उर्दू। पर केवल इसी कारण न गैरहिंदी वालों ने हिंदी सीखी और न गैरउर्दू वालों ने उर्दू। इसलिए इस बात का कुछ अर्थ है कि जहाँ तक स्कूलों में संस्कृत की अनिवार्यता का प्रश्न है हमारे अनेक राज्यों—मद्रास, आंध्र, मैसूर, केरल, पंजाब, आसाम, उड़ीसा और बम्बई—ने उसका विरोध किया है।

यह हमें निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि भाषा का विस्तार विद्वान् नहीं करते, वे केवल साहित्य का निर्माण कर सकते हैं, कि राजसत्ता भाषा का विस्तार नहीं करती, कि भाषा का विस्तार प्रचार द्वारा भी कुछ ही और वह उपेक्षणीय मात्रा में किया जा सकता है। जनता जब तक भाषा को अपनाकर उसे जन-बोली का रूप नहीं देगी तब तक आज का यह संस्कृत सम्बन्धी मृगतृष्णा का भावुक प्रचार मृगतृष्णामात्र बनकर रह जाएगा। जनता अपनी बोली किसी भाषा को नितान्त उन मूलभूत कारणों से बनाती है जो भाषा के आदितः निर्माण और उदय के प्रथम कारण हैं, यानी अभिव्यक्ति के लिए, अपनी इच्छा को दूसरों पर प्रकट करने के लिए। और ऐसा तब तक नहीं हो सकता जब तक जनता की अपनी स्वाभाविक प्राकृत या ऐसी भाषा पहले से ही व्यवहार में प्रयुक्त होती रही हो, जो उसकी और जनबोली है इसलिए संस्कृत के भारत में , या औपचारिक भाषा होने की कोई संभा

चना नहीं, ईमानदारी से कोई आग्रह नहीं। राष्ट्रभाषाओं में भी उसकी गणना मात्र उसकी सांस्कृतिक व्यापक सत्ता के प्रति आदर प्रदर्शन है, कुछ अनिवार्य सामूहिक आवश्यकता नहीं।

देश में संस्कृत विश्वविद्यालयों का अनेकशः निर्माण, संस्कृत शोधों की प्रतिष्ठा, संस्कृत के भाषा, साहित्यादि के क्षेत्र में अनुसंधान आदि का संपोषण वस्तुतः अपेक्षित प्रक्रिया है जिसका अभिनन्दन हर समझदार व्यक्ति करेगा। इनके माध्यम से संस्कृत भाषा समृद्ध भी होगी। संस्कृत के उन्नायकों को मूली और अन्न के अन्तर को समझकर उस महती समृद्ध भाषा के उन्नयन का प्रयत्न वैज्ञानिक साधनों से करना चाहिए, न कि संख्या के परिमाण से।

१८

भारतीय शोध और यूरोपीय पण्डित

भारतीय ज्ञान-विज्ञान के शोध और अनुसन्धान में यूरोपीय विद्वानों का कितना योग रहा है, इसका अनुमान कम ही भारतीय कर पाते हैं। आज प्रायः पौने दो सौ वर्ष हुए, जब भारतीय पुरातत्त्व, इतिहास, दर्शन, साहित्य, संस्कृति आदि में वैज्ञानिक खोज आरम्भ हुई। सुप्रीम कोर्ट के जज और वारेन हेस्टिंग्स् के समसामयिक सर विलियम जोन्स ने बंगाल की 'एशियाटिक सोसाइटी' को जन्म देकर उस अनुसन्धान की परम्परा की नींव डाली। उसने स्वयं, जो कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का अंग्रेजी अनुवाद कर, यूरोप में संस्कृत-साहित्य के प्रति विद्वानों में महती जिज्ञासा उत्पन्न कर दी, वह उस दिशा में पहला पग था। फिर एक के बाद एक पण्डित भारतीय ज्ञान को निरावरण करने में लग गये और तब से निरन्तर जिज्ञासा और अनुसन्धान की वह लौ जलती रही।

इस अनुसन्धान का केवल ज्ञान-पिपासा ही कारण न थी। नये शासन के स्थापित होने पर नये कानून की भी व्यवस्था हुई। परन्तु शीघ्र यह पता चल गया कि भारतीय सम्पत्ति के आवागमन और दाय की एक स्थानीय स्पष्ट व्यवस्था है, जिसमें न केवल स्थानीय रीति परम्परा का योग है, वरन् व्यवहार (कानून) की अनेक सूत्रबद्ध पद्धतियाँ भी उस दिशा में निर्देश करती हैं। तब सम्पत्तिनिर्णय से सम्बन्ध रखनेवाले सभी ग्रन्थों की खोज और छानबीन शुरू हुई। धर्मसूत्रों और धर्मशास्त्रों का अध्ययन इस अर्थ में अनिवार्य हो गया जिसमें नित्य होनेवाले मुकदमों में, हिन्दू-व्यवहार-व्यवस्था और साम्पत्तिक दाय के अनुसार अधिकारों का निर्णय किया जा सके। अधिकतर अंग्रेज ही तब जज आदि थे और उन्होंने संस्कृत साहित्य और कानून-सम्बन्धी ग्रन्थों का अनुशीलन भारतीय पण्डितों की सहायता से आरम्भ कर दिया। इस प्रकार भारतीय शोध अपने वैज्ञानिक पाँवों पर खड़ा हुआ।

यूरोपीय विद्वत्ता और शोध-पद्धति की यह विशेषता रही कि अठारहवीं सदी से ही, जब-जब नयी संस्कृति-सभ्यता आदि का कोई सूत्र मिला है, तब-तब उसके अग्रणियों ने बालोत्सुकता का-सा परिचय दे, अद्भुत तीव्रता से उस दिशा में काम शुरू कर दिया है। अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी की राजनीति में उपनिवेशीकरण और साम्राज्य-निर्माण की जो पिपासा जागी, उसके साथ ही नयी जातियों के साहित्य, संस्कृति और सभ्यता के अध्ययन का भी कल्पनातीत मात्रा में विकास हुआ। चीन, भारत, मिस्र, अक्काद, एलाम, सुमेर, असुर, फ़िलिस्तीन, क्रीत, खत्ती ईरान, ग्रीस,

रोम, अमरीका आदि की संस्कृतियों की शोध में यूरोपीय और अमरीकी विद्वान् तुरत जुट गये। इन विद्वानों में अंग्रेज, नारवेई, स्वीड, फ़िन्न, डेन, डच, बेल्जियन, जर्मन, पोल, रूसी, चेक, फ्रेंच, इतालियन आदि सभी हैं। सभी ने लुप्त भारतीय संस्कृति की इकाइयाँ प्रस्तुत करने में बड़ी लगन से काम किया है, जिसका फल यह हुआ है कि आज हम अपनी संस्कृति और सभ्यता, ज्ञान और विज्ञान के आँकड़ों का गर्व और लज्जा के साथ साक्षात् कर लेते हैं।

वैदिक क्षेत्र में आफ़्रेख़्त, वेबर, मैक्समूलर, श्रेदेर, बेन्फी, आदि ने स्तुत्य कार्य किया। आफ़्रेख़्त ने ऋग्वेद का सम्पादन किया और हलायुध की अभिधानरत्नमाला का शोधित संस्करण निकाला। वेबर ने यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता और वाजसनेय संहिता का भी सम्पादन किया। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण और कात्यायन श्रौतसूत्रों का प्रकाशन भी वेबर की ही लेखनी से हुआ।

श्रेदेर ने यजुर्वेद की काठक संहिता के अतिरिक्त उसकी मैत्रायणीय संहिता का भी सम्पादन किया। इसी प्रकार बेन्फ़ी ने सामवेद का समुचित सम्पादन कर, उसका मूल हमारे लिए उपलब्ध किया। आफ़्रेख़्त ने ऐतरेय ब्राह्मण का पाठ शुद्ध कर प्रकाशित किया था। उसका अनुवाद हाग ने प्रस्तुत किया। ऐतरेय ब्राह्मण के अतिरिक्त ऐतरेय आरण्यक का भी शीघ्र सम्पादन हुआ और वह जटिल कार्य प्रसिद्ध कीथ ने किया।

कीथ दिग्गज पण्डित था—'जाएण्ट'। प्राचीन और अर्वाचीन दोनों का वह निष्णात विद्वान् था। औपनिवेशिक राजनीति और संवैधानिक शासन का तो वह इतना बड़ा आचार्य था कि अनेक लोगों को यह भ्रम था कि वह पुरा-पण्डित कीथ से भिन्न है। प्राचीन भारतीय ज्ञान-क्षेत्र में वह हर दिशा का जानकार था और उसकी बहुमुखी प्रतिभा ने अनेक बहुमूल्य ग्रन्थ सम्पादित और प्रस्तुत किये। वैदिक और 'क्लासिकल' संस्कृत-साहित्य, दोनों में उसकी समान गति थी। वैज्ञानिक अनुसन्धान का वह अप्रतिम अग्रणी था।

जब उसके गुरु मैकडोनेल ने 'वेदिक इण्डेक्स' जैसे ग्रन्थ की रचना शुरू की, तब, वह लिखता है, कुछ काल बाद उसका साहस टूट चला, क्योंकि कार्य असाधारण था। परन्तु कीथ की मेधा और अध्यवसाय ने उसे प्रोत्साहन दिया और गुरु का वक्तव्य उसने सही कर दिया कि यदि उसने उसमें हाथ न लगाया होता तो 'वेदिक-इण्डेक्स' सा अद्भुत ग्रन्थ अपने चार खण्डों में हमारी जिज्ञासा का आज समाधान न करता। कीथ ने आरण्यक-उपनिषदों का सम्पादन तो किया ही, संस्कृत-साहित्य पर उसका इतिहास भी सबसे अधिक प्रामाणिक है। उसके सैकड़ों निबन्ध कीथ के पाण्डित्य का परिचय देते हैं। उसने ऐतरेय आरण्यक के अतिरिक्त सांख्यायन आरण्यक का भी सम्पादन किया है।

लिण्डनर भी वैदिक साहित्य का ही पण्डित था। उसने कौषीतकि ब्राह्मण का सम्पादन किया। बोथलिंक का नाम भी पाण्डित्य और प्रकाशन के प्रतिभा में मैक्स-म्यूलर आदि के साथ लिया जाता है उसने और उपनिषदों के

मूल शुद्ध किये और उनका सम्पादन किया। व्याकरण में भी उसकी बड़ी गति थी और उसने पाणिनि की अष्टाध्यायी का सुन्दर सम्पादन किया। साथ ही रिड के साथ उसने हेमचन्द्र की अभिधानचिन्तामणि का भी एक सुथरा संस्करण प्रकाशित किया।

वैदिक पण्डितों में मैक्सम्यूलर सबसे महान् था। ऋग्वेद का उसने सायण के भाष्य के साथ शुद्ध संस्करण निकाला। वह बड़ा गम्भीर विद्वान् था। अपनी कृतियों से उसने संस्कृत-साहित्य का प्रभूत उद्घाटन किया और भारतीयों को इस रूप में बड़ा ऋणी बनाया। भारतीय संस्कृति के प्रति उसका दृष्टिकोण केवल नितान्त उदार ही न था, वरन् उसका वह परम भक्त भी था। उसने सूझ, अध्यवसाय और पाण्डित्यपूर्ण अनेक कृतियाँ तो भारतीय पुराज्ञान के क्षेत्र में प्रस्तुत कीं ही, उस अद्भुत सीरीज़ का उसने सम्पादन भी बड़ी योग्यता से किया जिसे 'सैक्रेड बुक्स आफ़ दि ईस्ट' (पूर्व की पवित्र पुस्तकें) कहते हैं और जिसमें अनेक भारतीय साहित्य-रत्न प्रकाशित हुए हैं।

जैकोबी ने अपने ज्योतिष-सम्बन्धी अध्ययन द्वारा ऋग्वेद के काल पर प्रकाश डाला और ऋग्वेद का सुन्दर अध्ययन किया।

कीथ के गुरु मैक्डोनेल ने वैदिक साहित्य पर बड़ा काम किया और संस्कृत-साहित्य का इतिहास लिखा। विलसन भी वैदिक साहित्य का पण्डित था। उसने ऋग्वेद का अनुवाद किया। उसका पुराणों का सम्पादन और अनुवाद भी सुन्दर है। भारतीय रंगमंच के प्रारम्भिक अध्येताओं में से वह है। ग्रिफ़िथ ने अनेक संस्कृत ग्रन्थों का अंग्रेज़ी में अनुवाद कर यूरोपीय, अमरीकी और भारतीय जनता की ज्ञान-पिपासा बुझाई। ऋग्वेद, अथर्ववेद, मनुस्मृति (चार-चार खण्डों में), रामायण, मेघदूत आदि के उसने अद्भुत शब्दानुवाद किये। उसके उन अनुवादों में नोट बड़े महत्त्व के हैं।

कल्पसूत्रों के अध्ययन का आरम्भ भी अधिकतर यूरोपीय विद्वानों ने ही किया। हिलेब्रांट ने सांखायन श्रौतसूत्रों का सम्पादन किया और ओल्डेनबर्ग ने सांखायन गृह्यसूत्रों का। स्टेन्ज़्लर ने आश्वलायन गृह्यसूत्रों, पारस्कर (वाजसनेय) गृह्यसूत्रों और गौतम धर्मसूत्रों का सम्पादन किया, साथ ही याज्ञवल्क्यस्मृति का भी। गोभिल गृह्यसूत्रों का सम्पादन क्नावर ने किया।

ब्यूलर भी असाधारण पण्डित था। उसकी प्रतिभा भी अनेकमुखी थी। उसने धर्मशास्त्रों का सुन्दर अध्ययन किया। आपस्तम्ब धर्मसूत्रों का उसका संस्करण प्रामाणिक है। उसने कीलहार्न के साथ धनपाल की पाइलच्छि का भी सम्पादन किया। प्राचीन लिपियों में ब्यूलर की अद्भुत गति थी और उसने ब्राह्मी लिपि के विषय में काफ़ी खोज की, यद्यपि उसे पढ़ने का श्रेय जेम्स प्रिन्सेप को मिला।

बौधायन धर्मसूत्रों का सम्पादन हुल्श ने किया और वसिष्ठ के धर्मसूत्रों का फ्यूरर ने। फ्यूरर ने बाण के हर्षचरित का भी शुद्ध सम्पादन किया। हुल्श ने क्लासिकल संस्कृत, व्याकरणादि पर भी काफ़ी काम किया। जाली ने मानव-धर्मशास्त्र का सुन्दर सम्पादित संस्करण निकाला और विष्णु धर्मशास्त्र तथा नारदस्मृति का सम्पादन किया

जाली स्टेन्ज़्लर का काम, धर्मशास्त्रों और सूत्रों के अध्ययन में, बड़ा सराहनीय है। इसी दिशा में कोलब्रूक और ब्लूमफ़ील्ड के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

नीति और अर्थशास्त्र के क्षेत्र में ओपर्ट का कार्य सराहनीय है। उसने शुक्र-नीतिसार का सम्पादन किया। साथ ही उसने यादवप्रकाश के कोष वैजयन्ती का पाठ भी शुद्ध कर उसे उपलब्ध किया। कौटिलीय अर्थशास्त्र पर जाली ने भी काफ़ी लिखा। राथ ने महर्षि यास्क के निरुक्त का सम्पादन किया। कीलहार्न ने कात्यायन के अष्टाध्यायी-सम्बन्धी वार्तिकों का सम्पादन किया, साथ ही पतञ्जलि के महाभाष्य का भी तीन खण्डों में सम्पादित संस्करण प्रकाशित किया। उसने व्यूलर के साथ पञ्चतन्त्र का भी सम्पादन किया। गोल्डस्टूकर ने पतञ्जलि के महाभाष्य की अनुक्रमणिका (इण्डेक्स) प्रस्तुत की और टीमे ने प्रातिशाख्यों का गहरा अध्ययन किया।

ह्विटनी ने सूर्यसिद्धान्त का सम्पादन और अनुवाद किया। कर्न ने, जिसका बौद्ध साहित्य के अध्ययन में इतना नाम है, आर्यभटीय का सटीक संस्करण निकाला। उसने आर्यसूर की जातकमाला भी सम्पादित की। थीबो ने सुधाकर द्विवेदी के साथ पञ्चसिद्धान्तिका का सम्पादन किया। उसने ब्रह्मसूत्रों का भी अनुवाद किया।

ऐतिहासिक काव्यों के सम्पादन, अनुवाद आदि में भी यूरोपीय पण्डितों की क्षमता और लगन निर्विवाद है। इस क्षेत्र में अनेक विद्वानों ने बड़े प्रयत्न किये। कावेल और टामस ने बाण के हर्षचरित का अनुवाद किया। पिटर्सन ने कादम्बरी का सम्पादन किया और रीडिंग ने उसका अनुवाद। पिटर्सन ने जोनराज की द्वितीय राजतरंगिणी, शार्ङ्गधर की पद्धति और बल्लभदेव की सुभाषितावली का भी सम्पादन किया। आरेल स्टाइन का कल्हण की राजतरंगिणी का सटीक अंग्रेज़ी अनुवाद बड़े अध्यवसाय का परिणाम था। विक्रमार्जुनविजय अथवा पम्पाभारत का सम्पादन राइस ने किया। हाल ने सुबन्धु की वासवदत्ता का सम्पादन किया और हुल्श ने कालिदास के मेघदूत का। स्टेन्ज़्लर ने रघुवंश का सम्पादन किया और मानियर विलियम्स ने अभिज्ञान शाकुन्तल का और हिलेब्रान्ट ने मुद्राराक्षस का। महावीरचरित का सम्पादित संस्करण ट्रिथेन ने निकाला। हर्ष की प्रियदर्शिका पर नारीमैन, जैक्सन तथा ओग्डेन के संस्करण हैं। स्टेन कोनो (जो कुषाणकालीन तिथियों का श्लाघ्य अध्येता है) और लैनमान ने राजशेखर की कर्पूरमञ्जरी का संयुक्त सम्पादन किया। लैनमान ने प्रसिद्ध हारवर्ड युनिवर्सिटी सीरीज का आरम्भ और सम्पादन किया, जिसमें अनेक संस्कृत के ग्रन्थ शुद्ध होकर प्रकाशित हुए। उसका सम्पादन कुछ काल तक क्लार्क ने किया और आजकल इंगल्स कर रहे हैं। ब्रोखौस (ब्राकहाउस) ने सोमदेव के कथासरित्सागर का सम्पादन और अनुवाद किया। उसका एक अनुवाद टानी ने भी किया। उसीने कथाकोष और मेरुतुंग का प्रबन्ध-चिन्तामणि का भी अनुवाद किया। सिल्वाँ लवी ज्ञान की गम्भीरता में मैक्सम्यूलर और विल्सन की भाँति था। उसका काम भी अनेक क्षेत्रों और दिशाओं में फैला हुआ है क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामञ्जरी का एक फ्रेंच अनुवाद उसने अपने जूनाल मे प्रकाशित किया

बौद्ध साहित्य के सम्पादन, अनुवाद और प्रकाशन में राइज डेविड्स और उसकी पत्नी की लगन सराहनीय है। राइज डेविड्स ने मिलिन्दपञ्हो का अनुवाद किया और कार्पेन्टर के साथ दीघनिकाय का सम्पादन। मारिस और हार्डी ने अंगुत्तरनिकाय का सम्पादन किया और ट्रेन्कनर तथा चालमर्स ने मज्झिमनिकाय का। ट्रेन्कनर ने मिलिन्दपञ्हो का भी एक संस्करण निकाला। लियोन फ़ीर और मिसेज राइज डेविड्स ने संयुत्तनिकाय सम्पादित किया और ओल्डेनबर्ग ने खुद्दकनिकाय का। ओल्डेनबर्ग ने विनयपिटक का भी सम्पादन किया और दीपवंश का सम्पादन और अनुवाद। जातकों का सम्पादन फ़ाउजबोल ने किया और आर्यसूर की जातकमाला का अनुवाद स्पेयर ने। गाइगर ने महावंश का सम्पादन और अनुवाद किया। दूसरे गाइगर (बर्नहार्ड) ने भी प्राच्यज्ञान के उद्घाटन में बड़ा काम किया। लेफ़मान ने ललितविस्तर का सम्पादन किया और सेनार ने महावस्तु का। कावेल और नील ने दिव्यावादान का सुन्दर संयुक्त सम्पादित संस्करण प्रकाशित किया।

जैकोबी ने जैन ग्रन्थों का अच्छा अध्ययन किया। उसने भद्रबाहुकृत कल्पसूत्र और हेमचन्द्रकृत परिशिष्टपवन् का सम्पादन किया।

इस्लाम के तवारीखनवीसों का अध्ययन कर कई यूरोपीय विद्वानों ने भारत के मध्यकालीन इतिहास पर काफ़ी प्रकाश डाला। सचाऊ ने अलबरूनी के किताबुल्मुल्क का अनुवाद किया और ब्रिग्स ने इस्लाम धर्म के इतिहासकारों का प्रभूत उपयोग किया। इलियट और डाउसन ने अनेक खण्डों में भारत-सम्बन्धी मुसलिम लेखकों की ऐतिहासिक सामग्री एकत्र कर इतिहासकारों का कार्य सरल कर दिया। अली के साथ स्प्रेंगर ने अल-उतबी के तरीख़-ए-यमीनी का अनुवाद किया। रैवर्टी ने उसी प्रकार मिनहाजुद्दीन की तबक़ात-ए-नसीरी का अनुवाद प्रस्तुत किया।

चीनी साहित्य पर बौद्ध धर्म का गहरा प्रभाव पड़ा था। अनेक पुस्तकों के चीनी अनुवाद सैकड़ों वर्षों से चीन में संग्रहीत थे, परन्तु उनका उपयोग भारतीय इतिहास की सामग्री के रूप में तभी शुरू हुआ जब अंग्रेज पण्डितों ने हुएन्त्सांग आदि चीनी यात्रियों के वृत्तान्तों के अनुवाद कर दिये। लेगे ने फ़ाह्यान का अनुवाद किया। गाइल्स ने भी उस दिशा में बौद्ध भारतीय राज्यों के विषय में प्रभूत सामग्री प्रस्तुत की। बील ने पश्चिमी बौद्ध जगत् का इतिहास प्रस्तुत करने के अतिरिक्त हुई-ली-रचित हुएन्त्सांग का जीवनचरित अंग्रेजी में प्रकाशित किया। उसने फ़ाह्यान के भ्रमण-वृत्तान्त का भी अनुवाद किया। वाटर्स ने हुएन्त्सांग के भ्रमण-वृत्तान्त (सि-यू-की) का अनुवाद दो खण्डों में प्रस्तुत किया। तकाकुसू ने भी बौद्ध साहित्य का गहरा अध्ययन किया।

पुरातत्व (अर्क्यालोजी)—विशेषकर खुदाई के कार्य को तो यूरोपियनों ने ही आरम्भ किया। कनिंघम, मार्शल, स्पूनर, फ़ोगेल आदि ने उसे विज्ञान का रुतबा दिया। तिथिक्रम (क्रानालोजी) के क्षेत्र में बड़ा काम किया। प्राचीन भारत के तिथिक्रम को उसने उसी नाम के अपने ग्रन्थ में सुधारा स्टेनकोनो ने भी उस दिशा में

दशाब्दियों तक प्रयत्न किये। ब्राह्मी और उसमें लिखे अशोक आदि के हजारों अभिलेखों का पढ़ना तभी सम्भव हो सका, जब जेम्स प्रिन्सेप ने अपनी तीस साल तक की मिहनत के बाद ब्राह्मी लिपि की कुंजी खोज निकाली: तभी हमने अशोक का नाम जाना और उसके मानवतावादी उपदेश सदियों पार सुने। फिर ब्यूलर, फ़्लीट, हुर्नेल, बूलनर, सेनार, हुल्श, कोनों, राइस, ब्लाक, सभी ने उस क्षेत्र में अपनी मेधा का योग दिया। जो काम प्रिन्सेप ने ब्राह्मी के क्षेत्र में किया, वही बोयेर ने खरोष्ठी के क्षेत्र में किया, यद्यपि उसके पढ़ने में उसका हखमनी लिपि का ज्ञान, खरोष्ठी जिसका प्रसार मात्र था, उचित पृष्ठभूमि सिद्ध हुआ। फिर रैप्सन और सेनार ने भी अपने-अपने अध्ययनों से उसके पेंच खोले। फ़्लीट ने तो गुप्त-अभिलेखों के अनेक खण्ड प्रस्तुत कर उस काल का सारी संस्कृति उघाड़ दी।

मुद्रा-शास्त्र का अध्ययन भी उन्होंने ही आरम्भ किया। कनिंघम ने शक-कुषाण और मध्यकालीन भारत की मुद्राओं पर प्रभूत प्रकाश डाला। वैसे उसका प्राचीन भारतीय भूगोल का अध्ययन प्राचीन स्थानों की जानकारी में सहायक हुआ। उसने एक प्रकार से खुदाइयों के लिए भारत का मानचित्र उपस्थित कर दिया। मुद्राओं के अध्ययन में रैप्सन, ब्राउन, स्मिथ, गर्डनर, ह्वाइटहेड, एलन, इलियट आदि ने, अपने-अपने कैटलॉग (सूची) प्रस्तुत कर, भारत के इतिहास और व्यापार पर बड़ा प्रकाश डाला। जहाँ तक व्यापार का सम्बन्ध है, स्कोफ़ ने 'पेरिप्लस मारिस एरिथ्रीई' का प्राचीन ग्रीक भाषा से अनुवाद कर पहली सदी ई० पू० के भारत के पश्चिमी जगत् के साथ व्यापार पर प्रकाश डाला। भूगोल की दिशा में तो मार्क कालिन्स ने भी काफ़ी सामग्री प्रस्तुत की।

'क्लासिकल' (ग्रीक, रोमन आदि) साहित्य को मथकर, उसका अनुवाद और व्याख्या कर, भारत और पश्चिमी जगत् के प्राचीन सम्बन्ध को अनेक मनीषियों ने प्रकट किया। ह्यू ने हेरोदोतस् का अनुवाद किया और राल्न्सिन, मेकाले, मेह्रोफ़, मारनेक, मैक्रिन्डल, फ़ाविसियस्, स्कोफ़, हेरखर, चिन्नाक, रूक, टार्न, पोकाक आदि ने उस क्षेत्र को सर्वथा गम्य बना दिया।

तिब्बत में भी प्रभूत बौद्ध साहित्य पड़ा था। दर्शन आदि का अध्ययन करते हुए त्सेरबात्स्की, फ़ार्मीची, तूची आदि ने उस दिशा में सराहनीय प्रयत्न किये। इन्होंने बौद्ध दर्शन का भी गहरा अध्ययन किया। फिर शीफ़नर ने तो तारानाथ के विश्वकोश के से इतिहास का अनुवाद कर तिब्बती सामग्री का भी प्रकाश-पुंज भारत के प्रच्छन्न गह्वरों पर फेंक उन्हें आलोकित किया।

संस्कृत साहित्य का अध्ययन और इतिहास लिखनेवालों में मैक्डोनेल और कीथ के नाम ऊपर दिये जा चुके हैं। इस क्षेत्र में मैक्समूलर, वेबर, फ़्रेज़र, गवेन और विण्टरनित्स ने भी अपने-अपने इतिहास लिखकर साहित्य का अध्ययन किया। इनमें मनीषी विण्टरनित्स का नाम, उसकी भारत के प्रति उत्कट सहानुभूति के कारण, विशेष है

भारत के प्रागितिहास के क्षेत्र में लोगन, फ़ूट, मार्शल, मैकी, वाडेल, हण्ट, पिग्गाट आदि ने बड़े प्रयत्न किये हैं। मोहनजोदड़ो आदि के सैन्धव सभ्यता के टीलों का पता तो राखालदास बन्द्योपाध्याय ने लगाया, परन्तु उन्हें खोदा मार्शल और मैकी ने। और मार्शल के बृहद् ग्रन्थ तो उस सभ्यता के अद्भुत परिचायक है।

राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास के क्षेत्र में तो उनकी देन असाधारण है। उस दिशा में बीसों यूरोपीय पण्डितों ने अपनी प्रतिभा का योग दिया है। कुछ नाम निम्नलिखित हैं—रैप्सन, अलन, डाडवेल, पार्जिटर, डेविड्स्, स्मिथ, हैवेल, हार्नले, स्टार्क, प्रोथेरे, कावेल, मोरलैंड, वाली, रालिन्सन, मनाहन, मैक्फेल, एफ़० डब्ल्यू० टामस, ई० जे० टामस, क्लाक, रनू, पाइरन एतिन्घान्सेन, फ़्लूक, टाड, लुअर्ड, राइट, बेन्सन, पर्सिवल, ड्यूसन, दुब्रइल, बेली, ग्रियर्सन, विलहफ़ोर्सवेल, हेरास आदि नाम अनेक अध्ययन-क्षेत्रों में जाने हुए हैं।

शासन-सम्बन्धी साहित्य का इनमें से कइयों ने अध्ययन किया। इनके अतिरिक्त बूल्ह और मिसेज़ डेविड्स ने भी। शिक्षा के प्राचीन अवयव उपस्थित करने की ओर बोकेल के प्रयत्न बड़े सहायक हुए। बार्दे और मायर्स ने भारतीय नारी का अध्ययन किया।

धर्म और संस्कृति के अध्ययन-क्षेत्र में सैकड़ों नाम एक साथ उठ आते हैं। केवल कुछ ही यहाँ दिये जा सकते हैं—ग्रिसवोल्ड, केगो, ऐरोस्मिथ, ब्लूमफ़ील्ड, रागोज़िन, हाप्किन्स, बार्थ, एलियट, दहाल्के, कापुल्स्टन, कारुस, ब्रस्टर, राकहिल, ग्रसेत, मैकयोवर्न, स्शेर्वात्स्की, फ़ार्मीची, तूची, मिसेज़ स्टिवेन्सन, हाडसन, बार्नेट।

इसी प्रकार तक्षण, वास्तु, चित्रण आदि कलाओं के अध्ययन का आरम्भ भी पहले अभारतीय मेधा ने ही किया। उस दिशा में विशेषतः वास्तु में तो अब भी उन्हीं की राह हमें चलनी-देखनी पड़ रहा है। उस क्षेत्र में फ़र्गुसन, बर्गेस और फ़ूशे के अध्यवसाय बड़े अचरज में डाल देते हैं। कुछ और नाम जो उस अध्यवसाय के स्तम्भ हैं, ये हैं—हैवेल, फ़ोगेल, री, फ़्रेन्च, कजिन्स, बाख़ोफ़र, मार्टिन, स्मिथ, कड्रिंटन, मार्टिमर ह्वीलर, स्पूनर, अन्द्रूज़, पर्सी ब्राउन, मार्शल, ग्रिफ़िथ्स। स्टेला क्रामरिश ने मूर्तिकला और चित्रकला के मूल्यांकन में तो अभूतपूर्व काम किया ही है, इधर हिन्दू मन्दिर पर दो वृहत् खण्ड प्रस्तुत कर मन्दिर-वास्तु के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान दुगना कर दिया है।

आर्यों के जीवन आदि पर औरों के अतिरिक्त टेलर, और वेण्डर के अध्ययन सराहनीय हैं। भारतीय जन-बल की जातीय इकाइयों के अध्ययन में क्रुक, एलियट, बेनिज, ऐण्डर्सन, रिज़्ले और सेनार जागरूक हुए। भारतीय भाषाओं पर ग्रियर्सन और मोर्गेनस्टेर्ने के नाम उल्लेखनीय हैं, विशेषतः सर जार्ज ग्रियर्सन, जिसने उस दिशा में विश्वकोशकार का कार्य किया। बृहत्तर भारत पर वेर्नेट और वेल्स के कार्य भी सराहनीय हैं कोषकारिता की दिशा में हाबसन, मोनियर विलियम्स, बुह्मस्मन, , भ्रिलुत्स्की, टर्नर आदि ने भगीरथ प्रयत्न किये

इन ऊपर लिखे पण्डितों के अतिरिक्त अनेक ऐसे थे जिन्होंने विविध भारतीय 'गजेटियर' लिखकर हमारा ज्ञानवर्धन किया, वह दिशा प्रायः केवल अभारतीय ज्ञाना-लोक से प्रकाशित है। स्वयं पुरातत्व-विभाग की बुनियाद का श्रेय लार्ड कर्जन के पुरा-प्रेम को है।

कहना न होगा कि भारतीयता के इस अनुशीलन में जो योग विदेशी पण्डितों का रहा है, वह असाधारण है। जिस लगन और अध्यवसाय से उन्होंने भारतीय पुरा-विद्या का कण-कण जोड़कर शिलान्यास किया है, उसे देख हमारा धैर्य टूट जाता है, यद्यपि वह हमारा बल और संबल भी है। ऊपर गिनाये नाम वस्तुतः गिनायेमात्र हैं, सूचीमात्र हैं। इस दिशा में पूरा ग्रन्थ ही आवश्यक है, जो भारतीय इतिहास के इन अन्वेषकों का पूर्ण परिचय दे सके। उनकी सूझ, श्रम और सफलता का ऋण भारत और भारतीयता पर गम्भीर है।

१९

यूनान के देवी-देवता

कहावत है कि भगवान् ने मनुष्य को अपने अनुरूप गढ़ा। पर बात असल में उलटी है—सिरजनहार तो स्वयं मनुष्य है और उस विधना ने अपने भगवान् का अपनी काया की छाया में सृजन किया है। उसने उसे अपना रूप दिया है, अपने हाथ पैर दिये है, अपने कर्म दिये है। उसने उसे अपनी कायिक-मानसिक भूख-प्यास, अपने राग-रंग, प्यार-घृणा सब दिये हैं। क्या आर्यों के देवता, क्या यूनानियों-रोमनों के, क्या सुमेरियों-बाबुलियों के, सभी अपने पूजनेवाले आदमियों की परछाई में, उनके दर्पण की छाया की तरह सोते-जागते, उठते-बैठते रागद्वेष करते हैं।

पर कदाचित् किसी जाति के देवी-देवता ने अपने विधाता—आदमी—के जीवन का इस मात्रा में अनुकरण नहीं किया जितना यूनानियों के देव-परिवार ने। लगता है, जैसे देवताओं के निवास ओलिम्पस की पर्वतीय भूमि पर एथेन्स की जनता जा बसी हो। देवता क्रोध और प्यार करते हैं, एक दूसरे से लड़ते हैं, मारते और पीटते हैं, जन्म लेते और मर जाते हैं। उनकी बच्चों की तरह आपसी तनातनी और प्रौढ़ों की तरह षड्यन्त्र और युद्ध पार्थिव जीवन की प्रतिच्छाया है।

यूनानियों के देवताओं का निवास सर्वत्र है—तीनों लोकों में—आकाश में, पृथ्वी पर, पाताल में। उनके बारह प्रधान देवता हैं—ज़्यूस, हिरा, हर्मिस, अथीनी, अपोलो, आर्तेमिस, अरेस, अफ्रोदीती, हिफ़ाइस्तस, हेस्तिया, पोसिदन, दिमितर। वे सभी कुहरे से ढके ओलिम्पस के हिमशिखर पर अपने स्वर्ग में निवास करते हैं। इसी से उन्हें 'ओलिम्पियन' कहते हैं, और आकाश और पृथ्वी के बीच के उस स्वर्ग में उनके विशाल महल और अटारियाँ हैं, सिंहासन हैं, खेल के मैदान हैं। अम्बर के उन्हीं खेलों का संकेत तो एथेन्स आदि यूनानी नगरों के ओलिम्पिक खेलों में मिलता है, और वही नाम यूरोपीय संसार ने आज फिर अपने खेलों के लिए अपनाया है।

प्राचीन यूनानियों का विश्वास था कि ओलिम्पस पृथ्वी के मध्य में है और उसकी ऊँचाइयों से देवता जब-तब धरा पर उतर आते और मनुष्यों के दुख-सुख में सम्मिलित होते हैं। कितनी ही बार उनकी वासना की प्यास धरा की नारी के मदिर सिञ्चन से भींज कर बुझती है, कितनी ही बार देवियाँ अम्बर से उतर जरा-मरण से अभिशप्त मानव तरुण की आँखों में आँखें डाल, उनकी रोमांचित भुजाओं की दोला में झूल उन्हें निहाल कर देती हैं। उनके यहाँ भी कितने ही चन्द्रमा अपनी गुरु-पत्नी की अलसायी लाज लूट लेते हैं, कितने ही इन्द्र गोतम की अहल्या के सामने अपने पौरुष के घुटने टेक पति के कोप और शाप के भाजन बनते हैं

आरम्भ में यूनानियों के देवता दो थे—उरेनस और गाइया। उरेनस आकाश का नाम था, गाइया पृथ्वी का। उनमें माँ-बेटे का सम्बन्ध था। पर उनका आपस में ही विवाह हो गया था और सारे देवी-देवता उसी देव-दम्पति से उत्पन्न हुए, जैसे आर्यों के देवी-देवता द्यावा और पृथ्वी से हुए। उरेनस की ध्वनि हमारे वरुण में है, गाइया की हमारी गोरूप धरा में।

उरेनस के बेटे-बेटी भीमकाय तीतान और तेइया आदि थे। उनमें से तीतान क्रोनस ने अपनी बहिन रीया से विवाह कर लिया। पहले यूनानियों और भारत के आर्यों में[1] भी भाई-बहिन में विवाह होते थे जो बाद में सगोत्र मान कर छोड़ दिये गये थे। क्रोनस और रीया की सन्तानों में प्रधान ज़्यूस और हिरा थे। क्रोनस ने अपने पिता उरेनस को घायल कर उसकी गद्दी छीन ली थी, इससे वह अपनी सन्तान से स्वयं चौकन्ना रहने लगा। जब उसके कोई सन्तान होती तब वह कंस की भाँति अपने विनाश के भय से उसे खा जाता। ज़्यूस को उसकी माता ने बड़ी चतुराई से बचा लिया। कालान्तर में ज़्यूस ने अपने पिता क्रोनस को मारकर उसकी गद्दी छीन ली और वह देवताओं का प्रधान बन गया। ज़्यूस ऋग्वेद का द्यौस् है, रोमनों का जूपितर। और जैसे इन्द्र के वरुण से शक्ति छीन लेने के बाद देवताओं और असुरों में देवासुर-संग्राम होने लगे थे, यूनानी देवों के प्रधान उस ज़्यूस के नेतृत्व में वहाँ भी देवताओं और तीतान-दानवों में युद्ध होने लगे। देव विजयी हुए, तीतान पाताल में जा बसे, और तीक्रोन ज़्यूस के वज्र से वैसे ही आहत हुआ जैसे वृत्र इन्द्र के वज्र से हुआ था।

ज़्यूस यूनानी देवताओं का इन्द्र है, वज्रधारी देवराज। स्वर्ग, पृथ्वी, जल—सब का स्वामी है वह। ज़्यूस के मस्तक से अमैथुनी सृष्टि द्वारा उसकी पुत्री पाल्स अथीनी का जन्म हुआ। अथीनी ही रोमनों की देवी मिनर्वा थी जो अपने समूचे हरबे-हथियारों के साथ उत्पन्न हुई और जिसे बाल, किशोर, तरुण आदि की अवस्थाओं से नहीं गुजरना पड़ा। एथेन्स में उस देवी की बड़ी महिमा थी। वहाँ के गढ़ एक्रोपोलिस पर आज भी उसके उस प्राचीन प्रसिद्ध मन्दिर का भग्नावशेष खड़ा है जिसकी भित्ति पर उभारी मूर्तियाँ संसार की मूर्तिकला में बेजोड़ मानी जाती हैं।

ज़्यूस ने अपनी बहिन हिरा से विवाह किया। वैसे वह अपनी उस अकेली पत्नी के एकान्त बन्धन में भी न रह सका; उसके अरमानों के बाग में अनेक फूल खिलने-कुम्हलाने लगे। दिमितर, लितो, निमोसिल, सिमिली, माइया, अल्क्मीनी—सभी पर उसने डोरे डाले, सभी बारी-बारी उसके पाश में आईं, और पर्सिफ़ोन, अपोलो और आर्तेमिस, म्यूज़, दियोनिसस्, हर्मिस और हिरैक्लिज़ के-से बच्चों का परिवार देवों के संसार पर छा गया। हिरैक्लिज़ को अनेक पण्डितों ने हरकुलिश कहकर हलधर-बलराम का समानवर्ती माना है।

हिरा आदर्श सती पत्नी है, विवाह की देवी, जैसे अपनी गौरी और उसके

१ देखिये मेरी 'वीमेन इन ऋग्वेद' पृ० १२२ २७

गामेलिया, जीगिया, तेलेइया आदि अनेक नाम हैं। यूनान और रोम में उसकी बड़ी पूजा हुई है। वह आचार की सतवन्ती देवी है। मूर्तियों में उसका रूपायन सुन्दर, गर्वीली और शालीन नारी के रूप में हुआ है, जैसे ऋग्वेद के सूक्तों में शची इन्द्राणी का।

हर्मिस, ज़्यूस और माइया का पुत्र है गोपालों का देवता, पथों और सौदागरों का, चोरों और धूर्तों का भी। वही ज़्यूस और देवताओं का दूत भी है जो मानवों और उनके बीच आ-जाकर सम्पर्क स्थापित करता है। उसकी एक अद्‌भुत सुन्दर तरुण मूर्ति प्राचीन काल मे प्रसिद्ध मूर्तिकार प्राक्सितीलिज ने गढ़ी थी जो ओलिम्पिया में मिली। उसका रोमन नाम मर्करी है।

अपोलो, आर्तेमिस का जुड़वाँ भाई, ज़्यूस और लितो का पुत्र, तरुण रूप की पराकाष्ठा है। 'ग्रीक देवता-सा सुन्दर', जो मुहावरा बन गया है, वह इसी अपोलो की बदौलत। अपोलो की अनेकानेक मूर्तियाँ पंजाब, बामियान आदि मे भी मिली हैं, जहाँ यूनानी कभी बड़ी संख्या में एक युग तक बसे थे। अपोलो प्रकाश का देवता है जैसे सूर्य की शक्ति का सविता। देल्फ़ी में, जहाँ उसने नाग-दानव पाल्थन को मारा था, उसकी विशेष पूजा होती थी। उस स्थान पर प्राचीन काल में भविष्य-कथन होता था। पुजारी के मुँह से यह अपोलो ही बोला करता था, ऐसा यूनानियो का विश्वास था। अपोलो बार-बार मनुष्यलोक में आता था। वहाँ के तरुणों का वह आदर्श था, सतियों का मोह, पतिव्रताओं का रहस्य। शक्ति और अभिराम पौरुष की वह साकार प्रतिमा था। उसकी दो अत्यन्त आकर्षक मूर्तियाँ हैं—शिल्पी ने जैसे उसे साँचे में डालकर ढाल दिया।

आर्तेमिस अपोलो की जुड़वाँ बहिन थी, रोमन लोग उसे दियाना कहते थे। जैसे अपोलो सूरज और दिन का प्रतीक था, आर्तेमिस वैसे ही चाँद और रात की थी। वनमालिनी थी वह, अहेर की देवी, और उसका लक्ष्य भी अपोलो की तरह ही अचूक था। उसकी मूर्तियों के साथ शिकारी कुत्ते की भी मूर्ति होती है। आर्तेमिस की एक ऐसी मूर्ति रोम के पोप के महल वातिकन में है।

अपोलो और आर्तेमिस से सम्बन्धित भी कुछ देवी-देवता हैं। हेलियोस, अर्थात् सूरज, अपोलो का परिचर है, जैसे यूनानी सिलिनी या रोमन लूना, अर्थात् चाँद, आर्तेमिस की। यूनानी मिथ्र भी सूर्य सम्बन्धी ही देवता है। ऋग्वेद में वह मित्र कहा गया है, ईरानी जेन्दावेस्ता में यूनानी-सा ही मिथ्र। रोमन साम्राज्य के अन्तिम दिनों मे यह ईरानी देवता यूरोप में बहुत लोकप्रिय हो गया था। रोमन सेनाएँ उसकी पूजा उत्तर ले गयीं। आल्प्स के उत्तर और राइन की घाटी मे उसके अनेक देवालय मिले हैं। बहुधा मिथ्र ईरानी वेशभूषा में सुन्दर तरुण के रूप में साँड को छुरा मारता हुआ मूर्त हुआ है। उसकी एक ऐसी ही मूर्ति वातिकन में सुरक्षित है।

प्रकाश के देवी देवताओं में बड़ी ˆ है इयोस वैदिक उषा जिसे ऋषियों ने पूर्वाकाश की नर्तकी कहा है अलभ्य अरुणाई इयोस रोमनों की अरोरा एकान्त

विलासिनी थी, स्वच्छन्द मदिरा, शिकार में भटके शिकारी स्वयं जिसके शिकार हो जाते थे। ओरायन, क्लेइतोस, केफ़ालस और तिथोनस, सभी बारी-बारी उस देवनारी की अभिराम वासना के अभिमत आहार बने। तिथोनस को तो उसने अमरता भी दे दी, पर मृत्यु के अभाव में जब वह अभागा अमर जरा से गल चला, वाष्पगद्गद तब उसने अपनी उस मायाविनी पुरातन प्रेयसी से कहा—'देवि, मैं दिन-दिन गलता जा रहा हूँ, पर मर नहीं पाता। तुम्हारा वरदान ही आज मेरा अभिशाप बन गया है। जरा से जर्जर मैं तुम्हें अपने पुरातन रथ पर प्रातराकाश में नित्य लौटते देखता हूँ, हतभाग्य मैं!' और इस दयनीय स्थिति को अंग्रेज कवि टेनिसन ने अपनी 'टिथोनस' नाम की कविता में अमर कर दिया है।

अपने ऋग्वेद के कवि का भी अपनी उषा के प्रति यही उलाहना है—

पुनःपुनर्जायमाना पुराणी समानं वर्णमभिशुम्भमाना।
श्वघ्नीव कृत्नुर्विज आमिनाना मर्त्तस्य देवी जरयन्त्यायुः॥

भारतीय देवताओं की ही भाँति यूनानी देवताओं का भी कोई अन्त नहीं है। अम्बर के देवता, धरा के देवता, जल के देवता, पाताल और नरक के देवता अनेक हैं। पाताल और नरक का स्वामी प्लूतो है, भारतीय यम। वैसे ही जल का देवता पोसियन है, रोमनों का नेप्चुन, आर्यों का वरुण।

अन्त में दियोनिसस्, बाखुस, अफ़्रोदीती और इरोस की ओर संकेत करूँगा क्योंकि इनके बिना यूनानी देवताओं का यह वर्णन अपूर्ण और फीका रह जाएगा। दियोनिसस् अंगूरी बेलों का देवता है। जहाँ-जहाँ दाख की बेलें भूमि को ढकती हैं, वहाँ-वहाँ उसकी पूजा हुई है। इसी से शराब भी उसे प्रिय है। वह एशिया का विजेता माना जाता है। कला में उस सुन्दर तरुण के घुँघराले बाल अंगूर की बेल के पट्ट से बँधे दिखाए गये हैं। उसी के परिवार के सिलेनस और बाखुस भी हैं। दोनों मदिरा के भक्त और देवता हैं। मथुरा और गान्धार कला में इस देश में भी उनका मूर्तन हुआ है। दोनों की आसवपायी मूर्तियाँ बनती थीं, आज भी प्राप्त हैं। भारतीय परम्परा में बाखुस का रूपायन आसवपायी कुबेर के रूप में हुआ है। रोम के पोप के प्रासाद में जो बाखुस की मूर्ति है उसे 'भारतीय बाखुस' कहते हैं। ये धरा के देवता हैं, कालिदास के शब्दों में—'द्राक्षावलयभूमि' के।

अफ़्रोदीती, रोमनों की वीनस, प्रेम की देवी है, भारतीय रति का यूनानी रूपान्तर। इस देवी का पूजन ग्रीस की परम्परा में पूरब से आया माना जाता है, फ़िनीकिया से, जहाँ प्रेम की देवी अस्तार्ती के नाम में रति के नाम की ध्वनि भी जीवित है। कहते हैं कि अफ़्रोदीती का जन्म नील सागर के बैंजनी फेन से हुआ। तभी तो वह इतनी सुन्दर हो सकी। उसकी सुन्दरतम प्रतिमा, प्रसिद्ध मूर्तिकार प्राक्सितीलिज़ द्वारा निर्मित क्नीदस के मन्दिर में प्रतिष्ठित थी। मेलो की अफ़्रोदीती की वैसी ही अभिराम मूर्ति अब पेरिस के लूव संग्रहालय में है।

इरोस रोमनों का क्यूपिड अफ़्रोदीती का पुत्र था उसका मूर्तन बालरूप में

हुआ है। उसी से शृंगारिक कविता का नाम 'इरोटिक' पड़ा। इरोस भारतीय कामदेव है, मदिर मदन, पुष्पधन्वा, पञ्चसायक। हृदय को सहज बेध देने वाले उस निर्मम अनंग के बाण फूलों के हैं, जो कमलनाल के धनुष की, भौंरों की डोरी से छूटते हैं और जो देवता-मानव का भेद नहीं करते, दोनों को समान रूप से बेधते हैं। कवि ने कुमारसम्भव में स्वयं योगिराज शंकर को उसका शिकार बना दिया है। देवराज के याद करने पर जब वह मनसिज सामने आता है, तब वह पूछता है—

क्या चाहते हो राजन्? क्या किसी दृढ़व्रता पतिव्रता की सुन्दरता में तुम्हारा चंचल मन रम गया है? आज्ञा करो तो उसके मन को मथ दूँ, जिससे वह लाज छोड़ अपनी बाहुएँ तुम्हारे कंठ में अपने आप डाल दे।

कामेकपत्नीव्रतदुःखशीलां लोलं मनश्चारुतया प्रविष्टाम्।
नितम्बिनीमिच्छसि मुक्तलज्जां कण्ठे स्वयंग्राहनिषक्तबाहुम्॥

सारे संसार का साहित्य कन्दर्प के इस निर्मम अभियान से आहत है। सभी जातियों के अपने इरोस हैं, अपने क्यूपिड है, अपने मन्मथ हैं।

यूनानी (और रोमनी) देवी-देवताओं ने पाश्चात्य साहित्य को प्रभूत प्रभावित किया है। अनेक यूरोपीय कवियों ने तो यूनानी देव-संदर्भों की ओर अपनी रचनाओं में इस प्रचुरता से संकेत किया है कि उनके मूल को जाने बिना उन प्रसंगों को समझ सकना कठिन हो जाता है। साहित्य के लिए उसके पुराण प्रायः पृष्ठभूमि बन जाते हैं और पुराण देव-रहस्य का उद्घाटन करते हैं। यूनानी पुराणों और उनके देवी-देवताओं का ज्ञान अनेक बार भारतीय पौराणिक संदर्भों को भी, अपने समान भावनाओं-परिस्थितियों के कारण, स्पष्ट कर देता है।

२०

भारतीय सौन्दर्य शास्त्र

प्रकृति उदार है, निःसीम उदार। खुली मुट्ठी से वह सान्ध्य क्षितिज पर स्वर्ण-धूलि बिखेर देती है। फिर भी उसका दान अप्रयास होता है, अनायास। वह तूलिका-प्रधान नहीं।

तूलिका-प्रधान मानव है, प्रकृति के कृतित्वका अभिमान। परन्तु जब प्रकृति ने उसे अपने साँचे में ढाल फेंका वह वैसा न था जैसा आज है, अभिराम, सुदर्शन। तब वह बनैला था, क्रूर, कर्कश, प्रकृति-जैसा, श्मश्रुल, नग्न, भीमदर्शन।

मानव प्रकृति का परिष्कार करता है, उसका नंगापन ढक देता है। भौंड़ी आकृति, फिर उसके सहज प्रसाधन से निखरकर आकर्षक रेखाओं से अभिराम बनती है, मदिर मानव तब अपलक निहारने की वस्तु बन जाता है, उसका नीरव भाव-वितान पसर-पसर समान हृदयाकाश पर छा जाता है। अभिराम की वह उपासना सिद्धान्त का रूप धारण करती है और सौन्दर्य शास्त्र का पद ग्रहण करता है।

सौन्दर्य शास्त्र प्रसाधन की इकाइयों का समाहार है। इस दिशा में पहली प्रश्नात्मक इकाई है—सुन्दर कैसे लगें? कैसे प्रकृतिजन्य कोरे को निखारकर उसमें रुचि और आकर्षण के तिल डाल, असुन्दर को सुन्दर और सुन्दर को मादक कर दें, कुछ ऐसा हो कि देखनेवालों का मन उससे मथ जाय।

प्रकृति का दान क्या है?

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्याम्

नारी के पक्ष में, वैसे ही वृषस्कन्ध, आजानुभुज, केहरिकटि आदि पुरुष के पक्ष में। परन्तु यह तो शास्त्रीय सौन्दर्य सिद्धान्त है। इसके रहते भी नारी अनेक बार अनाकर्षक रहती है, पुरुष-उपेक्षणीय। इस पारस्परिक सौन्दर्य में वस्तुतः आकर्षण भरनेवाला व्याख्याविरहित लावण्य होता है, वह नमक जो अधिकतर मानव अपने अध्यवसाय से आप प्रस्तुत करता है।

प्राचीनतम काल से अपने बनैले जीवन तक में वह प्रकृति के भोंड़ेपन को अपने प्रसाधन के तीखेपन से पैना करता आया है। देखनेवाले का व्यक्तिविशेष को देखकर 'ठग जाना' उसी प्रसाधन का एक रहस्य है। संसार के प्राचीनतम ईसा से दस हजार वर्ष पूर्व तक के गुहाचित्रों में सुन्दर बनने का सौन्दर्य को बढ़ाने औ

प्रकृति के कोरेपन को सँवारने का—प्रयास अनेक प्रकार से उपलब्ध है। जीवनाकृतिक गोदने से लेकर आज के सौन्दर्य-बिन्दु गोदने तक में अन्धविश्वास के साथ मनोरम की आराधना का भी सफल औत्सुक्य है। कुछ अजब नहीं कि भारत की अनन्त जनबोलियों में सौन्दर्यवर्द्धक गोदने का इतना महत्त्व हो गया हो कि ग्राम गायक अविकल स्वर में उसकी सत्ता सराह उठा हो।

आज के भारतीय समाज में मध्यकालीन प्यूरिटन वृत्ति के कारण संगीत, अभिनय आदि कलाओं के साथ ही वैयक्तिक चारुता भी निन्द्य हो गयी है परन्तु एक समय था जब सुन्दर लगने के सारे प्रयास इस देश मे सराहे जाते थे। वास्तु, मूर्तिकला, चित्रलेखन, साहित्य में सर्वत्र प्रसाधन 'मोटिफ़' अभिप्राय के रूप में रूपायित हुआ है। उसकी अनन्त मूर्त मुद्राएँ मन्दिरों और भवनों की बाहरी दीवारों पर, वेदिका-स्तम्भों पर, भित्ति-चित्रों में, साहित्य के अगणित उपकरणों में आज हमें उपलब्ध हैं। स्नान, अनुलेपन, वेणीविन्यास, वसन-भूषण-धारण, पुष्पाभरण, अंजन-स्पर्श, अनुस्पर्श, ताम्बूल-सेवन, पुष्प-चयन, दर्पण, दर्शन आदि की अटूट परम्परा कलादर्शों में आज भी संग्रहालयों मे प्रदर्शित है।

और यह प्रवृत्ति कुछ वैयक्तिक न थी वरन् समाज की सम्पदा बन गई थी। वस्तुतः, जैसा अभी कह चुका हूँ, सौन्दर्य की व्यवस्था सिद्धान्तकी सीमाएँ लाँघ शास्त्र का पद प्राप्त कर चुकी थी। नागरिक और नागरिकाओं, कुलीनाओं और कुलटाओं, कुलवधुओं और वारांगनाओं सबके कायिक सौन्दर्य की शास्त्रीय व्याख्या और उनके अपने-अपने प्रसाधन पर ग्रन्थोंमें प्रकरण रचे जा चुके थे। कामसूत्र, कुट्टनिमतम्, समयमातृका, अनंगरंग, शार्ङ्गधरपद्धति आदि अनेक ग्रन्थों में नागरिकाओं के प्रसाधन का वर्णन हुआ है।

वात्स्यायन अपने 'कामसूत्र' में नागरिक के प्रसाधन के सम्बन्ध में कहते हैं कि प्रातः उठकर वह नित्यक्रिया से निवृत्त हो, दातौन से दाँत साफ़ कर चन्दनादि सुगन्धित द्रव्यों से प्रस्तुत अनुलेपन द्वारा शरीर को स्वच्छ करता है। तब वह अपने बालों और वस्त्रों को धूप-अगुरु के धुएँ से बासता है, और मस्तक पर या गले में फूलों का हार पहनता है। फिर वह अनेक प्रकार के अन्य इत्रादि लगाता है। गन्धद्रव्यों से भरा सौगन्धपुटिक नाम की एक सन्दूकची ही उसके पास होती है। नेत्रों में वह अंजन धारण करता है और होंठों को आलते से रँगता है और फिर रंग को पक्का करने के लिए होठों पर वह मोम रगड़ता है। वह नित्य दाढ़ी बनाता है और शरीर शुद्ध करने के लिए फेनक नाम की साबुन-सी किसी वस्तु का व्यवहार करता है। फिर वह सुगन्धित मसालों से युक्त पान खाकर दर्पण में मुँह देखता है और तब अपने नित्य के कार्य में लगता है। महर्षि वात्स्यायन का यह वर्णन साधारण नागरिक के प्रसाधन का प्रमाण है।

वस्तुतः प्राचीन साहित्य और कला के अभिप्रायों में सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी इतनी सामग्री बिखरी पड़ी है कि उसकी सूची मात्र का निर्देश भी यहा सम्भव नहीं मैं फिर भी प्रसाधन के व्यवहार में आनेवाली वस्तुओं का सांकेतिक

रूप से वर्णन करता हूँ। आभूषण का उपयोग तो, सभी जानते हैं, किसी न किसी रूप में अति प्राचीन काल से होता आया है और भारतीय नारी और पुरुष ने समान रूप से, समान उत्साह से, प्रायः समान मात्रा में उसका व्यवहार किया है। नारी चूड़ामणि के अतिरिक्त रत्नजाल या मुकुटजाल पहनती थी जिससे केश-कुन्तल टॅक जाते थे। वेणियों में फूल के अतिरिक्त मोती भी गूँथे जाते थे। कर्णपूर, कुण्डल, मणिकुण्डल आदि अनेक प्रकार के गहने कानों में पहने जाते थे। निष्क, मुक्तावली, तारहार, हारकेशर, हारयष्टि, एकावली, वैजयन्तिका, हारसूत्र नाम के अनेक प्रकार के हारों का व्यवहार होता था। वैसे ही फूलों के हार भी पहने जाते थे जिन्हे प्रालम्ब और माला कहते थे। कानों में कमल की कलिकाएँ धारण करने की भी रीति थी। भुजबन्द अङ्गद या केयूर नाम से नारी और पुरुष दोनों धारण करते थे। इसी प्रकार वलय, कङ्कन और अँगूठी नर नारी दोनों के साधारण आभूषण थे। मधुर ध्वनि उत्पन्न करने वाली करधनी के बीसियों प्रकारों के नाम मिलते हैं जिन्हे नारियाँ पहनती थीं। नूपुर भी उनके ही आभूषण थे। ग्रीष्म ऋतु में व्यवहृत होनेवाले वस्त्रों के छोर मोतियों की लड़ियों से ढक दिये जाते थे। इन आभूषणों की अनन्त परम्परा प्राचीन मूर्तियों, चित्राकृतियों और काव्यों में भरी पड़ी है।

पुरुष प्रायः लम्बे केश रखते थे और उन्हें केशपट्ट से जब तब बाँध देते थे। अधिकतर आज के मुण्ड, उराव अथवा पठानों की भाँति। नारियाँ सीमन्त से केशों को बाँटकर तेल-कंघा कर उनकी वेणियाँ बना लेती थीं, फिर उनमें मोती, फूल आदि गूँथ लेती थीं। विरहिणी यक्षिणी द्वारा इस काम्य वेश का तिरस्कार प्रणयी यक्ष के अन्तर्दाह का विषय बन जाता है।

वस्तुतः प्रसाधन की वस्तुओं की एक अटूट परम्परा थी जिससे भारतीय नर-नारी अपने शरीर का मण्डन करते थे। पुष्प विविध पुष्पमालाएँ, सुगन्धिद्रव्य, पाउडर, धूम, अंजन, विविध लेप-अनुलेप, लिपस्टिक, महावर, ताम्बूल, शरीर और मुख को सुवासित करने के अनेक अन्य उपकरणों का भूरिशः उल्लेख साहित्य में हुआ है।

प्रसाधन के उपकरणों में फूल का स्थान असाधारण था। आज भारत के अनेक प्रान्तों से सौन्दर्य के साधक उपकरणों में उनका अभाव हो गया है परन्तु कभी उनका व्यवहार असीम मात्रा में इस देश में होता था। माला आदि तो उनकी बनती ही थी, अधिकतर आभूषणों की डिजाइनें भी उन्हीं के अनुरूप गढ़ी जाती थीं। अनेक सुरुचिपूर्ण महिलायें उन्हीं की बनी मेखला भी धारण करती थीं। इस हेतु अधिकतर केसर के फूलों का उपयोग होता था। केसर के फूल केशावलि को भी सुशोभित करते थे। कर्णिकार कनफूल के रूप में धारण किये जाते थे। कमल कलिका के बहुत प्रयोग की बात अभी कह चुका हूँ। अधिकतर नारियाँ कुन्द और मन्दार पुष्प केशों में धारण करती थीं और कुरबक कुसुम वेणियों में गूँथती थीं। हाथ में वे अक्सर डंठल-युक्त लीलाकमल धारण करती थीं। आश्रमवासिनी स्त्रियों के शृंगार का तो एकमात्र सहारा पुष्प ही थे गाँवों और नगरों की उद्यान परम्परा द्वारा नागरिक

की पुष्पसम्बन्धी आवश्यकताओं की निरन्तर पूर्ति होती रहती थी। वनविहार की प्रथा उतनी ही साधारण थी जितनी जलविहार की, और कुछ अजब नहीं कि फूलों के इस मण्डनसम्भार के कारण ही मालिनों का समाज में इतना प्राधान्य हो गया हो कि हमारे ग्रामगीतों में उनका संकेत रहस्यमय और रोमांचक बन गया हो।

भारतीय नर-नारी अनेक मण्डन सम्बन्धी रासायनिक द्रव्यों का व्यवहार करते थे। उशीर और चन्दन के बने शीतल अनुलेप और अंगराग उनके शरीर को सुवासित करते थे। इनके सहायक कालेयक, कालागुरु और हरिचन्दन थे। मनःशिला, हरिताल और कालेयक से तेल भी बनते थे। अगुरु, लोध्रचूर्ण, धूप और अन्य वास द्रव्यों से नागरिक अपने केश सुखाते और बासते थे। हरिताल और मनःशिला तथा चन्दन का ललाट पर तिलक भी लगाया जाता था। शलाका द्वारा अंजित कटाक्षप्रेरित नेत्रों की कालिदास की भ्रमरावलि संज्ञा सार्थक होती थी। नारियाँ ग्रीष्म ऋतु में चन्दन और कुंकुम का प्रयोग, तिलक के अतिरिक्त, शीतल करने के लिए स्तन पर भी करती थीं। तिलक के अनेक विन्दुमय प्रयोग भक्ति कहलाते थे। इसमें कभी बीच के कुंकुमविन्दु को सफ़ेद चन्दन विन्दुओं से घेरते थे, कभी चन्दन विन्दु को कुंकुम विन्दुओं से। अगुरु और गोरोचना मिश्रित लेप से मण्डनप्रिय नारियों के कपोल विशेषक, पत्रलेखादि से अंकित होते थे। गालों पर सुन्दर टहनियाँ बना दी जाती थीं और उन्हें सुन्दर पत्रों से रच देते थे। इस प्रकार का एक वर्णन अश्वघोष की अभिराम सुरुचि से सौन्दरानन्द में बन पड़ा है। बुद्ध का नवविवाहित वैमातृ भ्राता नन्द अपनी पत्नी सुन्दरी का पत्रलेखन कर रहा है। सभी दास दासी स्वामी-स्वामिनी के प्रसाधन के निमित्त अंगराग ऐनक आदि प्रस्तुत करने में लगे हैं। इसी बीच बुद्ध भिक्षा की टोह मे आ भिक्षापात्र द्वार मे बढ़ा देते हैं। पर प्रणय प्रसाधनरत व परिवार उधर ध्यान नहीं देता। बुद्ध चुपचाप चले जाते है। सहसा रिक्त पात्र लि जाते तथागत पर नन्द की दृष्टि पड़ती है। सहसा हिमधवल कामिनी कपोल पर चलती लाल रेखा रुक जाती है। भ्रकुटि भंगिम नारी का प्रश्न जब सस्वर होता है···'क्यों? ···'तब धर्मसंकट में पड़ा नन्द अनुमति माँगता है। 'सुन्दरि, तथागत हमारे व्यसन की व्यस्तता के कारण रिक्तपात्र चले जा रहे हैं। अनुमति दो मना लाऊँ, शुभे'। सुन्दरी अनुमति देती है, 'जाओ, प्रिय, पर भूलना नहीं, कपोलों पर आर्द्र रेखाएँ अर्धविकसित खिंची हैं, उनके सूखने के पहले ही लौट आना!' व्यसन की इस त्वरा का, हाय, निर्वाह न हो सका! बुद्ध ने नन्द को फिर संघ से लौटने न दिया। इस प्रसग का आलेखन अजन्ता के भित्तिचित्रों मे हुआ है। पति द्वारा पत्नी के प्रसाधन दृश्य मथुरा के कुषाणकालीन कई द्वारस्तंभों पर भी उत्कीर्ण हैं।

होठों का रँगना भी प्रसाधन का एक अंग था। पहले उन्हें आलते से रँग कर उन पर लोध्रचूर्ण छिड़क देते थे जिससे अरुणाई पीताभ हो जाती थी। महावर लगे तलवों द्वारा सरोवर की सोपानपरम्परा पर बने पदचिह्नों का उल्लेख काव्यों में निरन्तर हुआ है मातुलुंग, बीजपूरक और ताम्बूल का उपयोग मुख के दुर्वास को

मिटाने के लिये बराबर किया जाता था। वात्स्यायन ने भी कामसूत्र में बीजपूरक के छिलके का प्रयोग मुख के सुवास के लिये आवश्यक बताया है। महर्षि लिखते हैं कि आसव की गन्ध और आहार की बास मिटाने के लिये और चुम्बन के समय साँस को मृदु करने के अर्थ बीजपूरक का व्यवहार अनिवार्य है।

प्रसाधन इसी हेतु विशिष्ट कलाओं में गिना जाता था और प्रसाधक तथा प्रसाधिका का पद हरमों में आदरणीय था। प्रसाधनपेटिका नागरिकों के नित्य व्यवहार की वस्तु थी। भारत कला भवन काशी में प्रसाधनपेटिका लिये एक कुषाणकालीन प्रसाधिका की भव्य मूर्ति प्रदर्शित है। उस काल के अनेक उत्खननों में नारी ही जब प्रसाधन करती है, वामन सिर पर फूल माला भरा पात्र लिये खड़ा रहता है। कुछ अजब नहीं जो गुप्त राजाओं के अन्तःपुरों में इन वामनों की आवश्यकता बढ़ जाने से उनका बाजार भी गिराँ हो गया हो।

प्रकृति क्रियाबहुल है, तूलिकाप्रधान नहीं, तूलिकाप्रधान मानव है। मानव जो कलाकार है। प्रकृति सोना देती है पर मिट्टीमिला सोना, कुद्रव्यमिश्रित रत्न। पर मनुष्य कुधातु का संस्कार कर उसे सोना बनाता है, मणि बनाता है। उसी प्रकार वह प्रकृतिदत्त अपनी काया का संस्कार कर उसे शिष्ट संस्कृत करता है। कोरे सौन्दर्य को निखार कर अवगुण्ठित कर उसे वह प्रसाधन से आकर्षक बनाता है। उसी प्रकार जैसे प्रकृति की बनाई रात—नक्षत्र मण्डित रात—की श्यामता अपनी बनाई दीपक की लौ से वह अरुणाभ कर देता है। परन्तु उसके शिष्ट समाज शिष्ट संस्कार की प्रेरणा सदा यही रहती है कि सौन्दर्य कहीं घातक न हो उठे, क्योंकि रूप की सार्थकता उसके विद्रूप हो जाने में नहीं उसकी कल्याणकारिता में है।

२१

मण्डन-विलास और उसका दुःखान्त

कला और साहित्य का पारस्परिक अन्तरावलम्बन सार्वभौम, सार्वकालिक और स्वाभाविक है। समान प्रतीकों और अभिप्रायों से दोनों की भूमि सजी है। प्रसाधन, दोहद, गायन, वादन, नर्तन, कन्दुक क्रीड़ा, जलविहार आदि के अभिप्रायों से दोनों के अचल और कलेवर लिखे गये है। यहाँ हम केवल तक्षण-कला में सामान्यत पाये जानेवाले उस प्रसाधन का उल्लेख साहित्य के एकाकी पृष्ठभूमि से करेंगे। मेरी दृष्टि से इस सम्बन्ध मे कला और साहित्य दोनों की भूमि से अनेक और अनेकधा प्रसग और अभिप्राय उठते आ रहे है। पर इस लेख मे केवल तत्सम्बन्धी साहित्यिक मण्डन-विलास का उल्लेख करूँगा।

वह मण्डन-विलास कालिदास के पूर्ववर्ती 'आर्य सुवर्णाक्षीपुत्र साकेत के भिक्षु आचार्य-महाकवि-महावादिन्-भदन्त अश्वघोष' (सौन्दरनन्द का अन्त्यलेख) के प्रसिद्ध महाकाव्य, 'सौन्दरनन्द' के चौथे सर्ग मे अद्भुत कौशल से प्रस्तुत हुआ है। उससे प्रगट है कि महाकवि अश्वघोष पार्थिव विलास और प्रसाधन-वैभव का एकान्तिक जानकार तो था ही, उसने उसकी चरम परिणति घोर विपत्ति मे की। वही उसका इष्ट था, उसके इस उद्देश्यपरक महाकाव्य सौन्दरनन्द का साध्य। उसने अपने उस स्थल पर नितान्त सुकुमार नितान्त मानवीय तन्तुओं को अपनी कल्पना की राग तूलिका से छेड़ा है फिर उन्हें इष्ट की सिद्धि के अर्थ कृतान्त की क्रूरता से टूक-टूक कर दिया है। भगवान् बुद्ध ने अपनी सम्बोधी के बाद के पहले प्रवचन—धर्मचक्र प्रवर्तन में अपनी देखी 'मज्झिम-पटिपदा' (मध्यम-मार्ग) के दोनों एकान्तिक छोरों—घोर विलास और घोर तप—का उपदेश किया था। अश्वघोष का यह मण्डन-विलास उस घोर भोग की ओर संकेत करता है जिसका अन्त घोर त्याग और तप में होता है। वस्तुतः जिसका मार्जन है ही नहीं। मानव साहित्य के इतिहास में इतना करुण, इतना मर्महर, इतना चुटीला प्रसंग लेखनी ने नहीं लिखा। कालिदास की शकुन्तला का त्याग मर्म को निःसन्देह मथता है पर उसका मार्जन भी दुष्यन्त के प्रणिपात में है जिसके बाद दोनों प्रेमी सदा के लिए संयुक्त हो जाते हैं। सौन्दरनन्द के प्रेमियों के वियोग का तो फिर कभी संयोग ही नहीं हो पाता, गोया उस विलास का कोई प्रायश्चित्त, कोई मार्जन ही नहीं है—नन्द छूटा तो बस छूटा, सुन्दरी तड़पी तो बस तड़पती ही रही। अब कवि की लेखनी से प्रसङ्ग का निरूपण सुनें—

नन्द कुल का नन्दन है, शुद्धोदन का बचा हुआ बेटा, शाक्य और कोलिय ललनाओं की रहसि की टीस सुन्दरी नन्द की पत्नी है, रोहिणी के दोनों तटों की

सुरभि, उस जनपद के पौरुष की मात्र आकर्षण। नन्द और सुन्दरी एक दूसरे के अनुपम अन्यतम आराध्य थे। उनका विवाह अभी हाल ही में हुआ था और एकान्तिक विलास स्वाभाविक ही उनके निर्जन का वैभव था, समाज का शपथ। प्रभात से सन्ध्या तक फैला दिवस उनके मण्डन-विलास में चुक जाता, सन्ध्या से प्रभात तक फैली रजनी कमल-कुमुदिनी की पंखुड़ियाँ समेट लेती, सम्पुट प्राण स्वप्निल निस्पन्द हो जाते।

कपिलवस्तु में तथागत आये, प्रवचन करने लगे। शाक्य स्नेह-श्रद्धा-प्रव्रज्या से तथागत के प्रति अपना सौजन्य प्रगट करने लगे, पर नन्द के महलों में प्रहत्त पुष्कर का गम्भीर नाद गम्भीरतर होता गया, कामासक्त नन्द कामातुरा सुन्दरी का अंक न छोड़ पाता। रूप की मदिरा पल-पल मदिरतर होती गई, अल्हड़ विलास कपोत-कपोतिनी के राग को सारहीन कर चला, मदन और रति के रमण को नीरस।

चक्रवाकी से संयुक्त चक्रवाक के समान प्रियतमा से नन्द ने न कुबेर को कुछ गिना न इन्द्र को, धर्म को फिर वह क्या गिनता? और प्रियतमा भी वह अनुपम थी, त्रिनाम्नी—शोभा और रूपाकर्षण के कारण 'सुन्दरी'; मान और गर्व के कारण 'मानिनी', और दीप्ति तथा मनस्विता के कारण 'भामिनी'। हासरूपी हंस से, नेत्ररूपी भ्रमर से, पीनस्तनरूपी उन्नत कमलकोश से वह पद्मिनी (पुष्करिणी) सूर्यवंश में उदित नन्द रूप सूर्य से सहसा सज उठी। मनुष्य लोक में तब बस दो ही थे—स्त्रियों में सुन्दरी, पुरुषों में नन्द।

कन्दर्प और रति का लक्ष्य बनकर, प्रमोद और केलि का नीड़ बनकर, हर्ष और तुष्टि के पात्र उस कामुक जोड़े ने परस्पर अविराम रमण किया। उनके नयन एक दूसरे को देखने में लीन थे, चित्त एक दूसरे से आलाप में व्यस्त थे, आलिंगन से उनके अंगराग पुँछ जाते, ऐसी उनकी अन्योन्य आसक्ति थी। पर्वती निर्झर पर किंपुरुष-किन्नरीवत् क्रीड़ा करते दोनों एक दूसरे के रूप को लजा देते। जब अनुराग दूरी को तिरस्कृत कर देता तब वे परस्पर लिपट जाते और जब रमण से वे बिलकुल थक जाते तब विनोद और लीला द्वारा एक दूसरे को प्रमत्त करने लगते।

उसी क्रम में एक दिन नन्द ने प्रिया का प्रसाधन किया और केवल सेवाभाव से, कुछ मण्डन के लिये नहीं, क्योंकि अपने रूप से ही अनन्य कान्तिमती सुन्दरी को अलंकरण से क्या लाभ होता? इसी प्रसंग में सुन्दरी ने भी नन्द के कर में दर्पण देकर कहा—जब तक मैं 'विशेषक' (कपोलों पर पत्ररचना) लगाती हूँ, तब तक तनिक इसे दिखाओ। नन्द ने तत्काल वह दर्पण धारण किया।

भर्तुस्ततः श्मश्रुनिरीक्षमाणा विशेषकं सापि चकार तादृक्।
निःश्वासवातेन च दर्पणस्य चिकित्सयित्वा निजघान नन्दः॥

भर्ता की मूछों की ओर देखती उसने अपने चेहरे पर उनकी छाया डाली, मूँछें बना डालीं फिर तो नन्द ने भी अपने निःश्वास वात से आदर्श की काया गदली कर दी विनोद, कि जिस माध्यम से तुमने मेरी सौन्दर्य भूमि (सुन्दरी का मुख) दूषित

कर दी उसे मैं भी गदला क्यों न कर दूँ ! फिर निःश्वास इस कारण कि काश हाथ खाली होते और प्रिया का आदेश पूरा न करना होता !

फिर भी नन्द का वह वार खाली नहीं गया। उसने आरसी की निर्मल भूमि जो निःश्वास से धुँधली कर सुन्दरी के खेल में विघ्न डाला तो उसने भी, स्वामी की ललित चेष्टा और शठता पर मन ही मन हँसती हुई भी, सौंहें ललाट की रेखाओं में बल डाल भौंहें टेढ़ी कर उसके प्रति अपना रोष प्रगट किया—

सा तेन चेष्टाललितेन भर्तुः शाठ्येन चांतर्मनसा जहास।
भवेच्च रुष्टा किल नाम तस्मै ललाटजिह्मां भ्रूकुटिं चकार॥

फिर मद से अलसाये बाएँ हाथ से अपने कान का नील कमल खींचकर उसने नन्द के कन्धे पर मारा और उसके अर्धनिमीलित नेत्रोंवाले मुख पर दाहिने हाथ की तूलिका से विशेषक की रागरेखाएँ लिख दीं—यह लो ! यह ! और यह !

चिक्षेप कर्णोत्पलमस्य चांसे करेण सव्येन मदालसेन।
पत्राङ्गुलिं चार्धनिमीलिताक्षे वक्त्रेऽस्य तामेव विनिर्दुधाव॥

तब प्रिया के कोप को सच्चा मान नन्द ने डरकर चंचल नूपुरों से संयुत, नखप्रभा से उद्भासित उँगलियोंवाले उसके नलिनोपम पदोंपर अपना मस्तक रख दिया। और तब प्रिया को मनाने में लगा नन्द का मस्तक झड़े कुसुमों से ऐसे शोभित हुआ जैसे स्वर्णवेदी पर वायुवेग और पुष्पभार से टूटा नागवृक्ष। और सुन्दरी ने लटकते हारोंवाले स्तनों और भुजावल्लरी से उसे कुचलते हुए ऊपर उठा लिया, फिर हिलते कुण्डलोंवाले मुख को तिरछाकर ज़ोर से हँसते हुए वह पूछने लगी—अरे ! यह क्या किया ? कैसे हो गये ? अनन्तर कर में दर्पण लिए पति को बारबार देखती उसने उस तमालपत्र से आर्द्र कपोल पर पत्रलेख का अंकन पूरा किया और तब उसका वह तमालपत्रयुक्त, ताम्राधरोष्ठवाला, चंचल चिकुरमण्डित विशाल नयनोंवाला मुख उसे ऐसे कमल-सा आकर्षक लगा जो सेवार में लिपटा हो, जिसका अग्रभाग अधिकतर रक्तिम हो, जिसपर भ्रमर आसन्न हों। नन्द दर्पण उठाये ही रहा, अब विशेष आदर से, जिससे फिर भ्रान्ति न हो जाय और अवसर मिलने पर वह चूका भी नहीं। प्रसाधन के साक्षी उस दर्पण से आँख चुरा वह रह-रहकर विशेषकयुक्त प्रिया के सुन्दर मुख को तिरछे निहार लेता। और वह मुख भी ऐसा था जिसके तट के विशेषक को उसके कुण्डल भेंट दे रहे थे जैसे हंस अरविन्द को काट देते हैं। नितान्त आकर्षक उस मुख को देखते प्रिय की चकित चेष्टा से स्वयं सुन्दरी रोमांचित—गद्गद हो उठी। कालिदास ने कितना सही कहा है—प्रियालोकफलो हि वेशः—वेश या मण्डन का तो उद्देश्य ही यह है कि प्रिय उसे देख ले। सो उस मण्डन का उद्देश्य पूरा होते देख सुन्दरी अघा गई !

और अभी यह ललित मण्डन-व्यापार चल ही रहा था कि—तथागतश्चागतभैक्षकालो भैक्षाय तस्य प्रविवेश वेश्म भिक्षाकाल उपस्थित हो गया और तथागत (बुद्ध)

नन्द की उस गगनचुम्बी अट्टालिका के द्वार भिक्षापात्र लिए आ खड़े हुए। जैसे दूसरे गृहस्थों के द्वार पर नीची दृष्टि किये जाकर खड़े होते थे वैसे ही भाई के द्वार पर भी निर्विकार स्नेहरहित बुद्ध चुपचाप खड़े हुए। शान्त कलेवर, निर्द्वन्द्व चित्त, निम्नगा दृष्टि, भिक्षापात्र देहली में बढ़ा हुआ।

पर कौन सुनता स्नेहविहीन तथागत को, उस विलासगर्भित गृह में जहाँ केलि के साधन निरन्तर प्रस्तुत किये जा रहे थे? कोई अंगराग तैयार कर रहा था, कोई फेनक; कोई आलक्तक और लोध्रचूर्ण प्रस्तुत कर रहा था, कोई अगुरु धूम; कोई स्नान के लिए जल बास रहा था, कोई पान के लिए मदिरा। कोई वस्त्रों को सुगन्धित कर रहा था, कोई मालायें गूँथ रहा था। किसे परवाह थी बुद्ध की, जब सभी अपने स्वामी-स्वामिनी के विलास के साधन प्रस्तुत कर रहे थे? प्रमादवश नन्द के अनुचर बैठे रह गये और तथागत क्षण भर देहली में रुक चुपचाप आगे बढ़ गये।

बस एक अनुचरी प्रासाद की छत पर चढ़ी खिड़की से बाहर देख रही थी, सो उसने सुगत को मेघ के पीछे से निकलते सूर्य की भाँति द्वार से निकलते देखा। स्वामी के गौरव, अपनी भक्ति और अर्हत् की गरिमासे अभिभूत वह नन्द के आगे जा खड़ी हुई और आदेश पा निवेदन करने लगी—

अनुग्रहायास्य जनस्य शङ्के गुरुर्गृहं नो भगवान्प्रविष्टः।
भिक्षामलब्ध्वा गिरमासनं वा शून्यादरण्यादिव याति भूयः॥

लगता है, कदाचित् हमपर अनुग्रह करने के हेतु भगवान् बुद्ध हमारे घर पधारे थे पर बिना भिक्षा, वाणी अथवा आसन से सत्कृत हुए (पाये) लौटे जा रहे हैं, जैसे सूने वन से। महर्षि के इस प्रकार घर में प्रवेश कर बिना सत्कार पाये लौट जाने की बात सुन कर चित्रित वस्त्र सुन्दर आभरण सुगन्धित मालायें पहने नन्द वैसे ही काँपने लगा जैसे वायुचालित कल्पद्रुम।

कृत्वाञ्जलिं मूर्धनि पद्मकल्पं ततः स कान्तां गमनं ययाचे।
कर्तुं गमिष्यामि गुरौ प्रणामं मामभ्यनुज्ञातुमिहार्हसीति॥

तब माथे पर पद्मवत् अंजलि जोड़ नन्द कान्ता से जाने की आज्ञा माँगता हुआ बोला—'अनुज्ञा करें, देवि, गुरु को प्रणाम करने जाऊँ।' क्षणभर वियोग की बात सुन काँपती हुई सुन्दरी ने वायुकम्पित लता द्वारा आलिंगित शाल की भाँति प्रिय का आलिंगन किया। आँसूभरे लोल नयनों से देखती लम्बी साँस लेती विपदा से बोली—

नाहं यियासोर्गुरुदर्शनार्थमर्हामि कर्तुं तव धर्मपीडाम्।
गच्छार्यपुत्रैहि च शीघ्रमेव विशेषको यावदयं न शुष्कः॥

गुरु के दर्शनार्थ जाना चाहते हो—धर्माचारण में बाधा नहीं डालूँगी। जाओ, आर्यपुत्र, निःसन्देह, पर शीघ्र, इस विशेषक की गीली रेखाओं के सूखने के पूर्व ही लौट भी आओ

संसार के किसी साहित्यकार ने अपने पात्र की वाणी में इतने करुण, इतने मर्महर प्राण न फूँके। प्रिया इतनी आतुर कभी न हुई, ऐसी अद्भुत उक्ति उसने न की—इतना शीघ्र लौटो कि कपोल की रागरेखायें अभी गीली ही बनी रहें। काश कि नन्द आतुरता की इस मात्रा की, प्रणय की इस काम्य मर्यादा की रक्षा कर पाता!

सुन्दरी कहती गई—क्योंकि उसने जाना नहीं कि वियोग की अवधि अनन्त हो जायेगी, राह से सुगत को लौटाते आखिर देर ही कितनी लगेगी, इससे उसके वक्तव्य में कुछ विनोद भी मिल गया—

सचेद्भवेस्त्वं खलु दीर्घसूत्रो दण्डं महान्तं त्वयि पातयेयम्।
मुहुर्मुहुस्त्वां शयितं कुचाभ्यां विबोधयेयं च न चालपेयम्॥
अथाप्यनाश्यानविशेषकायां मय्येष्यसि त्वं त्वरितं ततस्त्वां।
निपीडयिष्यामि भुजद्वयेन निर्भूषणेनार्द्रविलेपनेन॥

पर जो तुमने देर की तो जानो तुम्हें भारी दण्ड मिलेगा—जब तुम सोते होगे तब बार-बार तुम्हें कुचों की ठोकर से जगाऊँगी पर बोलूँगी कदापि नहीं तुमसे। (असिधाराव्रत का कितना गुरुतर दण्ड है यह!) और यदि मेरे विशेषक के सूखने के पहले तुम लौट आये तब अपनी आभूषणरहित विलेपन से गीली भुजवल्लरी से तुम्हारा गाढ़ आलिंगन करूँगी। कितना कठिन कितना चिन्त्य कार्य नन्द को मिला। एक ओर सुगत और भाई की मर्यादा दूसरी ओर प्रिया भार्या के प्यार का मोह।

पत्नी की वाणी, विनोद के बावजूद, काँप रही थी। नन्द स्वयं अपराध की गुरुता से, वियोग की सम्भावना से काँप रहा था। सुन्दरी की बात सुन बोला—

एवं करिष्यामि विमुञ्च चण्डि यावद्गुरुर्दूरगतो न मे सः

'ऐसा ही करूँगा, चण्डि, छोड़ो मुझे, गुरुदेव मुझसे कहीं दूर न चले जायँ।' फिर उसने अपने को शीघ्र चन्दन-चर्चित नव स्तनों के स्पर्श से मुक्त कर लिया। तत्काल उसने कामवेश त्याग शिष्ट सत्कार योग्य वेश धारण किया, और चला फिर वह उस दिशा की ओर जिधर विश्व का वह अभिराम शास्ता चुपचाप नीची दृष्टि किये लम्बे डग भरता चला जा रहा था।

और जैसे नन्द सुगत की ओर देखता जा रहा था, वैसे ही सुन्दरी नन्द की ओर अपलक निहार रही थी। बड़ी भाव-गुरुता के साथ अश्वघोष ने सुन्दरी की उस दृष्टि का वर्णन किया है। वह कहता है—

सा तं प्रयान्तं रमणं प्रदध्यौ प्रध्यानशून्यस्थितनिश्चलाक्षी।
स्थितोच्चकर्णा व्यपविद्धशष्पा भ्रान्तं मृगं भ्रान्तमुखी मृगीव॥

चिन्ता से उदास सूनी निश्चल दृष्टि से वह अपने उस जाते हुए रमण को देखती रही जैसे दूर जाते हुए अपने भ्रान्त मृग को भ्रान्तमुखी मृगी कान खड़े कर आहार से उदासीन हो मुख से तृण के ग्रास को गिराती हुई देखती है

नन्द का जाना भी कुछ आसान न था। चल तो पड़ा वह गुरुजन के तिरस्कार के मार्जन के लिए पर सुन्दरी का मोह उसके संकल्प को छेड़ता रहा। मुनि को देखने की उत्कण्ठा से उसने दृष्टि-निक्षेप में त्वरता तो की पर वह दृष्टि घूम गई सहसा सुन्दरी की ओर। प्रिया की ओर देखता हुआ वह फिर भी अपने उद्देश्य की ओर चला जैसे विलासिनी हथिनी को देखता हुआ गजराज धीरे-धीरे जाता है। जाना आसान न था। ललक-ललककर दृष्टि पीछे लौटी और—

छातोदरीं पीनपयोधरोरुं स सुन्दरीं रुक्मदरीमिवाद्रेः।
काक्षेण पश्यन्न ततर्प नन्दः पिबन्निवैकेन जलं करेण॥

पर्वती कनक-दरी की-सी कृशोदरी, पीन पयोधरों और भरी जाँघोंवाली सुन्दरी को कनखियों से निहारता नन्द वैसे ही तृप्त न हुआ जैसे एक हाथ से जल पीनेवाला नहीं अघाता।

बुद्ध के गौरव ने उसे एक ओर खींचा, प्रिया के प्रणय ने दूसरी ओर· तरंगारूढ़ हंस की भाँति अनिश्चय के कारण न तो वह आगे ही जा सका न खड़ा ही रह सका। कामराग से बँधा और धर्मानुराग से आकृष्ट नदी की प्रतिकूल धारा में घूम-घूम जानेवाली नौका की भाँति बड़े कष्ट से वह आगे बढ़ सका। फिर वह विचार कर कि 'गुरुवर कहीं दूर न चले जायँ और कि झट उन्हें लौटा कर मैं भी लौटूँ कि विशेषक के राग से गीले कपोलोंवाली प्रिया का गाढ़ालिंगन करूँ', वह लंबे डग भरता बुद्ध की राह चला गया।

आगे की कथा अत्यन्त मार्मिक और असह्य है। नन्द बुद्ध के निकट जा पहुँचा। बुद्ध औरों से राह में बीच-बीच में बात करते रहे। अवसर पाते ही नन्द ने जब उनसे भिक्षा करने के लिये लौट चलने की प्रार्थना की तब उन्होंने केवल संकेत द्वारा बता दिया कि भिक्षा का समय अब व्यतीत हो चुका है इससे अब वे लौट नहीं सकते। साथ ही उन्होंने नन्द को अपना भिक्षापात्र पकड़ा दिया और संघाराम की ओर वे बढ़ चले। नन्द शिष्टता का प्रतीक माना जाता था, उसने अनेक बार निवेदन करना चाहा कि उसे घर लौटना ही होगा। पर सुरुचि और सुसंस्कार ने उसे वैसा करने न दिया। वह उसे बड़ा अभद्र लगा। फिर वह किसी स्थिति में बुद्ध को उनका भिक्षापात्र नहीं पकड़ा सकता था। इससे वह पीछे-पीछे मन को सुन्दरी में लगाये संघाराम तक चला गया। फिर तो वहाँ अनेक उपायों से नन्द को रोक कर बुद्ध ने अन्त में उसे प्रव्रज्या दिलवा दी। नन्द ने वहाँ से भागने की बार-बार चेष्टा की पर उसे लौटने नहीं दिया गया।

उसके भागने के चित्र बार-बार भारतीय चितेरों ने खींचे। नन्द की कथा आर्द्र चित्रण की प्रियवस्तु बन गई। अजन्ता में, चीन के तुन हुआंग की गुफाओं में, सर्वत्र वह रोमांचक मन को मथ देनेवाली कथा लिखी गई बौद्ध कथाओं में भी उसने

अपना स्थान पाया। पर सुन्दरी का नन्द जो गया तो फिर लौटा नहीं, यद्यपि बार-बार प्रिया की कही बात उसके मर्म को बेधती रही—

> नाहं यियासोर्गुरुदर्शनार्थमर्हामि कर्तुं तव धर्मपीडाम्।
> गच्छार्यपुत्रैहि च शीघ्रमेव विशेषको यावदयं न शुष्कः॥

विशेषक सूख गया, उसकी राग-रेखायें सूख गईं, उनकी पृष्ठभूमि सुन्दरी के कपोल ढीले पड़ गये, उसका गात सूख कर जर्जर हो गया, काया गल गई पर नन्द नहीं लौटा, न दण्ड के भय से, न पुरस्कार के लोभ से।

२२

साहित्य और कला की समान प्रेरणा

साहित्य और कला की प्रेरणायें समान है, उनके अवतरण की भूमि समान है। दोनों ने समान पृष्ठभूमि—जीवन—से अपना भाग पाया है, समान उपकरणों से दोनों ऋद्ध हुए है। इसी से अनेक बार अनेकशः उनके प्रतिमान, प्रतिमायें, अभिप्राय समान अथवा कम से कम एक-से रहे हैं। 'शिथिलसमाधि' का दोष समान रूप से उनकी सफलता में घातक सिद्ध हुआ है, वर्ण्य, आलेख्य अथवा अनुकार्य का साक्षात्कार सर्वदा-सर्वत्र उनके वैभव का कारण बना है।

साहित्य और कला के क्षेत्र में सर्वत्र और सर्वदा समान आवाज उठती रही है, समान सैद्धान्तिक संकेत अथवा लाक्षणिक शब्दावलि से उनकी प्रवृत्तियों का उल्लेख हुआ है। क्लासिकल, रोमैंटिक, यथार्थवादी, नव-क्लासिकल, प्रकृतिवादी, इम्प्रेशनिस्ट, पोस्ट-इम्प्रेशनिस्ट, क्यूबिस्ट, फ्यूचरिस्ट, सरियलिस्ट, सामाजिक-यथार्थवादी आदि जितनी भी प्रवृत्तियाँ आज इन नामों से द्योतित होती है वे सभी साहित्य और कला दोनों के क्षेत्रों में समान रूप से व्यवहृत हुई है।

इसी कारण साहित्य और कला दोनों के अभिप्राय (मोटिफ़) भी अनेक बार प्रायः एक ही रहे हैं। साहित्य में निरन्तर कला के लक्षणों और उसके अनुकार्यों का उल्लेख हुआ है और कला के अनेकानेक भाव-विषय सीधे साहित्य से लेकर लिखे, खींचे या कोरे गये हैं। इसी से दोनों में असाधारण अन्योन्याश्रय और अन्तरावलम्बन है।

कालिदास ने अपने साहित्य का सृजन करते समय 'ललिते कलाविधौ', 'ललिताभिनय', 'पत्रविशेषक', 'चित्रशाला', 'सद्मसु चित्रवत्सु', 'सचित्राः प्रासादाः', 'विमानाग्रभूमिरालेख्यानाम्', 'द्वारोपान्ते लिखितवपुषो शंखपद्मौ', 'आलेख्यशेषस्य', 'सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन', 'प्रत्यग्रवर्णरागा चित्रलेखा' आदि पदों में उस साहित्यगत कलाकारिता की ओर संकेत किया है। ऐसे ही उसके अनेक स्थल चित्रण और तक्षण-कलाओं के समान प्रतिमानों-प्रवृत्तियों की ओर संकेत करते हैं। कुछ इनमें से इस प्रकार हैं—'प्रतिकृति', 'मत्सादृश्यं भावगम्य लिखन्ती', 'प्रणयकुपितां', 'आलेख्यवानर इव', 'तर्कयामि येषा' 'लिखिता सा शकुन्तला', 'रागबद्धचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रंग', 'पूरितव्यं' 'कदम्बैः', 'कुसुमरसः' 'मधुकरः', 'चित्रगताया' 'आसन्न-दारिका', 'अपूर्वेयं' 'आलिखिता', 'चित्रपरिचयेनांगेषु'।

चित्र-सम्पदा के अतिरिक्त वह कवि बार-बार अपनी साहित्यगत स्थितियों की व्याख्या के विन्यास के लिए मूर्तन के अभिप्रायों का सहारा लेता है। अपने काल की मृण्मूर्तियों के प्रति वह मृत्तिकामयूर', 'मृण्मयूरहस्ता', 'मद्रमयूर',

'शकुन्तलावण्यं' आदि में संकेत करता है। और मूर्तन-तक्षण (पत्थर मे) की तो अनन्त सम्पदा कवि के साहित्य में खुल पड़ी है। 'कालीकपालाभरणा', 'चलकपालकुण्डला' 'मयूरपृष्ठाश्रयी गुह,' 'अश्वमुख्यः,' 'श्रीवत्सलक्ष्मा पुरुषश्च साक्षात्' में कला और साहित्य दोनों अपने समसामयिक जीवन के ठोस प्रतिमानों को प्रस्तुत करते हैं। 'मूर्ते च गंगा-यमुने तदानीं स चामरे देवमसेविषाताम्' में कालिदास ने गुप्तकालीन उस कलागत अभिप्राय का उल्लेख किया है जो मूर्तन के क्षेत्र में अभी हाल ही उतरा था और जिसमें मन्दिरों के द्वारा मकरारूढा गंगा और कच्छपारूढा यमुना के प्रतीकों से सजाये जाने लगे थे। पार्वती-परिणय अथवा शिव-पार्वती की जो अनन्त मूर्तियाँ मध्यकाल में बनीं उनके स्रोत की ओर कवि ने पूर्व ही अपने 'शम्भुना दत्तहस्ता' में निर्दिष्ट कर दिया। गुप्तकालीन प्रभामण्डलोंका अनकेशः वर्णन कालिदास के 'छायातपत्र', 'प्रभामण्डल', 'स्फुरत्प्रभामण्डल,' 'पंकजानां मध्ये स्फुरन्तं प्रतिमाशशाङ्कम्' में हुआ है। अपने 'दश मुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसन्धेः कैलासस्य' और 'रामस्तुलितकैलासं' में उसने रावण के कैलास उखाड़ने से उसकी सन्धियों के विच्छिन्न हो जाने के उस प्रसंग की ओर संकेत किया है जिसका मूर्तन पिछले मध्यकाल की मूर्तिकला में प्रभूत मात्रा में होता चला गया था। इसी प्रकार यक्ष-यक्षिणियों का मूर्तन शुद्ध कला में जितना उस काल प्रचुर हुआ उसी प्रचुर मात्रा में कवि ने भी अपने साहित्य में उन्हें व्यक्त किया है। मेघदूत का तो नायक ही यक्ष है। कुषाणकालीन मथुरा की स्तूप-वेदिकाओं (और दूर भरहुत) की यक्षियों की पृष्ठभूमि से ही कवि की अयोध्या की उपेक्षित स्तम्भ-नारी-मूर्तियाँ उठी हैं—

स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम्।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति सङ्गान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः॥

स्तम्भों पर बनी नारीमूर्तियों के रंग विवर्ण हो गये हैं, धूलिधूसरित। उनके उत्तरीय अब नहीं दिखते, उनके स्थान पर उन पर रेंगनेवाले कालभुजंगों की केंचुलें अब उनके स्तनों का अवगुंठन करती हैं! यक्षों का संसार तब की भावभूमि पर अपने आपानक ले कर उतरा था। यक्षों और उनके स्वामी कुबेर इन आपानकों के श्लाघ्य देवता थे। कुबेर की चषकहस्ता मूर्तियों का तब प्राधान्य था जब कवि के शब्दों में नागरिकों द्वारा मदिरा पीकर फेंके टूटे चषकों से भूमि 'चषकोत्तरा' हो उठती थी। कुमारसम्भव में शिव की समाधि और तत्कालीन अनन्त समाधिगत बुद्ध-प्रतिमाओं की प्रेरणा सर्वथा समान है, एक भावभूमि से उठी। कन्दुकक्रीड़ारता, गाती-नाचती-वीणा बजाती, पुष्प-चयन करती नारी के अनेकानेक अभिप्राय एक ही सामाजिक प्रवृत्ति के परिचायक हैं, जैसे दोहद की अभिराम परम्परा भी। मूर्तन-कला में दोहद की सम्पदा जैसे बरस पड़ी है। नूपुर धारण कर तरुणी-सुन्दरी का अशोक-मूल पर पदाघात कला और साहित्य दोनों में सुकुमार निष्ठा से रूपायित हुआ है जैसे मदिरा के कुल्ले से बकुल का दोहद का जो रूप कालिदास ने अपने में निखारा है वह

साहित्य के दूसरे कृतिकारों का भी इष्ट रहा है और उन्होंने भी उसका अनेकधा रुचिर वर्णन किया है।

समाज में संस्कृत सुरुचिप्राण नारी ललितावसरों पर 'लीलारविन्द' धारण करती थी—कमलदण्ड। यह प्रतीक कला और साहित्य दोनों के रूपायन का अभिमत प्रिय अभिप्राय बन गया। मौर्य-शुंगकालीन मिट्टी के ठीकरों से लेकर उत्तर गुप्तकालीन कृतियों पर निरन्तर यह अभिप्राय आकलित मिलता है। सदा समाज के सौन्दर्य-मानो का आकलन कला और साहित्य में होता आया है। मूर्तन के क्षेत्र में पीन पयोधरो और गुरु नितम्बों की जो छाया पड़ी तो समूचे साहित्यकारों ने, विशेषतः कालिदास ने, उस सौन्दर्य भाव को अपनाया। कवि ने उन्हीं की शंसा में 'नितम्बगुर्वी' और 'गुरुश्रोणिपयोधरत्वात्' के-से सैकड़ों-सैकड़ों पद लिखे। एक स्थानपर तो कला की उस पृष्ठभूमि को लेखनी के माध्यम से साहित्य में उतारते हुए उसने लिखा कि परस्पर पीडन करनेवाले पीन पयोधरो का सान्निध्य इतना गहन है कि दोनों के बीच एक मृणाल-तन्तु तक नहीं रखा जा सकता!

बुद्धकालीन वत्सराज उदयन को अवन्ती के चण्डप्रद्योत महासेन ने मायागज के छल से बन्दी कर लिया था। बन्दी की स्थिति में ही उस वीणावादक उदयन ने प्रद्योत की रुचिर कन्या वासवदत्ता को तन्त्रीवादन सिखाते समय मोह लिया और एक दिन अपने मन्त्री यौगन्धरायण की सहायता से उदयन वासवदत्ता को हाथी पर चढ़ा-कर कौशाम्बी ले भागा। यह कथा संस्कृत-साहित्य में बार-बार उतरी है। कालिदास से पहले महाकवि भास ने उसी कथा को अपने दो-दो समूचे नाटकों—स्वप्नवासवदत्ता और प्रतिज्ञायौगन्धरायण—की विषय-वस्तु बनाया, बाद हर्ष ने उसे अपनी 'प्रियदर्शिका' और 'रत्नावली' में ध्वनित किया। 'कथासरित्सागर' में भी वह कथा खुलकर आई और साहित्य में अनेकधा मुखरित हुई। स्वयं कालिदास ने 'मेघदूत' के अपने 'उदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्' में गाँव-नगर के वृद्धों द्वारा उस कथा के कहे जाने का उल्लेख किया। वह कथा-प्रसंग भास-कालिदास से सदियों पहले कलावन्तो के हाथ से प्रकाश पा चुका था। कलाकार ने साहित्यकार से कहीं पहले अपने साँचे को उस रोमांचक प्रसंग से कृतार्थ कर दिया था। वत्सराज उदयन की राजधानी कौशाम्बी के खण्डहरों में इस कथा को रूपायन करनेवाले मिट्टी के अनेक ठीकरे मिले हैं जो शुंगकाल यानी ईसवी पूर्व दूसरी सदी के ही हैं, उदयन से केवल तीन-चार सौ वर्ष बाद के बने। उपलब्ध ठीकरों के मतिमान साँचाकार ने ठीकरे पर समूची कथा खींच दी है। राजा वीणा धारे हाथी पर बैठा है; वासवदत्ता उसकी कमर से चिमटी हुई है। पीछे पूँछ के पास अनुचर बैठा नकुली से स्वर्ण-मुद्राएँ गिरा रहा है जिससे पीछा करनेवाले शत्रु सैनिक लोभ में फँसकर राजा का पीछा करना छोड़ दें। गज बेतहाशा भागा जा रहा है। ऐतिहासिक घटना का इतना सजीव वर्णन कला के ठीकरे पर अन्यत्र कभी नहीं हुआ इस एक ठीकरे ने साहित्य के अनेक नाटकों की

काया अकेले सिरज दी। इस कथा की पृष्ठभूमि से साहित्य और कला दोनों ने अपना भाग पाया, दोनों इसके सौरभ से गमके।

साहित्य और कला दोनों मे समान प्रचुरता से प्रसाधन का निरूपण हुआ है। पति या प्रेमी पत्नी या प्रेयसी का वेणिप्रसाधन, पुष्प-मण्डन या पत्र-लेखन (भक्ति विशेषक-अंकन) करता है। इस प्रसंग का आकलन तक्षक की छेनी से बारबार द्वार स्तम्भों के चतुष्कों में हुआ है। कुषाण और गुप्तकालीन अनेक कला-अभिप्राय इस प्रतीक से मुखरित हुए हैं। मथुरा और लखनऊ के संग्रहालयों में इस लक्षण के आकलन सुरक्षित हैं। प्रतीकतः नन्द द्वारा सुन्दरी का प्रसाधन मानकर भी इनकी ओर कुछ लोगों ने संकेत किया है। इसमें सन्देह नहीं कि इनका आकलन जैसे स्वय नन्द सुन्दरी का साहित्यगत प्रसाधन तत्कालीन समाज का प्रक्षेपण-प्रसार-प्रतिबिम्ब मात्र है। नन्द द्वारा सुन्दरी का वह अभिराम पर परिमाण में भयावह प्रसाधन महाकवि अश्वघोष के 'सौन्दरानन्द' महाकाव्य मे विशद रूप से मुखरित हुआ है।

वर्णन चौथे सर्ग का है। नन्द बुद्ध का सौतेला भाई है, बुद्ध का भक्त, पत्नी सुन्दरी का एकान्त प्रिय और प्रेमी। एक दिन वह अपने प्रासाद के प्रकोष्ठ पर प्रिया के मुख पर विशेषक लिख रहा था। विशेषक पत्र-लेखन को कहते थे, कपोलों, ललाट और चिबुक पर लतापत्रों और टहनियों को रंग की रेखाओं से अंकित करने को। वह प्रसाधन सामान्यतः नन्द द्वारा सम्पन्न होने के बावजूद उस विशेष अवसर पर विनोद का रूप धारण कर चुका था क्योंकि वस्तुतः नन्द द्वारा सुन्दरी का नहीं बल्कि सुन्दरी द्वारा नन्द का प्रसाधन हो रहा था। नन्द के हाथ में दिखाने के लिए दर्पण पकड़ाकर पति की मूँछ को देख-देखकर अपने चेहरे पर रागरेखाओं द्वारा वह मूँछ बना रही थी। नन्द भी अपनी गीली साँसों से दर्पण की स्वच्छ भूमि धूमिल करता जा रहा था जिससे चिढ़ कर एक बार तो सुन्दरी ने बनावटी कोप दिखाकर उसके समूचे मुख को रँग दिया। तब कुछ घबड़ाकर नन्द सुन्दरी के पाँव पर गिर पड़ा। सुन्दरी ने उसे उठाकर अंक में भर लिया। यह मण्डन-विनोद अभी चल ही रहा था कि तथागत भिक्षा के लिए द्वार पर आये और उन्होंने बदस्तूर अपना भिक्षापात्र गृहस्थ की देहली में बढ़ा दिया। पर स्वामी-स्वामिनी के विलास के उद्दीपक प्रसाधन के उपकरण—अंगराग, फेनक, गन्धद्रव आदि प्रस्तुत करने मे व्यस्त अनुचरों ने बुद्ध को न तो भिक्षा दी न आसन दिया, न उनसे मीठे बैन बोले। तथागत निर्द्वन्द्व आये थे निर्विकार चले गये। दासी ने जो बुद्ध को इस प्रकार बिना भिक्षा किये लौटे हुए देखा तो भाग कर नन्द से वह अपराध निवेदित किया। नन्द ने तत्काल प्रिया से प्रसाधन बन्द कर बुद्ध को मना लाने की अनुमति चाही। प्रिया ने अनुमति दी पर उस प्रसंग में उसने जो कहा उससे उसके प्रणय की घनता और वियोग की अधीरता का पता चलता है। सुन्दरी ने कहा—

"निश्चय जाओ, प्रिय धर्मकार्य में तुम्हारी बाधा नहीं बनूँगी पर शीघ्र ही लौट कर आओ, कपोलों के विशेषक सूखने से पहले" कितनी महान् और अद्भुत

उक्ति है, और कितना संसार के साहित्य का वह प्रसंग असाधारण करुण—क्योंकि वह प्रिय—सुन्दरी का नन्द—फिर नहीं लौटा, कभी नहीं। प्रव्रजित हो गया। सुन्दरी का वह रागांकन सूख गया, उसकी पृष्ठभूमि भी निष्प्राण हो गई पर प्रिय नहीं लौटा!

इस प्रकार सामाजिक भूमि से उठनेवाले मधुर प्रसंग वाल्मीकि से बाण-श्रीहर्ष तक के साहित्य में वैसी ही ऋद्धिमत्तासे रूपायित हुए हैं जैसे मौर्यकाल से अद्यावधि की कला में अभिराम आकलित। साहित्य और कला समान अभिप्रायों से मुखरित होते हैं, उनका अन्योन्याश्रय उनकी समान निष्ठा, समान कर्तृत्व का परिचायक है।

२३

कला की व्यापकता

कला कितनी व्यापक है, यह उसके इतिहास की युग-युग विकसित होती मंजिलों से स्पष्ट हो जाता है। कला के विकास में दो शक्तियाँ विशेष सक्रिय रही है—एक तो युगों का ऐतिहासिक संक्रमण और परिणामतः सामूहिक आन्दोन और दूसरी, वैयक्तिक अभिरुचि।

आन्दोलनों के परिचायक वे सारे वाद है—प्राचीन रसात्मक मानवतावादी दृष्टिकोणों से लेकर अत्यन्त अर्वाचीन अतियथार्थवादी-समाजवादी-यथार्थवादी दृष्टिकोणों तक—जिन्होंने युगविशेष के अनेकानेक कलावन्तों के सामूहिक सहयोग से अथवा कला-मनीषियों के रसवादी-सौंदर्यवादी विचारों को रूपायित करते हुए कला के क्षेत्र मे प्रगति के डग भरे हैं। समान परिस्थितियों वाले ऐतिहासिक युगों में इसी कारण कई बार समानरूपी प्रतीकों का उदय हुआ। वैयक्तिक चेतना प्रयोग की शिला भित्ति है, जो व्यक्ति के कृतित्व और उसकी इकाई को समूह या सामूहिक प्रयत्नों से अलग करती है, वैयक्तिक अभिरुचि और व्यक्तित्व का एकाकीपन उसके कृतित्व को मूर्त करते हैं। परिस्थितियों की समानता से युगों के दौरान में व्यक्तिवादी रूपायन में भी अनेक बार एकरूपता आ जाती है और एक ही प्रतीक युगों के पार भी परिलक्षित होने लगते हैं। इस दृष्टि से स्पेन के आल्तामाइरा की गुफाओं, दक्षिणी फ्रांस की गुफाओं या भारत की मिर्जापुर आदि की गुफाओं के आदिम भित्ति-चित्र—जो प्रायः २५,००० ईसा पूर्व के बने है—समान परिस्थितियों में चिते गए हैं और समान भावों के परिचायक हैं। उनकी अभिव्यक्ति या कला-व्यंजना की पृष्ठभूमि प्रायः समान रूप से वह अहेरी जीवन है जिसमे कला की अभिरुचि से कही बढ़कर शिकार का लक्ष्यभेद और उसके मारण सम्बन्धी टोने-टोटके जीवन के विश्वासों से घुले-मिले थे। समान परिस्थितियों ने इस प्रकार दूरस्थ तीनों कलात्मक रूपायनों में समान प्रतीकों के दर्शन किए और उनके माध्यम से वर्ण और रेखा द्वारा मूर्तन किया।

यह सही है कि समय-समय पर वैयक्तिक अभिरुचि ने कला के क्षेत्र मे अनेक बार सर्वथा नई भूमि एकाकी हल चलाकर तोड़ी है, पर उसका वास्तव में व्यापक प्रसार तभी हुआ है जब वह अनेकों द्वारा स्वीकार कर आन्दोलन के रूप में मुखरित कर दी गयी। इसी एक की अनेकधा और अनेक की एकत्र सामुदायिक प्रवृत्ति की प्रगति से कला के विन्यास और विकास में देश और काल का सहज अतिक्रमण हुआ

है और कला असीम व्यापक बनी है। वरना विचारें ज़रा—कहाँ अल्तामाइरा, कहाँ दक्षिणी फ़्रांस और कहाँ मिरज़ापुर।

अब ज़रा कला की मंज़िलों और सदियों के दौरान में विश्व में उनके व्यापक रूप का सिंहावलोकन करें। मोहनजोदेड़ो और हड़प्पा की सिन्धु सभ्यता के शक्तिसीम जिस पुंगव या साँड़ की अभिराम काया ठीकरों पर साँचे से उभारी मिलती है उसी साँड़ की न केवल प्राचीन मिस्र के देवताओं की परम्परा में पूजा होती है, बल्कि नबियों की एकेश्वरवादी आवाज़ के बावजूद फ़िलिस्तीन मे साँड़ों की निषिद्ध बलि प्रयुक्त होती है, और निनेवे तथा किला के असुर सम्राटों के द्वारपाल पंखधारी साँड़ उनके महलों की रक्षा करते हैं। और वही नरमस्तक से मण्डित साँड़ की काया लिए हुए कृष्णकाय प्रतीक ईरान की राजधानी पर्सिपोलिस के महलों के स्तम्भों पर विराजते हैं। असुर-वास्तु १००० ईस्वी पूर्व और सातवीं सदी ईस्वी पूर्व के बीच इतनी असाधारण उन्नति करता है कि समसामयिक सभ्य जगत् के सारे राष्ट्रों मे असुर-शिल्पियों की माँग होने लगती है। भारत का शिल्प-साहित्य भी मय दानव या असुर की चोटी-चुम्बी शिल्पकारिता के यश से मुखर हो उठता है और महाभारत-जैसी राष्ट्रीय काव्य-संहिता तक मे धर्मराज युधिष्ठिर के अचरज के राजभवन बनानेवाले अद्भुतकर्मा वास्तु-कार असुर का उल्लेख हो जाता है। जैसे दीवाली की दीपमाला में दिये से दिये की ज्योति जलती चली जाती है, बत्ती से बत्ती, लौ से लौ, वैसे ही सुमेरियों-बाबुलियों का ईंटों का ठोस आकाशचुम्बी देवस्थान 'ज़ग्गुरत' अपनी किरणों से एक ओर तो मिस्र के पिरामिडों को अपने प्रसार से छूता है दूसरी ओर केरल की दरी-समाधियों को, भस्मधारी भारतीय स्तूपों को। और मिस्री स्तम्भ-लेखों की परम्परा बाबुली हम्मुराबी और असुरिया के सम्राट् न केवल दजला-फ़रात के द्वाब में विकसित करते हैं बल्कि उनकी विरासत की बेल पूर्व की भूमि में भी लगा देते हैं जिनके सुन्दरतर प्रतीक दाराओं के ईरान में और सुन्दरतम अशोकीय भारत में कोरे जाते हैं। शिलागत-स्तम्भगत-गुफागत अभिलेखों की भारतीय परम्परा चाहे इस देश में अशोक से पहले अपने भाव की विविधता और शब्दमात्रा के आयाम में उपलब्ध न हो परन्तु वह स्वयं उसकी परिणति है जो निकट पड़ोस मे, ईरान में, शीघ्र पूर्ववर्ती थी, मध्य एशिया मे मध्य पूर्ववर्ती और मिस्र में प्राचीन पूर्ववर्ती। वस्तुतः मिस्र से भी पूर्ववर्ती उस परम्परा का आरम्भ खल्दी भूमि के भी नीचे सुमेरियों की कीलित लिपि की हज़ारों-हज़ारों लेखपद्धति में है जो ईसा पूर्व चौथी सहस्राब्दी की साहित्यवर्ती कलात्मक समृद्धि है। और दरीगत भित्ति-चित्रों की सम्पदा का आरम्भ चाहे सभ्य काल मे मिस्री कार-नाक के पार्वतीय मन्दिरों से हुआ हो पर निश्चय संख्या मे उसकी परिणति कला के मूर्त वैभव के रूप में चीन के कांसू प्रान्त के तुनहुआंग की ४६९ गुफाओं में हुई। और इन दोनों सीमाओं के बीच दोनों के दीपस्तम्भ की भाँति सुन्दर उद्देश्यपरक आकर्षक घटनाचक्रों से रूपायित अजन्ता की गुफाएँ थीं- सह्याद्रि की गिरिशृंखला में अवस्थित

चित्रों की संसारव्यापी प्रगति स्वयं अपने आयाम में अनुपम है। चीन प्रागैतिहासिक काल में वर्ण में रेखाएँ लिखता है, धातु पर आकृतियाँ टंकित करता है, और चर्म पर, दारु पर, रेशम पर चित्र अतिप्राचीन ऐतिहासिक युगों में उभार देता है। तभी उसे बौद्धधर्म का मन्त्र मिलता है और तुनहुआंग के दरीगृहों में अजन्ता की चित्रसंपदा सहसा कई गुनी होकर बरस पड़ती है। एक सम्मिलित प्रयास होता है और चित्र का आयाम चीनी चित्रलिपि की सीमाओं को लाँघ चलता है, पच्छिम की ओर, तुर्फ़ान की ओर, तुर्किस्तान-ईरान की ओर।

ईरानी-तुर्किस्तानी भूमि में चीनी कलम का, मंगोल स्पर्श का जादू उतर जाता है और शाहों के दरबारों की कलम मुगलों के माध्यम से दिल्ली और आगरे के चित्रफलकों की पृष्ठभूमि में लग चलती है। कला के, वर्ण और रेखा के नए अंकुर फूट पड़ते हैं, शबाहत एक नया राज लेकर हिन्दुस्तान के शबीहों के फ़न में उतरती है और संसार का सबसे नाजुक, सबसे सुकुमार मुगल कलम का प्रादुर्भाव होता है जिसकी रंगों की कोमलता में चीनी वर्ण का आभास होता है, केशों के सूक्ष्म आकलन मे मंगोल आभा मुखर होती है और जिन चित्रों के हाशियों में डिजाइनों या खुशखत की, चीनी-अरबी लिपि की चित्रसाजी अपनी खुशनुमा लकीरों से लिखी आकृतियों को घेर लेती है।

इन हाशियों का राज कहाँ से उठा? चीन की चित्रलिपि से। अल कूफ़ा के अक्षरों ने अरबी लिखावट के मैदान में खूबसूरती और लोच में अपना सानी नहीं रखा, पर दमिश्क और बगदाद के खलीफ़ों की दुनिया में किस तरह हरफ़ों की यह बारीकी नानकिंग और पीकिंग के आधार से उठकर रम गई, इसका भेद वह आसानी से समझ सकता है, जो वह दूसरा भेद भी जानता है कि जहाँ मुहम्मद के पैगाम को ईरान के सम्राटों ने, मिस्र के पिछले फ़राऊनों ने, पश्चिमी एशिया के शासकों ने, अस्वीकार कर अपने देशों को वर्बाद कर दिया वहाँ चीन के तांग सम्राट् ने उसका स्वागत करते हुए ऐलान किया—प्रकाश दक्खिन से आया, भारत से, जिसमें हम नहा रहे हैं, पनप रहे हैं, आने दो यह नया प्रकाश दूर पश्चिम से भी और बनाओ अपनी मस्जिदें जितनी ऊँची चाहो, जितनी बड़ी चाहो, चीन का आकाश अनन्त है, चीन की भूमि प्रशस्त है! और आज सम्भवतः चीन की मस्जिद इस्लाम की प्राचीनतम मस्जिद है।

सदियाँ गुजर गई और बौद्ध धर्म के ग्रन्थों को जन-जन तक पहुँचाने के लिए चीन ने लकड़ी का प्रेस बनाया, जिसका विकास कोरिया और जापान में हुआ, कागज बनाया और अरबों ने अफ़लातून और अरस्तू की यूनानी तथा गणित और चिकित्सा की भारतीय सम्पदा के साथ उसे मध्यकालीन यूरोप को सौंप दिया, जिससे पुनर्जागरण का युग ग्रीक-साहित्य के मुद्रित प्रकाश से बाइबिल के मुद्रित अनूदित प्रतीकों से, यूरोप में जगमगा उठा

और बाद एक दिन चीन और जापान के चित्रों की रागसम्पदा पेरिस जा पहुँची। वर्णों की हल्की रेखाओं की बारीकी तब यूरोपीय चितेरों ने जानी और उनकी क़लम में पूरब की वह व्यापक शैली सन्निहित हुई जो बाद में पेरिस के प्रभाववादी शैली का प्राण बन गई। 'इम्प्रेशनिज़्म' का राज यूरोप में चल गया।

कला की व्यापक प्रगति का, उसके अदृश्य सचरण का, परिवेश बड़ा है। किस प्रकार पिछले युगों की कला-शैलियाँ पेरिस के चित्रागारों से उठकर समुन्दर पार कर गईं, अमेरिका और भारत तक आ गईं, कैसे बीच-बीच में पेरिस के कुशल चितेरों ने ताहीती आदि पूर्वी देशों में जाकर वहाँ के उर्वर ताज़े मांसल जीवित माडलों से प्रेरणा ली, यह भी कला की व्यापकता की ही बात है, जिसका अध्याय स्वयं अत्यन्त रोचक है, चित्रशैलियों के अध्ययन और कला के इस विश्वव्यापी रूप का अलक्षित शिखर।

२४

चित्रकार क्या लिखे ?

गायक और कवि की ही भाँति चित्रकार भी सम्भवतः मानव जाति का प्राचीनतम कलाकार है। चित्रकार की कृतियाँ भी सभ्यता के शैशव से अति पूर्व रूपायित होने लगी थीं। चित्र वर्णरंजित रेखाओं में भाव का अंकन है। भाव मूर्त और अमूर्त दोनों हो सकते हैं, होते हैं। स्थूल और सूक्ष्म, मूर्त और अमूर्त की ही स्थिति विशेष प्रक्रियाएँ हैं। मूर्त अथवा स्थूल दृष्टिगम्य है और अमूर्त अथवा सूक्ष्म मानसगम्य।

परन्तु दोनों का रूपायन मानव मेधा की प्रसूति है, मानव मेधा जो राग, अनुभूति, अभ्यास और रोमांचक प्रवृत्ति को अपने फलक पर एकत्र करती है। चित्र कारिता जितना ही बाह्यप्रयत्न है उतना ही आभ्यन्तर। दृश्य वस्तु को अन्तर्भूत कर फिर से रूपायित करना चित्रकार का कार्य है। इससे वह बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रयत्न है। प्रकट का दर्शन और अप्रकट का प्रजनन दोनों ही कृति को सँवारते हैं। अत्यन्त आदिम काल में जब अभी सभ्यता का प्रायः पहला रूप .तक हमने न देखा था कलाकार ने चित्र का आलेखन आरम्भ कर दिया था। उत्तर और पूर्व प्रस्तर युग से बहुत पहले, सहस्राब्दियों पहले, जब मनुष्य समाज की संयुक्त इकाइयों से भी प्राय अभी अनभिज्ञ था, आत्मरक्षा में गोल बाँधकर जब वह फिरने लगा था, तभी उसने वर्ण में चित्रों का प्राथमिक अभ्यास कर लिया था।

आज से प्रायः पचीस हजार वर्ष पूर्व के स्पेन (अल्तामीरा) की गुफाओं में मनुष्य के बनाये आखेट के चित्र उसी आदिम मानव के हैं जिसने प्रकृति के जीवित और मृत स्थूल अवयवों को अपनी शलाका से एक नया जीवन दिया। ये चित्र जो साधारणतः आखेट के वन्य जन्तुओं के हैं बड़ी सफ़ाई से चट्टानों पर गेरू अथवा दूसरे रंगों से प्रस्तुत हुए हैं। अधिकतर चित्र भालुओं के हैं जिनके अवयव रेखाओं में बाँध-कर रंग से भर दिये गये हैं। इन सबके सम्बन्ध में एक विचित्र बात यह है कि जहाँ सारा शरीर वर्ण-चित्रित है वहाँ उसके कुछ भाग विशेषतः उँगलियाँ आदि केवल रेखांकित हैं, अर्थात् रेखाओं से उनकी आकृति तो खींच दी गई है परन्तु उनमें रंग नहीं भरा गया है। कुछ ऐसे चित्र भी हैं जो सर्वथा वर्ण-चित्रित हैं और वन्य जन्तुओं के उन चित्रित शरीरों पर बाण, भालों आदि की चोटों का निर्देश किया गया है। कुछ दूसरे ऐसे भी हैं जिनमें आखेट के पशुओं के साथ आखेटक मानव का भी चित्रण प्रस्तुत हुआ है

इन चित्रों से जहाँ अन्य निष्कर्ष निकलते हैं वहाँ विशेष अर्थ भी व्यक्त होते हैं

एक तो यह कि स्थूल का बहिरंग अपनी संज्ञा से खींचकर मनुष्य अपने अन्तर में धारण करता है फिर उसको विधाता की भाँति इच्छित भावना के कलेवर में ढाल चित्रित करता है ! इस प्रकार चित्रकला के ऊपर कहे बाह्य और आभ्यन्तर प्रयत्न सिद्ध होते हैं। स्थूल : कलाकारिता केवल यथातथ्य निरूपण है, सूक्ष्म और आभ्यन्तर प्रयत्न मनुष्य की स्वतन्त्र प्रजनक शक्ति का परिचायक है। यथातथ्यता कलाकार के लिए कच्ची सामग्री है और निरूपण—स्थूल से भिन्न कलाकार के मानस में उसकी भावनाओं से प्रेरित और नवांकन से प्रसूत—कला है। दूसरा अर्थ यह है कि आरम्भ से ही कला उद्देश्यपरक है। जिस मात्रा मे वन्य आखेटक अपनी दिनचर्या के क्रम मे अपनी अनुभूति से प्रसूत और आनन्दोल्लास से रोमांचित वह चित्र बनाता है उसी मात्रा मे, सम्भवतः उससे भी अधिक, इन चित्रों की प्रेरणा उसे अपनी अवश्यकताओं से मिलती है। जिन चित्रो मे वह अस्त्रधारी मनुष्यो द्वारा जानवरों का आखेट प्रदर्शित करता है जिनमे वह बाण, भालों की चोटों का जन्तु-शरीरों के ऊपर आलेखन करता है, उनको वह अपने अवकाश मे इतना मनोरंजन के लिए नहीं जितना आवश्यक अभ्यास के लिए चित्रित करता है। जहाँ शरीर के सारे अवयव, सिवा कुछ के, पूर्णतः वर्णचित्रित हैं, वहाँ केवल रेखांकित अंग भी इसी प्रकार एक उद्देश्य की ओर संकेत करते हैं। कलाकार-आखेटक चाहता है कि अंगों को वह दृष्टिगोचर कर ले जिनको आखेट में उसे सबसे पहले या विशेषतः अपना निशाना बनाना है। कुछ भी हो, इनसे एक बात तो नितान्त स्पष्ट है और वह यह है कि कलाकार अपने आखेट के लक्ष्य को वास्तविक जीवित रूप से अलग देखना और हृदयंगम करना चाहता है। क्यों ?

क्योंकि अनेक बार तो ये आखेट-जन्तु भीषण और विकराल होते हैं जिससे उनके सामीप्य से ही मनुष्य का हृदय त्रास से भर जाता है। प्रकृति ने इन जन्तुओं को अधिकतर अपनी रक्षा के साधन दिए हैं जो मनुष्य को प्रकृतितः उपलब्ध नही, यद्यपि जो उसकी मेधा में सन्निहित होते हैं। सो इन आपत्जनक जन्तुओं को समीप से बार-बार देखने से भय का शमन होता है, अप्रत्यक्ष और आभास भय के जनक हैं, प्रत्यक्ष और अभ्यास उसके नाश के साधन। उन चित्रों का कलाकार दर्शन के अभ्यास से जन्तु-जनित भय को दूर कर लेते हैं और चोटों के प्रदर्शन से आखेट में हस्तलाघव का अभ्यास। फिर तो लक्ष्य की प्राप्ति और हिंस्र आखेट का वध लब्धी मात्रा सिद्ध होते हैं। यह प्राथमिक चित्रकार का आलेख्य वस्तु का समाधिकरण है और उस दिशा में जिस मात्रा में वह कुशल समाधि है उसी मात्रा मे उसकी कला भी उन्नत और सफल और फलतः उसका आखेटोद्देश्य भी हस्तगत है।

इस समाधिकुशलता का व्यापक आलोचन सभ्य मानव ने अपनी दार्शनिक व्युत्पत्ति और कलात्मक निगमन में किया है। शुक्रनीति का आचार्य चित्रलेखन अथवा मूर्ति-निर्माण के पूर्व उसके आकार को पूर्णतः दृष्टिगोचर कर लेना अनिवार्य समझता है और इस दिशा में वह कलाकार को समाधिस्थ हो जाने का आदेश करता है उसकी धारणा है कि जब तक समाधिस्थ हो अपना आलेख्य वस्तु का

२४

चित्रकार क्या लिखे ?

गायक और कवि की ही भाँति चित्रकार भी सम्भवतः मानव जाति का प्राचीनतम कलाकार है। चित्रकार की कृतियाँ भी सभ्यता के शैशव से अति पूर्व रूपायित होने लगी थीं। चित्र वर्णरंजित रेखाओं में भाव का अंकन है। भाव मूर्त और अमूर्त दोनों हो सकते हैं, होते हैं। स्थूल और सूक्ष्म, मूर्त और अमूर्त की ही स्थिति विशेष प्रक्रियाएँ हैं। मूर्त अथवा स्थूल दृष्टिगम्य है और अमूर्त अथवा सूक्ष्म मानसगम्य।

परन्तु दोनों का रूपायन मानव मेधा की प्रसूति है, मानव मेधा जो सज्ञा, अनुभूति, अभ्यास और रोमांचक प्रवृत्ति को अपने फलक पर एकत्र करती है। चित्र कारिता जितना ही बाह्यप्रयत्न है उतना ही आभ्यन्तर। दृश्य वस्तु को अन्तर्भूत कर फिर से रूपायित करना चित्रकार का कार्य है। इससे वह बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रयत्न है। प्रकट का दर्शन और अप्रकट का प्रजनन दोनों ही कृति को सँवारते हैं। अत्यन्त आदिम काल में जब अभी सभ्यता का प्रायः पहला रूप तक हमने न देखा था कलाकार ने चित्र का आलेखन आरम्भ कर दिया था। उत्तर और पूर्व प्रस्तर युग से बहुत पहले, सहस्राब्दियों पहले, जब मनुष्य समाज की संयुक्त इकाइयों से भी प्राय अभी अनभिज्ञ था, आत्मरक्षा में गोल बाँधकर जब वह फिरने लगा था, तभी उसने वर्ण में चित्रों का प्राथमिक अभ्यास कर लिया था।

आज से प्रायः पचीस हजार वर्ष पूर्व के स्पेन (अल्तामीरा) की गुफाओं में मनुष्य के बनाये आखेट के चित्र उसी आदिम मानव के हैं जिसने प्रकृति के जीवित और मृत स्थूल अवयवों को अपनी शलाका से एक नया जीवन दिया। ये चित्र जो साधारणतः आखेट के वन्य जन्तुओं के हैं बड़ी सफ़ाई से चट्टानों पर गेरू अथवा दूसरे रंगों से प्रस्तुत हुए हैं। अधिकतर चित्र भालुओं के हैं जिनके अवयव रेखाओं में बाँध-कर रंग से भर दिये गये हैं। इन सबके सम्बन्ध में एक विचित्र बात यह है कि जहाँ सारा शरीर वर्ण-चित्रित है वहाँ उसके कुछ भाग विशेषतः उँगलियाँ आदि केवल रेखांकित हैं, अर्थात् रेखाओं से उनकी आकृति तो खींच दी गई है परन्तु उनमें रंग नहीं भरा गया है। कुछ ऐसे चित्र भी हैं जो सर्वथा वर्ण-चित्रित हैं और वन्य जन्तुओं के उन चित्रित शरीरों पर बाण, भालों आदि की चोटों का निर्देश किया गया है। कुछ दूसरे ऐसे भी हैं जिनमें आखेट के पशुओं के साथ आखेटक मानव का भी चित्रण प्रस्तुत हुआ है।

इन चित्रों से जहाँ अन्य निष्कर्ष निकलते हैं वहाँ विशेष अर्थ भी व्यक्त होते हैं

एक तो यह कि स्थूल का बहिरंग अपनी संज्ञा से खींचकर मनुष्य अपने अन्तर में धारण करता है फिर उसको विधाता की भाँति इच्छित भावना के कलेवर में ढाल चित्रित करता है। इस प्रकार चित्रकला के ऊपर कहे बाह्य और आभ्यन्तर प्रयत्न सिद्ध होते हैं। स्थूल कलाकारिता केवल यथातथ्य निरूपण है, सूक्ष्म और आभ्यन्तर प्रयत्न मनुष्य की स्वतन्त्र प्रजनक शक्ति का परिचायक है। यथातथ्यता कलाकार के लिए कच्ची सामग्री है और निरूपण—स्थूल से भिन्न कलाकार के मानस में उसकी भावनाओं से प्रेरित और नवाकलन से प्रसूत—कला है। दूसरा अर्थ यह है कि आरम्भ से ही कला उद्देश्यपरक है। जिस मात्रा में वन्य आखेटक अपनी दिनचर्या के क्रम से अपनी अनुभूति से प्रसूत और आनन्दोल्लास से रोमांचित यह चित्र बनाता है उसी मात्रा में, सम्भवतः उससे भी अधिक, इन चित्रों की प्रेरणा उसे अपनी अवश्यकताओं से मिलती है। जिन चित्रों में वह अस्त्रधारी मनुष्यों द्वारा जानवरों का आखेट प्रदर्शित करता है जिनमें वह बाण, भालों की चोटों का जन्तु-शरीरों के ऊपर आलेखन करता है, उनको वह अपने अवकाश में इतना मनोरंजन के लिए नहीं जितना आवश्यक अभ्यास के लिए चित्रित करता है। जहाँ शरीर के सारे अवयव, सिवा कुछ के, पूर्णतः वर्णचित्रित हैं, वहाँ केवल रेखांकित अंग भी इसी प्रकार एक उद्देश्य की ओर संकेत करते हैं। कलाकार-आखेटक चाहता है कि अंगों को वह दृष्टिगोचर कर ले जिनको आखेट में उसे सबसे पहले या विशेषतः अपना निशाना बनाना है। कुछ भी हो, इनसे एक बात तो नितान्त स्पष्ट है और वह यह है कि कलाकार अपने आखेट के लक्ष्य को वास्तविक जीवित रूप से अलग देखना और हृदयंगम करना चाहता है। क्यों ?

क्योंकि अनेक बार तो ये आखेट-जन्तु भीषण और विकराल होते हैं जिससे उनके सामीप्य से ही मनुष्य का हृदय त्रास से भर जाता है। प्रकृति ने इन जन्तुओं को अधिकतर अपनी रक्षा के साधन दिए हैं जो मनुष्य को प्रकृतितः उपलब्ध नहीं, यद्यपि जो उसकी मेधा में सन्निहित होते हैं। सो इन आपत्जनक जन्तुओं को समीप से बार-बार देखने से भय का शमन होता है, अप्रत्यक्ष और अनाभास भय के जनक हैं, प्रत्यक्ष और अभ्यास उसके नाश के साधन। उन चित्रों का कलाकार दर्शन के अभ्यास से जन्तु-जनित भय को दूर कर लेते हैं और चोटों के प्रदर्शन से आखेट में हस्तलाघव का अभ्यास। फिर तो लक्ष्य की प्राप्ति और हिंस्र आखेट का वध लब्धी मात्रा सिद्ध होते हैं। यह प्राथमिक चित्रकार का आलेख्य वस्तु का समाधिकरण है और उस दिशा में जिस मात्रा में वह कुशल समाधि है उसी मात्रा में उसकी कला भी उन्नत और सफल और फलतः उसका आखेटोद्देश्य भी हस्तगत है।

इस समाधिकुशलता का व्यापक आलोचन सभ्य मानव ने अपनी दार्शनिक व्युत्पत्ति और कलात्मक निगमन में किया है। शुक्रनीति का आचार्य चित्रलेखन अथवा मूर्ति-निर्माण के पूर्व उसके आकार को पूर्णतः दृष्टिगोचर कर लेना अनिवार्य समझता है और इस दिशा में वह कलाकार को समाधिस्थ हो जाने का आदेश करता है उसकी धारणा है कि जब तक समाधिस्थ हो   अपनी आलेख्य वस्तु का

हृदयंगम न कर लेगा तब तक उसकी कला पूरी न उतरेगी क्योंकि शिथिल समाधि का दोषी अपूर्ण मात्रा में ही कलाकृति का सृजन कर सकता है। इस विधान का प्रयोग कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' में किया है। अग्निमित्र चित्रलिखित मालविका को देख चित्रादर्श पर अविश्वास करता है, परन्तु वही जब मालविका को प्रत्यक्ष देखता है है तब उसे चित्रकार की कलाकुशलता में सन्देह हो आता है और वह उसे 'शिथिल समाधिका दोषी' कहता है। इस प्रकार आदिम मानव की प्रयोग-प्रक्रिया शास्त्र ने सिद्धान्त का रूप धारण करती है।

कालान्तर मे मानव जाति अपनी विविध शाखाओं में फूटती और देश-विशेष बँटती गई है। इस अपने वास, निवास, प्रवास और उपनिवेशीकरण के क्रम मे उसने अपने शरीर, मानस और भावनाओं तक को प्रभावित किया है। उसी प्रभाव के सिलसिले में उसकी तरल पृष्ठभूमि पर स्थूल और सूक्ष्म अनन्त चित्र अंकित हुए है। वास्तव में यह अंकन अकृत्रिम छाया का वह अनन्त प्रसार है जो उसके निरन्तर के भ्रमण ने मनुष्य पर डाली है। यही छाया प्रेरणा के रूप में अनेक बार उसके मानस पर, दृष्टि पर, छा जाती है और उसे फिर-फिर अनेक रूपों मे व्यक्त करने के लिए मानव उद्विग्न हो उठता है। यही उसकी कला, जो स्वतः प्रवर्तित कम और प्रक्षित अधिक है, उसके मूर्तन की जननी है, उसकी कला की प्रेरणा।

घुमक्कड़ मानव जातियाँ अपने भ्रमण के क्रम में देश-प्रदेश में बस जाती है। भ्रमण-क्रम मे उसके हृदय फलक पर आलिखित चेतनाएँ, उसकी कला प्रेरणा की निधि सिद्ध होती हैं जिनके ऊपर वह अपनी स्थिति-विशेष का भाव-वितान तानती है। स्थिति-विशेष देशविशेष की भौगोलिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक और दार्शनिक मान्यताएँ है जिनमें वह आकार धारण करती है। उसका कलाकार स्वयं इन सारी परिस्थितियों का उतना ही परिणाम है जितनी उसकी कला उसका व्यक्तिगत परिणाम है। वास्तव में तो व्यक्ति उन परिस्थितियों का वाहक मात्र है। परन्तु वहन की भी कितनी सीमाएँ और कितने प्रकार हैं ? माता जिस प्रकार गर्भ धारण कर भ्रूण को अपनी सारी स्नायुओं द्वारा, अपने सारे रसों से सींचती है और उसे अपने अवयव या कलेवर देती है, उसी प्रकार कलाकार प्रकृति से अपने उपादान खींचकर उन्हें हृदयंगम कर अपनी आकृति में अपने भावों के स्पन्दित अन्तराल मे डाल, अपने साँचे मे ढाल, मूर्तिमान् कर देता है।

यह परिस्थितियों की पकड़ कलाकार पर इतनी गहरी होती है कि वह अधिक से अधिक मात्रा में उनका वाहक मात्र सिद्ध होता है। यही इसका भी कारण है कि दो कलाकार सदियों पार कैसे अनेक बार एक ही वस्तु को एक-सा ही रूप और प्राण देते है। कारण यह है कि आक्रमण, सांस्कृतिक प्रक्षेपण आदि ऊपरी रूप को तो निश्चय छूते हैं, अनेक बार गहराई तक भी प्रवेश कर जाते हैं, परन्तु स्थानीयता के कलागत परिमाणों में वे भी विशेष और कल्पनातीत परिवर्तन नहीं कर पाते इसी कारण देश-देश की देश देश की कला प्रसवक अनुभति, देश देश की प्रेरणा अलग

अलग होती है। परन्तु इसी कारण देशविशेष के कलाकारों में एक समान भावना, समान प्रेरणा, समान आलेखन और निरूपण की स्थिति भी उत्पन्न हो जाती है। व्यक्ति रूप में वे चाहे जितने भिन्न हों, अपनी चेतना, राग-विराग में वे चाहे जितने विषम हों परन्तु एक ही आकाश के नीचे, एक ही धरणी के ऊपर, एक ही वृत्ताकार क्षितिज के बीच समान प्रकृति की छाया में जो वे साँस लेते हैं और उनके निरन्तर बनते बिगड़ते चित्र दृष्टिगोचर करते हैं तो उनकी अभिव्यक्ति भी साधारणतः समान हो जाती है। पर्वत और नद, झील और निर्झर, वन और खेत, गिरिपद और उपत्यका उन्हें प्रायः समान रूप से प्रभावित करती हैं जिनको वे प्रतिबिम्ब रूप से धारण कर अपनी विधि से फिर से अंकित कर देते हैं।

इससे एक दूसरी स्थिति का भी उदय होता है, वह है कला में सांकेतिकता का प्रादुर्भाव। जिस प्रकार काव्यालङ्कार में ध्वनि और दर्शन-साहित्य में सूत्र का उदय होता है उसी प्रकार कला में भी सांकेतिकता का कालान्तर में आविर्भाव होता है। भावों का अतिवेग शब्दाभाव का कारण बन जाता है। इसी कारण अव्यक्त की मात्रा व्यक्त से कहीं व्यापक है। उस वेग अथवा भावानन्तता की परिधि को अनेक बार हम शब्दाभाव में केवल संकेत द्वारा अथवा स्फुट वाणी में केवल ध्वनि या नितान्त न्यून शब्दों में व्यक्त करते हैं। यही साहित्य का सूत्रवाद अथवा कला का संकेतवाद है। तब कला लक्षण अथवा संकेत से ही समझी जाती है। कलाकार सदियों पहले होता है और उसका आलोचक अथवा सहृदय सदियों बाद; परन्तु कला की समझ में लक्षण अथवा संकेत के भाव से कठिनाई नहीं पड़ती। तब उसका अभाव ही कला की दुरूहता में कारण हो जाती है।

कला का विकास भी कभी-कभी वह स्थिति उत्पन्न कर देता है जब हम उसे सांकेतिक रूप से ही समझ पाते हैं क्योंकि वह लाक्षणिक रूप से ही अभिव्यञ्जित भी है, कला का इतिहास इसे सिद्ध करता है कि उसका अद्यावधि चरम विकास चरम लाक्षणिकता का भी उत्पादक है। यह स्थिति क्या प्राचीनों, क्या पिकासो सदृश अर्वाचीनो दोनों में प्रायः समान रूप से प्रदर्शित है, परन्तु यही कला की संवेदना-शक्ति को भी सीमित कर देता है। जिस प्रकार भावाभिव्यक्ति शब्द की अर्थगम्यता पर निर्भर करती है उसी प्रकार कला भी अपने माध्यम से भाव का वहन करती है और भाषा की दुरूहता जिस मात्रा में भाव की अभिव्यक्ति में बाधक सिद्ध होती है, कला की सांकेतिक अभिव्यञ्जना भी उसी मात्रा में राहुल प्रमाणित होती है। यही आन्तरिक विरोध कला के चरम उत्कर्ष का साधक भी है क्योंकि यही उसकी द्वन्द्वात्मिकता है।

परन्तु कला की अभिव्यक्ति, चित्ररेखांकन यदि भाव की संवेदना का कारण अथवा प्रेरणा का संवाहक है, आलेख्य के माध्यम से चित्रकार और आलोचक अथवा दर्शक के बीच समानधर्मिता स्थापित करता है तब निश्चय ही उसकी व्यापकता की मात्रा उसके माध्यम के भाव अथवा दृष्टिगम्यता पर निर्भर होना चाहिए। अर्थात् चित्रकार की भाव-चेतना अपने रेखांकनों द्वारा यदि अपने दर्शक को समान दृष्टि से

प्रभावित न कर सकी तब उसके अप्रकाशन और अंकन में कोई अन्तर नहीं। कालिदास ने एक स्थल पर रूपमण्डन, प्रसाधन और अलंकरण को दर्शन से सफल होना कहा है— 'प्रियालोकफलो हि वेशः'। यह सूत्र जितना प्रेम के पक्ष में सार्थक है उतना ही साहित्य और कला के पक्ष में भी है। जिस प्रकार रूप-मण्डन की सफलता उसके प्रियावलोकन में है, जिस प्रकार साहित्य की सार्थकता उसके मधुरास्वादन में है, उसी प्रकार कला की सार्थकता उसकी भावगम्यता में है और जिस प्रकार पहले दोनों की सफलता उनके माध्यमों की सुगमता में है उसी प्रकार कला की सार्थकता भी उसके माध्यम की सरलता में है। यह सही है कि साहित्य और कला दोनों में सूक्ष्मता, स्थल-विशेष में कुछ ग्रन्थियाँ डाली जाती हैं जिसे भावुक और आलोचक अपनी बुद्धि के अनुकूल खोलता है, और जैसे-जैसे ये ग्रन्थियाँ खुलती जाती हैं वैसे ही वैसे साहित्य और कला के उन स्थलों से आनन्द के स्रोत फूटते जाते हैं, परन्तु यह साहित्य और कला का अभिजातीय रूप है, और उसकी व्यापकता का मान निश्चय उसकी अभिजातीयता नहीं। वह है उसका साधारणीकरण।

कला में जो आत्मनिवेदन, लोकसंग्रह और कल्याण की भावना होती है उसकी सार्थकता उसकी व्याप्ति और परिणामतः बोधगम्यता या साधारणीकरण में ही है। इसी कारण लोककल्याण के अर्थ में वह कला अधिकतर सावधि अभिप्रायों पर ही आधारित रही है, यद्यपि इस 'सावधि' की परिधि निश्चय अनेक बार तीन-तीन, चार-चार सदियों तक रही है। इस परिधि का ऐतिहासिक युगों से विशेष सम्पर्क है। आधुनिक जगत् ने उत्पादन के साधनों के कारण अपनी गति में अत्यन्त तीव्रता धारण कर ली है। इस कारण कम से कम समय में लम्बी से लम्बी मंजिलें तय हुई हैं, इसी कारण कला के प्रयोगों में भी अभिप्रायों (motif) की सद्यःनवीनता और सतत विचित्रता सामान्य हो गई। परन्तु अतीत में समाज के विलम्बित परिवर्तनों के कारण जब गति में शिथिलता रहती थी निश्चय तब उस अवधि की परिधि अपेक्षाकृत व्यापक हो जाती थी। यही कारण है कि जहाँ कुछ ही दशाब्दियों में आज के संसार में 'क्यूबीज़्म' से लेकर 'सिम्बोलीज़्म' (सांकेतिक निरूपण) तक अनेक प्रयोग स्वतन्त्र कलाशैलियों के रूप धारण कर चुके हैं वहाँ प्राचीन काल में शैलियों की विविधता हमें विशेषतः आकृष्ट नहीं करती। यही कारण है कि सिगिरिया, सितन्नवसल, अजन्ता, और बाघ के चित्रणों में कोई विशेष लाक्षणिक अथवा रूपायन के अन्तर नहीं और उनका काल-विस्तार भी, अनेक बार तो स्वयं एकस्थ गुफाओं के भित्ति-चित्रों तक में, इस दिशा में कोई विकृति नहीं उत्पन्न करता। फिर भी साधारणतः चित्र भाव की प्रेरणा में वेष-विन्यास और संकेत में अधिकतर सावधि हैं।

पिछले हिन्दू मध्य-काल (नवीं से बारहवीं ईस्वी सदी) में भित्ति-चित्रण अथवा साधारण चित्रकला का काफ़ी ह्रास हुआ है। उसकी सामाजिक चेतना अथवा सामाजिक प्रेरणा विनष्ट हो गई है। परिणाम यह हुआ है कि हम उसे सार्वजनिक पृष्ठ से दूर हटी हुई पाते हैं बहुत कम प्राय नहीं के बराबर, हम उसे सार्वजनिक प्रसंगों के साथ

रूप में देखते हैं। अब उनकी रूप-रेखा विशेषतः हस्तलिपियों और जैन-निमग्रणों में अधिकतर खिलती है और जन-साधारण को अपने कृतित्व अथवा सन्देश से प्रभावित नहीं करती। यह सही है कि इन पुस्तकों में जब-तब उनका सुन्दर आलेखन मिल जाता है परन्तु वस्तुतः वे एक संकेत मात्र को अथवा स्थलविशेष को अभिव्यक्ति करते हैं। उनके सूक्ष्म कृतित्व और आकृति-सौन्दर्य प्रायः सर्वथा विनष्ट हो चुके हैं।

हाँ, इसी काल भारत में एक नई दिशा में चित्रलेखन का विकास होता है। साहित्य और कला में अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है, एक के विकास से अथवा उसके विशेष दृष्टिकोण से दूसरे का प्रभावित होना न केवल अत्यन्त सम्भव है वरन् पूर्णतः स्वाभाविक है। इस मध्यकालीन भारतीयता ने सामन्तों और माण्डलीकों के दरबार में साहित्यिकों को एक नई, अनेकांश में दूषित सी, चेतना दी। स्थूल और पिण्ड की पूजा इस काल विशेष रूप से सम्पन्न हुई। साहित्य ने अपभ्रंश में अपना विशेष और 'रीतिपूर्ण' रूप धारण किया। जिस धारा की पराकाष्ठा सदियों बाद हिन्दी में बिहारी आदि ने की, उसका एक रूप अभी से बन चला था। ऐसा नहीं कि सामन्तवर्ग की छाया में फूलने-फलनेवाला साहित्य संस्कृत में अनजाना था, बल्कि नई भावनाओं, संस्कृतियों और जातियों के आक्रमण से जो यहाँ की स्थिति-विशेष में परिवर्तन हुए उनके फलस्वरूप साहित्य ने भी, भाषा के विकास और उसकी शैली ने भी, एक नया रूप धारण किया। रीतिकाल का पूर्वगामी रूप इसी काल के नये साँचे में ढला और उसी के अनुरूप चित्रलेखन भी सम्पन्न हुआ। चीन के सम्पर्क ने भारत को कागज़ का कुछ प्रयोग दिया, यद्यपि उसका विशेष प्रयोग अभी ताल-पत्रादि के कारण न हो पाता था। राजपूत राजघरानों ने कुछ ही बाद एक नवीन चित्र-शैली को जन्म दिया। यह शैली राजपूत कलम अथवा राजस्थानी के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसका एक दूसरा सुन्दर रूप रागिनी-मालाओं में निखरा। प्रवाहित भाव स्रोत को, निनादित वाद्य और मुखरित पद्य की ध्वनि को वर्ण और रेखाओं में चित्रकार ने बाँधा। सूक्ष्म को स्थूल रूप देने अथवा कर्णेन्द्रिय से अनुभूत ध्वनि को दृष्टिगम्य रेखाओं में रूपायित करने का यह प्रयास भारत का सर्वथा अपना था, संसार में नितान्त एकाकी।

इस प्रयत्न के पीछे भी शायद एक सामाजिक चेतना देखी जा सकती है। यह भी एक सामाजिक द्वन्द्वात्मिकता का परिचायक है कि जहाँ राजपूतों ने पराक्रम के क्षेत्र में अपना साका चलाया वहाँ पिण्ड की अर्चना की भी पराकाष्ठा कर दी। कादम्बरी का सेवन केवल राजपूत राज और अनेक प्रभु ठाकुरों के युद्ध क्षेत्र तक ही सीमित न था वरन् उसका व्यवहार अपरिमित मात्रा में दरबारों में भी होने लगा था। राजपूत जातियों का निर्माण जिन जातियों के सम्मिश्रण से हुआ था उनकी सारी सामाजिक चेतना मदिरा के सेवन से गतिमान थी। पार्थिव और स्थूल की चेष्टाएँ इतनी व्यापक आकार धारण कर चुकी थीं कि केवल नाद तरंग का कर्णगत आनन्द पर्याप्त न माना गया और उसे नेत्रगत करने का भी प्रयास आरम्भ हुआ। सूक्ष्म को स्थूल कर, अरूप को दृश्यकर नेत्रत देख लेने का यह प्रयास चित्रकला के संसार में नितान्त अकेला

है। रागों और रागिनियों का आलेखन इस प्रकार जिस शैली में हुआ वह रागिनी चित्रण कहलाया।

इसी बीच मध्य एशिया से तुर्कों, पठानों और मुगलों की जन धाराएँ भारतीय समाज में प्रविष्ट होने लगी थीं, धीरे-धीरे उन्होंने अपनी चेतनाएँ भी कला के क्षेत्र में रेखांकित कीं और उनका चरम विकास मुगलों की संरक्षा में हुआ। यह नई शैली जो चित्र क्षेत्र में उद्भूत हुई वह मुगल कलम के नाम से प्रसिद्ध हुई। अत्यन्त सुकुमार रेखांकन, आकृति का कमनीय रूपायन संकेत के अभाव में भावों का प्रकृत मूर्तन अद्यावधि अनजानी शक्ति से भारत के कलाक्षेत्र में अद्भुत ओज से उठ खड़े हुए जिनकी सम्मोहक, रोमांचक प्रवृत्ति पूर्व पर के सारे प्रतीकों को निरस्त कर गई।

इसी काल और पिछले युगों में कला में उस चित्रशैली का प्रादुर्भाव हुआ जिसे कांगड़ा या पहाड़ी कलम कहते हैं। सहज और कमनीय, किसी अंश में संकेत से भी अनुप्राणित, परन्तु आकृति की सतत एकता से आलोकित यह शैली अनेक लोगों को अति प्रिय लगी। पिछले मुगल चित्र और पहाड़ी कलम का कालस्तर पिछली सदी के मध्यकाल को छू गया जिसके बाद इस देश के कलाक्षेत्र में घनी हेयता का आरम्भ हुआ। यह कला का अभाव, नई प्रवृत्तियों का अभाव मध्य हिन्दू काल से भी बढ़कर था। इसकी शून्यता में प्रायः कहीं विकार न था।

बीसवीं सदी के आरम्भ में जो सामाजिक चेतना उठी उसमें सबसे महत्त्वपूर्ण अतीत के पुनरावर्तन की हुई। यद्यपि इसके पहले ही ग्राम और लोकचित्रण का सूत्र आरम्भ हो गया था—लोक चित्रण का शृंखलाबद्ध प्रसार अत्यन्त प्राचीन काल से चला जो अर्वाचीन के नये दृष्टिकोण में नई सामाजिकता के साथ उदित हुआ—परन्तु उसकी ओर इस देश के कलामर्मज्ञों का ध्यान न खिंचा। अजन्ता आदि के दरीगृहों के भित्तिचित्रों का पिछली सदी के पिछले चरण में ही दर्शन हो चुका था और उसकी नकल के प्रदर्शन ने यूरोप के कलाधुरीणों को छू लिया था। भारत में बीसवीं सदी के आरम्भ से ही सामाजिक जीवन कई कारणों से प्रबल वेग से राजनीति के क्षेत्र में उतरा जा रहा था, राष्ट्रीयता की भावना अनेक आन्दोलनों से देश में जग उठी थी और इस राष्ट्रीयता ने जब अपनी प्राचीन संस्कृति और गौरव के नाम पर पश्चिमी संसार की वर्तमान सभ्यता को चुनौती दी तब निश्चय अतीत के आँकड़ों का फिर से सिंहावलोकन हुआ। जैसे प्राचीन भारतीय इतिहास के कालस्तरों का पुनरालोचन युक्तिसम्मत हुआ वैसे ही कला के क्षेत्र में अजन्ता आदि की शैली का प्रादुर्भाव भी स्वाभाविक था। चित्रकला के क्षेत्र में भी एक प्रकार की राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव हुआ जिसको विकसित करने का श्रेय ई० बी० हैवेल और अवनीन्द्रनाथ टैगोर को है। इस शैली ने बंगाल के चित्रकारों को विशेष प्रभावित किया। बम्बई और मालाबार आदि में यूरोपीय और भारतीय शैलियों के मिश्रण से सम्भूत एक संकर आकृतिप्रिय शैली रूप धारण कर चुकी थी और यद्यपि बंगाल का वह कला आन्दोलन भारत

स्थानी रूप धारण कर रहा था, पश्चिमी भारत की इस संकर शैली पर उसका विशेष प्रभाव न पड़ा ।

अवनीन्द्रनाथ टैगोर और उनके शिष्यों ने इस दिशा में काफ़ी ख्याति पाई । इनमें नन्दलाल बोस, मुकुल दे, असितकुमार हल्दार आदि ने प्राचीन चित्रकला के पुनर्जीवन में काफ़ी भाग लिया । ऐसा नहीं कि उन्होंने अपनी कृतियों का विषय सदा प्राचीन ही रखा हो पर निश्चय उनकी चित्रशैली प्राचीन ही बनी रही। अजन्ता आदि के भित्ति-चित्र किसी न किसी रूप में उनके वर्णाकनों में साँस लेते रहे ।

गुजरात में भी किसी न किसी मात्रा में इस अतीत प्रेम ने चित्रकारों पर अपना जादू डाला और श्री रविशंकर रावल ने प्राचीन और अर्वाचीन दोनों के प्रति अपनी श्रद्धा प्रदर्शित की । गुजरात के कानू देसाई और बंगाल के जामिनी राय ने देहात की ओर भी अपनी दृष्टि फेरी और ग्राम तथा ग्रामीणों को भी अपनी तूलिका का विषय बनाया । जामिनी राय तो इस दिशा में नितान्त असाधारण हैं । ग्राम और साधारण जनों के जो पैटर्न उन्होंने प्रस्तुत किये हैं वे निश्चय भारतीय चित्रकला के क्षेत्र में एक नया क़दम है ।

सावधि वर्तमान और उसके विविध सामाजिक पहलुओं की ओर भारतीय चित्रकार का ध्यान स्वर्गीया अमृत शेरगिल ने अर्पित किया । अमृत शेरगिल असाधारण प्रतिभासम्पन्न तरुणी थीं जिनको अभाग्यवश काल ने अकाल कवलित कर लिया । जीवन के कष्ट का लोमहर्षण और दिल को हिला देने वाले प्रसंगों को उन्होंने अपनी शलाका से शरीरी किया । वास्तव में भारतीय चित्रणक्षेत्र में पहली बार अभिजात और अलौकिक की दिशा की ओर पीठ फेर कर चित्रकार ने साधारण और लौकिक को अपना स्तुत्य बनाया ।

इस दिशा में कुछ और प्रयत्न भी इधर होने लगे हैं । अति प्राचीन काल से दरबारी कलम के साथ ही साथ ग्राम-शैली में चित्रण होता आया था । ग्राम-शैली ने भी इधर कुछ काल से एक नया जीवन धारण किया है । यद्यपि इस दिशा में कुशल चित्रकारों की संख्या नितान्त न्यून और परिमित है निःसन्देह इसमें कुछ चित्रकारों ने अच्छी सफलता पाई है । भूरसिंह शेखावत का नाम इस प्रसंग में विशेष उल्लेखनीय है । इन्होंने राजस्थान के जीवन के अनेक दृश्यों का सफल चित्रण किया है । इनके चित्रणों में साग-भाजी बेचने वाली, पनघट पर जल भरने वाली और अन्य निम्न-वर्गीया नारियों का चित्रण अत्यन्त प्रशस्य हुआ है ।

परन्तु इस विस्तृत देश में भला चित्रनिषयक प्रसंगों की कमी क्यों होनी चाहिए । सारा देश कुछ काल से अनेक असाधारण स्थितियों से होकर गुज़रा है, आज भी उसी प्रकार गुज़र रहा है, परन्तु हमारे अनेक चित्रकार उसी पुरानी भोंड़ी पद्धति से अपनी शलाका चला रहे हैं । आज के चित्रकारों में अधिकतर ऐसे हैं जो सस्ते रोमांचक प्रसंगों को ही अपना विषय मान सन्तुष्ट हैं । कुछ मुगल कलम की सफल-असफल नकल में लगे हैं और हम जानते हैं कि नकल मूल से बाज़ी नहीं ले जा सकती । वास्तव में

आवश्यकता इस बात की है कि आज की हमारी स्थिति में कलाकार भी हमारे प्रयत्नों मे सहायक बने। जीवन निश्चय अतीत का नहीं वर्तमान का है। अतीत महत्वपूर्ण है, इतना महत्वपूर्ण कि वर्तमान को भी अधिकतर हम उसी के आधार से समझ सकते हैं, फिर भी अंकन वर्तमान का होना चाहिए, अतीत का नहीं। फिर अतीत में चित्रांकन की कमी नहीं क्योंकि अजन्ता आदि की एक अक्षय निधि हमारे पास है और स्वयं उन कलाकारों ने अपने प्रायः सावधि वर्तमान का चित्रण किया है। हम न तो बाघ, सिगिरिया, सित्तन्नवसल और अजन्ता के अमर कलाकारों को पराजित कर सकते हैं और न ऐसा करने का प्रयत्न ही कोई अर्थ रखता है। जीवन अपनी अनन्त प्रवृत्तियों के साथ, अपनी कठिनाइयों और पेचीदगियों के साथ प्रवाहित हो रहा है। उसके प्रवाह का एक-एक अंग चित्रकार के लम्बकूर्च को धन्य कर सकता है और इस दिशा में तथ्य को न समझ सकना भारतीय कला की विडम्बना है।

ऊपर देश की आधुनिक विषमता की ओर एक दबा संकेत किया जा चुका है। उसको विशेषतः प्रत्यक्ष करने की आवश्यकता है। पिछली दशाब्दियों में हमारे देश में जीवन अत्यन्त असाधारण वेग से प्रवाहित हुआ है। उसमें संघर्ष और जन्मसिद्ध अधिकारों की प्राप्ति के लिए अनवरत युद्ध का योग रहा है परन्तु हमारा चित्रकार उस ओर से उदासीन ही रहा है। वर्तमान अर्धशताब्दी में इस देश और विदेशों में घटनाओं के कुचक्र चलते रहे हैं, ऐसी घटनाओं के जिनका महत्त्व मनुष्य जाति के इतिहास में असामान्य है। स्वयं भारत में इनकी असाधारणता अनेक प्रकार से प्रामाणित है। इस देश में पिछली दशाब्दियों में राजनीति में जनता ने जो भगीरथ प्रयत्न किये हैं उनके अंकन से किसी कलाकार की कृति अमर हो सकती है। बंग-भंग, स्वदेशी आन्दोलन, जलियाँवाला बाग, सन् २१ के असहयोग आन्दोलन के अनेक स्थल, चौरीचौरा हत्या-काण्ड, काकोरी के वीरों की फाँसियाँ, बारदोली संग्राम, दण्डी-मार्च, सन् ४२ का संघर्ष, कलकत्ते, नोआखाली और पंजाब के लोमहर्षक साम्प्रदायिक दंगे, गाँधी का नोआ-खाली की भयानक और खतरनाक भूमि पर निर्भीक तपस्वी-सा घूमना, गाँधी की हत्या आदि अनन्त ऐसे विषय हैं जिनमें से एक-एक का चित्रण कलाकार को अमर ख्याति प्रदान कर सकता है। किसी भी राष्ट्र के इतिहास में इन अंकनों की असाधारण शक्ति और मूल्य होगा। काश हमारे चित्रकार इस दिशा मे प्रयत्नशील होते!

विदेशों में साधारण से साधारण नेताओं के युग-प्रसिद्ध अमर चित्र बने हुए हैं परन्तु खेद कि इस देश मे यद्यपि असाधारण विभूतियों का इन दशाब्दियों में प्रादुर्भाव और संघर्ष हुआ है, हमारे पास उनका एक भी ऐसा स्केच या चित्र नहीं, जिसपर हम गर्व कर सकें। उस महापुरुष गाँधी तक का हमारे पास सही चित्र नहीं जिसने मानव जाति के स्वत्वों की रक्षा के लिए इतिहास में सबसे महान्, सबसे चमत्कारी और निरस्त्र सफल प्रयास किये हैं। जिस भारतीय चित्रकार ने अपने अंकन को इस महा-विभूति की जीवन घटनाओं से पवित्र न किया उसकी शलाका, तूलिका और लम्बकूर्च निश्चय निरर्थक हैं

यह तो है संकेत उन घटनाओं के प्रति जो ओजस्वी और विराट हैं। उनका अंकन तो महान् और साधारण दोनों प्रकार के कलाकार सफलतापूर्वक कर सकते है, परन्तु इनके अतिरिक्त ऐसे भी सख्यातीत प्रसंग हैं जिनपर एक दूसरी दिशा में चित्रण हो सकता है। भारतीय चित्रकार ने सदा से गम्भीर विषय तत्त्व की ही उपासना की है। हमने वह चमत्कार न जाना जो व्यंग्य द्वारा कलाकार प्रस्तुत कर सकता है। निश्चय व्यंग्य चित्र आज के हैं। परन्तु इस दिशा मे भी एकाध को छोड़कर कम ही चित्रकार संयत है। सामाजिक समस्याओं का जितना विद्रूप तथा व्यंग्य चित्र खोलकर रखते हैं उतना गम्भीर नहीं। और आज का हमारा समाज, जो विवाह की दिशा से लेकर अछूत और चोरबाजार तक अपने कलेवर से लपेटे हुए है, व्यंग्य चित्रकार का सफल लक्ष्य बन सकता है। स्वार्थ, झूठ और युद्ध की ओर भारतीय दुनिया उसके प्रहार का विषय बन सकती है, नेताओं की अवसरवादिता, उनका वैयक्तिक दृष्टिकोण, उनके राष्ट्रेतर लाभों के लिए प्रयत्न आदि अनन्त ऐसे प्रसंग हैं जो अपने घटयिताओं को हास्यास्पद बना सकते है, यदि मात्र हमारा व्यंग्य चित्रकार उन पर अपने कुर्च का प्रहार आरम्भ कर दे। ऐसा नहीं कि व्यंग्य चित्रकारों का इस देश में सर्वथा अभाव है पर निश्चय इस दिशा में प्रयत्नशील शंकर आदि की संख्या नितान्त न्यून है।

देश ने जिस संघर्ष और बलिदान के जरिये स्वराज्य हासिल किया है वह उसके अवसरवादी नेताओं के कारण विकृत होता जा रहा है। वास्तव में जिस स्वराज्य की हमने विजय की है वह केवल आंशिक स्वराज्य है, इससे केवल एक वर्ग का लाभ हुआ है; परन्तु वह क्रान्ति जो वर्गहीन समाज की स्थापना करेगी, जिसमें मानव अपने आधारभूत अधिकारों से मण्डित होगा, अभी दूर है। उसके प्रयत्न में साहित्यकार और कलाकार दोनों को पर्याप्त रूप से कटिबद्ध होना होगा। चित्रकार यह न समझे कि उसका प्रयत्न केवल पिण्ड के प्रसादन के निमित्त है; वास्तव में वह नये जीवन, नई स्फूर्ति, नये मूल्यों और नये निर्माणों का प्रवर्तक है। उसका दायित्व, यदि वह समझे, उसी मात्रा में व्यापक है जिस मात्रा में भारतीय जनसंख्या प्रबल है। जिस प्रकार भारत का आकाश बड़ा है, जिस प्रकार उसके विस्तार की सीमाओं को सागर चूमते हैं, जिस प्रकार हिमालय उसके प्रसार का मानदण्ड प्रस्तुत करता है, उसी प्रकार उसके अंकन का कैनवस भी नितान्त व्यापक होगा जिसके ऊपर अपने लम्बकुर्च से वर्णों के स्पर्श से वह ऐसा ज्ञानमय आलोक, ऐसा क्रान्तिमय जन-प्रयास, इतनी विषम परिस्थितियों का संघर्ष लिखेगा कि उसकी प्रेरणा से संसार को नये जन-कल्याण के आधार पर बदल डालनेवाले कर्मठों का प्रयास हजार गुना बढ़ जायेगा।

मूर्तिकार क्या कोरे ?

मूर्तिकार और चित्रकार दोनों का क्षेत्र प्रायः एक है, यद्यपि उनकी शैलियों में कुछ अन्तर है। चित्रकार शलाका, तूलिका और कूर्च से चित्र का अंकन करता है, तक्षक छेनी से भावगत मूर्ति कोरता है।

दोनों के साधन, उपक्रम, विषय तारतम्य प्रायः एक ही है, दोनों का कल्पना क्षेत्र समान है। चित्रकार सूक्ष्म और ध्वनि के निकट सम्भवतः अधिक है परन्तु निःसन्देह मूर्तिकार की कला अपेक्षाकृत कठिन है। कल्पना और कृतित्व समान होने पर निश्चय चित्रकार का कार्य द्रव और मृदु के प्रयोग से, तरल रंग और नरम तूलिका के सहारे, सरल हो जाता है। किन्तु मूर्तिकार को कठोर साधनों से अपने 'अभिप्राय' रूपायित करने होते हैं। मूर्ति अधिकतर, मृत्तिका के अतिरिक्त, नरम, कड़े पत्थरों की बनती है और छेनी, जिसे तक्षक धारण करता है, लोहे की होती है। वस्तुत मूर्तिकार का कार्य कठिन है।

फिर भी जिस सूझ और सफलता से पत्थर के अंग में वह गति और सम्मोहन भरता है, जिस मात्रा में वह उसमें स्नेह और आक्रोश के भाव मुखरित करता है, जिस रूप से वह भावों का आवेग-संवेग प्रस्तर के कण-कण में भर देता है, जिस कृतित्व से वह अपनी परुष कृति में सन्तुष्ट ईषत् हास्य अथवा घृणा का पुट देता है वह सभी दर्शक को सर्वथा विजित कर देते हैं।

इस देश में अत्यन्त प्राचीन काल से जिस संख्या और परिमाण में तक्षण-कला की उपासना हुई है वह निश्चय हमारे गर्व की वस्तु है। इस क्षेत्र में भारतीय कला ने प्रायः ५० शताब्दियों के काल-विस्तार पर अपने कृतित्व की टाँकी चलाई है। सैन्धव सभ्यता के सुदूर अतीत से लेकर बारहवीं सदी ईस्वी तक लगातार उसकी छेनी चट्टानों पर टकराती और अभिराम प्रतिमाएँ कोरती रही है। उसके निरन्तर प्रयास से जिस कला-संसार का निर्माण हुआ है वह विस्तार और ऊँचाई दोनों में संसार में अपना सानी नहीं रखता। आकृति और भाव दोनों को एक साथ गढ़, एक पर दूसरे को अपरिमित रूप से आश्रित कर, उसने जड़ को चेतन कर दिया, चेतन जो स्वभाव-चेतन को असाधारण रूप से प्रेरित करने में समर्थ है।

भारतीय कलाकार ने युग-युग इस क्षेत्र में नये-नये प्रयोग किये हैं। प्रसूति के प्रसाद और आकृतिगत भावों की संवेग चेतनता में उसकी कृतियाँ स्वतः प्रमाण हो उठी हैं जिस प्रकार साहित्य जगत् में कवि ने मूक और मुखरित दोनों से भारती का

भण्डार भरा है, उसी प्रकार मूर्तिकार ने भी अपनी छेनी से मिट्टी और पत्थर से, काँसे और ताँबे से एक संसार खड़ा कर दिया है। इस संसार की संस्कृति मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के मूल से उठकर मौर्य-शुंग-सातवाहन-यवन-पह्लव-शक-कुषाण-गुप्त आदि ऐतिहासिक मंजिलें तय करती मध्यकाल के कला-तोरणों तक निरन्तर गतिमान रही और उसने कला के क्षेत्र में अनन्त आकृतियों का सृजन किया जो अनेक बार साहित्य के आदर्श और प्रतीक बन गईं।

बारहवीं-तेरहवीं सदी ईस्वी में तक्षण कला को इस्लाम के आक्रमण से बड़ी चोट लगी। इस्लाम ने मूर्तियों और उनके मन्दिरों पर प्रहार किया। यह प्रहार इस्लाम के आक्रमण से सदियों पूर्व हूणों ने ही प्रारम्भ कर दिया था परन्तु यह नई चोट प्रायः मरणान्तक सिद्ध हुई। यद्यपि मन्दिरों का किसी न किसी रूप में दक्षिण में निर्माण होता रहा और मूर्त्तियाँ उन मन्दिरों के बहिरंग को अलंकृत करती रहीं परन्तु उत्तर भारत में तो उनका जैसे लोप ही हो गया। हिन्दू माण्डलीकों के राज्य में जहाँ-तहाँ, जब-तब मन्दिरों का निर्माण हुआ और मूर्त्तियाँ पधराई भी गईं परन्तु ये प्रयास इतनी अल्प संख्या में हुए कि वे किसी प्रकार पुरानी धारा को अग्रसर न कर सके। प्राचीन मूर्त्ति निर्माण, जनगति और जन-विश्वास से प्रसूत हुआ था और इस प्रकार उसकी जड़ें सत्य अथवा मिथ्या जन-जीवन से आहार पाती थीं। परन्तु बारहवीं सदी के बाद की मूर्त्तियों का निर्माण जन-जीवन से सर्वथा स्वतन्त्र हो गया। उसके बाद जो मूर्त्तियाँ कोरी गईं वे नितान्त नगण्य और विद्रूप प्रमाणित हुईं। उनमें न आकृति का आकर्षण था न भावों का सम्मोहन। वे केवल विश्वास और श्रद्धा की प्रतीक बनीं।

इधर प्रायः सात सदियों के शून्य ने इस क्षेत्र में किसी प्रकार की गति न होने दी। चित्रकला के क्षेत्र में तो मुगलों ने अपना योग इस मात्रा में दिया कि उनका काल संसार के चित्रकला के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। जिस प्रकार अजन्ता के भित्ति-चित्र अपनी दिशा में अनुपम हैं मुगल-शैली के चित्र भी अपनी सूक्ष्मता और सुकुमारता में अपने उदाहरण आप हैं। परन्तु मूर्त्ति विध्वंसक होने के कारण प्रतिमा के क्षेत्र में मुगलों का संरक्षण भारतीय कलाकारों को मिलना तो असम्भव रहा उल्टे उनकी चोट से मूर्त्तिकला सर्वथा विलुप्त हो गई।

इस बीसवीं सदी में भी जब साहित्य ने एक नया रूप धारण किया है, चित्रकला ने अतीत शैलियों के पुनरुज्जीवन और नवीन के प्रयोग में पर्याप्त अंश में सफलता पाई है, मूर्तन के क्षेत्र में अब भी कालरात्रि का साम्राज्य रहा है। कुछ काल से जहाँ-तहाँ छेनी की खट्खट् सुन पड़ने लगी है परन्तु इस दिशा में सफल प्रयत्न नितान्त नगण्य हुए हैं। एकाध कलाकारों के नाम हमारी जिह्वा पर आकर भी कंठ में अटक जाते हैं क्योंकि उन्होंने कला के क्षेत्र में अपना विशेष स्थान अपनी कृति की ऊँचाई के रूप में अथवा संख्या के रूप में स्थापित नहीं किया है। चित्रकला के सम्बन्ध में जिन विषयों की ओर हम संकेत कर आए हैं वे प्रायः सारे विषय तक्षक की छेनी के साध्य हो सकते हैं, वैसे विषय का चुनाव बहुत कुछ साध्य के परिमाण और प्रसार पर निर्भर

करता है इससे वह मूर्तिकार के वैयक्तिक रुचि का वाहक है

सिकन्दर की भारत विजय के बाद बाबुल मे उस विजेता से एक महान् मूर्तिकार मिला। उसने सिकन्दर से उसकी मूर्ति बनाने की अनुमति माँगी। विजेता ने अनुमति तो न दी परन्तु उसे कलाकार का भाव जानने का कुतूहल अवश्य हुआ। उसने उससे पूछा—तुम अपनी कृति मे मेरा कौन-सा रूप अनुप्राणित करना चाहते हो? कलाकार ने कहा—चाहता हूँ कि विजेता का एक चरण एक पर्वत के शिखर पर हो, दूसरा दूसरे पर और वह झुका हुआ समुन्दर एक हाथ से दूसरी मुट्ठी मे उँडेल रहा हो। इस कल्पना की सत्ता निश्चय विराटाकृतिक है पर इसकी व्यापकता के बावजूद गुप्तकाल के तक्षक की मथुरावाली बुद्ध की मूर्ति अपनी तुष्टि की ईषत् मुस्कान से उसे लज्जित कर देती है। फिर भी क्षुद्र प्राणी की अपरिमित तृष्णा के फलस्वरूप विजय का वितान बड़ी खूबी से कलाकार के इस सिकन्दर सम्बन्धी रूपायन मे ताना जा सकता था। इसमें सन्देह नही कि महत्त्वाकाक्षा की नश्वरता उस विराट मूर्ति पर, यदि वह प्रस्तुत की गई होती, सदियो व्यंग्य की हँसी हँसती फिर भी देशान्तरों को पददलित करनेवाले अतिमानव का अट्टहास तो निश्चय उस मूर्ति के अन्तराल से उठकर दिशाओं को गुँजा देता। वैयक्तिक तृष्णा का वह विराट रूप यदि मानव प्रयास का प्रतीक हो पाता तो निश्चय वह त्रस्त संसार के आश्वासन का कारण बनता और इस दिशा में अपने देश की जनता का प्रयास किसी भी मूर्तिकार की कृति मे जीवन धारण कर आज भी अमर हो सकता है।

रूस की क्रान्ति और स्तालिनग्राद तथा अन्य मोर्चों ने मूर्तिकार का आराध्य विषय बनकर अनेक अमर कृतियों का निर्माण किया है, युगोस्लाविया की स्वतन्त्रता की लड़ाई के अनेक स्थल आज लड़ाकों के तप और त्याग को मूर्तिमान कर रहे हैं, पर खेद कि अपने देश मे इतनी प्रभावोत्पादक घटनाओं के होते हुए भी कृतित्व के रूप में हम नितान्त कंगाल हैं। हम इस बात को भूल जाते हैं कि जिस प्रेरणा ने प्राचीन भारत में तक्षण के क्षेत्र मे कमनीय रचनाओं को जन्म दिया वह अधिकतर राजनीति की परवर्तिनी थी। राजाओं की विजय उन्हें अपना स्मारक बनाने को प्रेरित करती थी, लूटे हुए धन की वैयक्तिक वासनापूर्ति के पार भी एक राशि खड़ी थी और उसका उपयोग मन्दिरों के निर्माण मे हुआ। इसी प्रकार व्यापार के परिणाम-स्वरूप इस देश मे धन का धारासार वर्षण श्रेष्ठियो के हृदय में अमर तृष्णा का आधार बन बैठा और अनन्त अनन्त मन्दिर खड़े हो गये। साधारण जनता की श्रद्धा और विश्वास भी निश्चय इस दिशा मे निर्माण कार्य के कारण बने परन्तु राजाओं तथा सेठो की अपेक्षा उनकी मात्रा स्वल्प थी। परन्तु आज तो देश का जीवन निषेधात्मक विधानों के कठघरे से निकल राजमार्ग पर खड़ा है। आज मानव बन्धन तोड़ लम्बे डग भरने लगा है। आज वह अँगूठे से धरा दाबे ललाट आकाश मे गड़ाये हुए है। आज उसके पराक्रम और पुंस्त्व की सीमा नहीं, फिर उसके उदात्त महामानव रूप को देख हमारे मूर्तिकार की छेनी क्यों नहीं बन उठती?

प्रायः सभी विदेशों में जीवन के संघर्ष और प्रयास की विजय को कलाकार के हाथों रूपायन मिला है, प्रत्येक देश में उसके उद्धारकर्त्ताओं के अतिरिक्त साहित्यिकों की मूर्तियाँ खड़ी की गई हैं। इस देश में भला इस दिशा में प्रयत्न क्यों नहीं हुए ? भारत ने प्राचीनतम काल से अद्यावधि अमर साहित्य सर्जकों की शृंखला व्यवस्थित की, आज हम उस शृंखला की अमर कड़ियों को मूर्तिमान देखना चाहते हैं। अपने युग-युग के संघर्ष को भित्ति के उभार में, पृष्ठभूमि के उभरे चित्रणों में हम अटूट परम्परा में देखना चाहेंगे। आज भी क्या हमारी मृण्मूर्तियों में प्राचीन भाव सम्पदा भर सकेगी ? आज भी क्या हमारे बालकों को सावधि संघर्ष का सांकेतिक रूप खिलौनों के आधार से उठता हुआ आकृष्ट करेगा ? निश्चय हम अपने मूर्तिकारों से, जो सदियों से मोह निद्रागत हैं, यह आशा करेंगे कि वे हमारा जीवित संघर्षमय संसार तक्षण में रूपायित करें और इस प्रकार वे हमारे कल्याण के साधक हों।

स्तूप और स्तंभ के पूर्ववर्ती

संस्कृति सर्वजनीन सम्पदा है, सयुक्त प्रयास की परिणति। देश अथवा काल के धरातल पर कोई विन्दु नही जहाँ खड़ा होकर कोई कह सके कि बस इससे परे अब कुछ नहीं जिसका मुझ पर प्रभाव हो। जातियों की परस्पर प्रतिक्रिया से, योग से, संस्कृति की काया बनती है! नयी जाति आती है, सीमा पर मँडराती है, स्थानीय जाति मे हल्चल होती है, दोनों एक दूसरे से टकराती है, संगम की धाराओं की भाँति मिलकर समान प्रवाह बन जाती है।

अब तक दोनो अलग-अलग थी, अब वे संपुक्त प्रवहमान द्रव की इकाइयाँ सम्पूर्ण को बनाती हैं, सम्पूर्ण स्वयं अटूट सघात की इकाई बन जाता है। संस्कृति का यही क्रमिक विकास है—इकाई से संयुक्त इकाई, संयुक्त से संयुक्तर, पर अगले संघात के लिए इकाई मात्र, अगली इकाई पिछली से सदा ऋद्ध, ऋद्धतर। संस्कृति इनका सपृक्त अटूट क्रम, अविरल परम्परा, अन्योन्याश्रित अन्तरावलम्बित सम्पदा है।

एक उदाहरण, हम सोच भी नही सकते कि आज के यूरोप का क्या रूप होता, यदि रोमन साम्राज्य न हुआ होता। पर स्वयं रोमन साम्राज्य अधिकतर उस सिकन्दर की पूर्ववर्ती विजयों के कारण ही सम्भव हो सका जिसने साम्राज्य का आदर्श उन महान् ईरानी सम्राटों से पाया था जिनकी नींव सारगोन, असुरनजीरपाल, असुरबनिपाल आदि दजला-फ़रात के उपरले कोंठे के असुर-साम्राज्य पर टिकी थी। और स्वय इस असुर-साम्राज्य का प्रादुर्भाव मिस्री साम्राज्य तथा बाबुली हम्मुराबी के साम्राज्यों से हुआ था। यही अटूट परम्परा मौर्य-साम्राज्य की है, जो अपने निकट-पूर्ववर्ती और प्रथम पड़ोसी ईरानी साम्राज्य से सम्बन्धित होते ही उसी आसुर-बाबुली-मिस्री-शृंखला की अन्तिम कड़ी बन जाती है—वस्तुतः अन्तिम कड़ी भी नही।

दूसरा उदाहरण, मैं अंग्रेजी मे एक ग्रन्थ लिखता हूँ, रोमन अक्षरों में, जिनका अवतरण पहले इत्रुस्कन और ग्रीक लिपिमाला से हुआ है, फिर ग्रीक-प्रसवक फ़िनीकी से और यह फ़िनीकी (इब्रानी) भी सुमेरी क्यूनिफ़ार्म (कीलनुमा लिपि) से निकली है, जिसकी जननी मूलतः देमोतिक के पार सुमेरी ही या मिस्री चित्रलिपि हैं। ग्रन्थ मेरा छपनेवाला उस कागज पर है जिसका पूर्ववर्ती रूप मिस्रियों ने अपने पापिरस मे सिरजा, पर जिसकी सही खोज चीनियों ने की, और वह छपेगा उस प्रेस में, जिसका आरम्भ अपने लकड़ी के ब्लाक-मुद्रण मे चीनियों ने किया और जिसके धातु के टाइप कोरियावालों और जापानियों ने बनाये फिर जिन दोनों (कागज और मुद्रण) को अरबों ने

यूरोप तक पहुँचाया । ग्रंथ छप जाने पर उसकी प्रतियाँ मैं सर्वत्र उस डाक से भेजूँगा जिसे सामाजिक रूप से पहले पहल ईरानियों ने चलाया । उन प्रतियों के विक्रेता बदले में मुझे या तो धातु के सिक्के भेजेंगे, जो सबसे पहले असीरिया में ढाले गये थे, या कागज़ के नोट (रुपये) जिन्हें पहले पहल चीन के कुब्ले ख़ाँ ने छापा था । ग्रन्थ की उन प्रतियों के बदले मुझे वह चेक भी मिल सकता है जिसे हुंडी के रूप में प्रथमतः प्राचीन बाबुली सौदागरों ने अपने बैंकों (आढ़तों) के लिए विकसित किया था । सम्भव है, उस मूल्य का कुछ भाग मैं उस तम्बाकू या सिग्रेट पर ख़र्च करूँ, जो कोलम्बस के पहलेवाले अमरीकनों की देन है; पर निःसन्देह इसका अधिकतर भाग मेरे आहार और वस्त्र पर व्यय होगा, जिनके विविध अंग विविध देशों में विविध विधियों से प्रस्तुत होते हैं । उस सम्प्राप्त धन का एक अंश शायद अपने स्वास्थ्य-विहार के लिए मैं उस समुद्रतट पर ख़र्चूँगा, जहाँ मुझे स्टीम (वाष्प)-चालित रेलगाड़ी (का इंजन) या स्टीमर (जहाज) पहुँचायेगा और इस वाष्प-शक्ति की गतिशीलता का पूर्वाभास सिकन्दरिया के हिरो नाम के मिस्री ने ही प्रस्तुत कर दिया था, जिसका एक रूप इटली के प्रसिद्ध प्रतिभावान् चित्रकार लियोनार्दो दा विंची ने भी सोच लिया था और जिसका कुतुबनुमा चीनियों ने आविष्कृत किया था ।

यह ऊपर का वक्तव्य केवल भाव-तत्त्व नहीं, मानव का आविष्कृत-प्राप्त ऐश्वर्य है—वस्तुतः सदा स्मरण रखने की बात है, कि हमारा वर्तमान हमारे अतीत से इतना कसकर बँधा हुआ है, इतना घना संपृक्त है, (और वह केवल हमारे ही अतीत से नहीं, उन सारे मानव समुदायों के अतीत से, जिन्होंने भूमि जोती है, या अग्नि में धातु तपायी है, या गृह-निर्माण के लिए एक पत्थर पर दूसरा पत्थर रखा है), कि आज से पाँच हजार वर्ष पुरानी घटनाएँ हमारे इतिहास की उतनी महत्त्वपूर्ण घटनायें हैं जितनी पिछली औद्योगिक क्रान्ति या पिछले महासमर ।

बौद्ध-जैन-स्तूपों और अशोक अथवा उत्तरकालीन स्तम्भों की पीठिका को समझने के लिए इस भूमिका की अनिवार्य आवश्यकता थी । स्तूपों की अशोककालीन परम्परा बहुत पीछे तो नहीं जाती, पर सम्भवतः संकेत रूप में उसे बुद्ध का समवर्ती आसानी से माना जा सकता है; क्योंकि लिखा है कि बुद्ध के मरने पर जब आठ राष्ट्रों में उनकी भस्म के लिए युद्ध ठन गया तब उनमें बीच-बचाव कर एक ब्राह्मण ने उसके आठ भाग कर उन्हें दे दिये और उन्होंने अपने-अपने भाग पर स्तूप खड़े किये । स्तूप के दो प्रतीक हैं—स्मारक और अस्थि-संचायक । स्मारक ठोस ईंट-पत्थर के बनते थे, और बुद्ध-महावीर-सम्बन्धी किसी महत्त्वपूर्ण घटना की याद दिलाते थे । अस्थि-संचायक स्तूप वे थे जिनमें बुद्ध, महावीर आदि की भस्म, अस्थि आदि अवशेष संचित किये जाते थे । कहना न होगा कि दोनों प्रकार की इमारतें पश्चिमी एशिया और मिस्र में बनती थीं । बाबुल आदि स्थानों में ज़ग्गुरत नाम के मन्दिर केवल ठोस ईंट-पत्थर के बने इमारत थे जिनके शिखर पर चक्करदार सोपान-मार्ग से चढ़ा जाता था इस प्रकार की इमारतों के अनेकों अवशेष दजला फ़रात के द्वाब में आज भी

खड़े हैं दूसरे प्रकार के अस्थि सचायक स्तूप स्पष्टत मिस्र के पिरामिड हैं यद्यपि इनका रूप सर्वथा उनका-सा नहीं है।

सातवीं-आठवीं शती ईसवी पूर्व एक समाधि उत्तर बिहार के लौड़िया-नन्दन-गढ़ में खोदी गई थी। उसका शिखर प्रायः वर्तुलाकार था। जूवो दुब्रील ने मालाबार मे मृतक-समाधियाँ ढूँढ़ निकाली थीं, जो पहाड़ों में कटी हैं, खोखली स्तूपाकार हैं, और जिनके बीच छत तक एक स्तम्भ बना है। उस पुराविद् का कहना है कि ये समाधियाँ काल के विचार से प्रायः वैदिक हैं, अर्थात् भारतीय स्तूपों से अधिकतर दूर, मिस्र की मृतक समाधियों के अपेक्षाकृत निकट। मिस्र के पश्चिमी पर्वतों मे प्रसिद्ध पिरामिडों के पहले और पीछे की कटी हुई इसी प्रकार की मृतक-समाधियाँ हैं। हमें यह न भूलना चाहिये कि मिस्र और फ़िलिस्तीन (जूदिया और इस्रायल) दोनों से ईसा से प्रायः हजार वर्ष पूर्व सुलेमान और हीराम के समय भारत का घना व्यापार-सम्बन्ध था और शायद कुछ भारतीय उन पश्चिमी देशों में पर्याप्त सख्या में जा भी बसे थे (कम से कम सन्त ग्रेगरी के समय तो वे वहाँ थे ही)। लघु-एशिया (एशिया माइनर) के दक्षिण तटवर्ती नगरों—पिनारा और ज़ेन्थस—की पर्वतों में कटी एक पत्थर की मृतक-समाधियाँ भारत के प्राचीनतम चैत्य-गृहों की शक्ल की हैं, यद्यपि वे है उनसे बहुत प्राचीन। अशोक अथवा बुद्धकालीन (पिप्रहवा) स्तूपों की गोलार्धवाली परम्परा, लगता है, बाद में विकसित हुई, और कम से कम रूप में तो भारतीय ही है, यद्यपि अस्थि रखनेवाली प्रथा मिस्री पिरामिडों से आई हो तो कुछ आश्चर्य नहीं। यह महत्त्व की बात है कि अशोक ने, जैसा हम आगे देखेंगे, ईरान से कला, लेखन आदि सम्बन्धी रीतियाँ सीखीं, विशेषतः इस कारण कि तब प्रायः डेढ़-दो सौ वर्षों तक पजाब और सिन्ध ईरानी सम्राटों के अधिकार मे रहे थे। बुद्ध के समय भी और तब सिन्धु-नद से लेकर पूरबी यूरोप और मिस्र तक की भूमि पर ईरानी सम्राट् दारा का शासन था। कुछ आश्चर्य नहीं कि एक ही साम्राज्य में रहनेवाली जातियों का घनिष्ठ पारस्पर्य उन्हें एक दूसरे के साथ सांस्कृतिक आदान-प्रदान सुकर कर देता रहा हो और आज के 'कामनवेल्थ' की परम्परा के कुछ लाभ तब भी सम्भव हो सकते रहे हों। जानी हुई बात है कि तेरहवीं सदी में मार्को पोलो, उसके पिता और चाचा एशिया तक के कुब्लै ख़ाँ के साम्राज्य के देशों में समान पश्चिमी सम्राट् के प्रसाद के अधिकार से स्वच्छन्द भ्रमण कर पाये थे।

स्तूपों के वर्तुलाकार (अर्धवृत्त) रूप भी दजला-फ़रात के द्वाब (मेसोपोतामिया—बाबुल और असुर देश) मे बने गुम्बजों के सदृश ही है। वहाँ ई० पू० पहली सहस्राब्दी में सैकड़ों गुम्बजनुमा छतें (या हमारे मन्दिरों के शूलाकार विमान, देखिये हैवेल का दिया चित्र और विचार) बनी थीं। स्वयं ईरानियों ने असुरों के साम्राज्य-वैभव के साथ ही उनकी संस्कृति, वास्तु आदि भी ले लिये थे। उनके ही पक्षधारी मानव मस्तकवाले वृषभ (दाराकालीन ईरान का नगर) के शालीन अचरज भरे नन्दो के आदर्श बने जो अशोक के स्तम्भ वृषभ के भी आदर्श प्रतीक

बने। साधारणतः वास्तु-विशारद मानते हैं कि गोल मेहराब और प्रशस्त गुम्बज संसार को मेसोपोतामिया से ही मिले हैं। ईसा से हजार वर्ष पहले प्रायः ६०० ई० पू० तक असुरों ने असुर, निनवे आदि अपने नगरों में जो वास्तु-सम्बन्धी अमर निर्माण किये थे, वे क़ल्ला और खोरसाबाद की खुदाइयों से निकलकर यूरोप और अमेरिका के संग्रहालयों में प्रदर्शित असुर-स्थापत्य की गरिमा व्यक्त कर रहे हैं। अपने निर्माण के समय भी वे अन्य राष्ट्रों के आश्चर्य और अनुकरण के आदर्श बन गये थे। अनेक असुर स्थपति देशान्तरों की तब माँग और आवश्यकता बन गये थे। हमारे साहित्य—संस्कृत और दाक्षिणात्य सभी साहित्यों—में मय असुर की वास्तु-विद्या में बड़ी महिमा गाई गई है। अगणित उल्लेख उसके उस प्रसंग में हुए हैं। सांस्कृतिक आदान-प्रदान और संस्कृत के विकास को देखते यह सम्भव ही नहीं अनिवार्य प्रतीत होता है कि मय नामक असुर ने इस देश में भी असुर वास्तु के कुछ प्रतीक गढ़े और प्रचलित किये हो।

पश्चिमी जगत् में सम्बन्ध की ऐतिहासिक शून्यता कभी सम्भव न हो सकी, यद्यपि अशोककालीन भारत और सैन्धव भारत के बीच का सम्बन्ध प्रायः दो हजार वर्ष टूटा रहा था। सैन्धव, मिस्री और सुमेरी-बाबुली सभ्यताएँ प्रायः समकालीन थीं। इनमें पहली तो शीघ्र मिट गई, पर दूसरी और तीसरी अशोक के समय तक विरासत की कड़ियाँ एक के बाद एक जोड़ती चली गईं—मिस्र-सुमेर, मिस्र-सुमेर-बाबुल, मिस्र-बाबुल-असुर, मिस्र-असुर, असुर-ईरान, ईरान-भारत, भारत। प्रकट है कि अशोक-कालीन भारत का सम्पर्क ईरान और ईरान के माध्यम से खल्द, असुर, बाबुल, सुमेर और मिस्र से किसी न किसी मात्रा में है, पर सैन्धव-सभ्यता से बिलकुल नहीं। उससे उसे प्रेरणा मिलने की कोई सम्भावना ही नहीं। सैन्धव-सभ्यता को जानने के लिए अशोक के पास कोई साधन न था, उससे कहीं अधिक आज हमारे पास है। ईसा पू० चौथी सहस्राब्दी से लेकर समूचे ई० पू० तक का एशिया का देश और काल-सम्बन्धी प्रसार मिस्र से पाटलिपुत्र तक प्रायः एक है। पश्चिम और पूर्व के बीच ईरान विशिष्ट सन्धि-स्थल है। छठी शती ई० पू० (५१५ और ५१० ई० पू० के बीच कभी) में दारयवौष् (दारा) प्रथम ने, जो अपने को 'आर्यों में आर्य' और 'क्षत्रियों में क्षत्रिय' कहता था, सिन्ध और पंजाब के एक भाग पर अधिकार कर लिया। उसके प्रसिद्ध अभिलेख नक़्श-ए-रुस्तम के अनुसार भारत ('हिन्दु') या भारतीयों के लिए पहली बार हिन्द या हिन्दी शब्द का उपयोग दारा के उस लेख में हुआ है। ईरान (फ़ार्स) का 'बीसवाँ' प्रान्त (क्षत्रपी) था, अत्यन्त लाभकर, जहाँ से प्रतिवर्ष ईरानी सम्राट् के आय के रूप में ३६० ईबोई भार स्वर्ण-धूलि (लगभग डेढ़ करोड़ रुपयों के मूल्य की) मिला करती थी। दारा की पूर्वी यूरोप और दक्षिण रूस की विजयवाले आक्रमण में सम्भवतः भारतीय योद्धा भी लड़े थे। कम से कम उसके बेटे क्षयार्षा (४८६-४६५ ई० पू०) के ग्रीक आक्रमणों में निःसन्देह भारतीय सैनिक जाकर यूनान के नगरों में लड़े थे (४८० ई० पू०) और उनके रुई के बने कपड़ों और लौहफलकवाले बेंत के लम्बे बाणों को देखकर यूनानियों ने आश्चर्य किया था ३३० ई० पू० की दारयवौष

(दारा तृतीय) और सिकन्दर के बीच अरबेला के युद्ध में भी भारतीय योद्धा लड़े थे। उसके कुछ ही काल पहले तक पंजाब और सिन्ध के दारा द्वारा जीते भाग ईरानियों के हाथ में रहे थे। इस प्रकार प्रायः डेढ़-दो सौ वर्ष (५१०—३३० ई० पू०) ईरान और भारत का घना सम्बन्ध रहा था और इस प्रकार ईरान के माध्यम से, जो सिन्धुतट से दक्षिण रूस, पूर्वी यूरोपीय सीमा और मिस्र तक का स्वामी था, भारत का सम्पर्क भूमध्यसागर और नील नदी की घाटी से हो गया था। ईरान न केवल इस भू-मण्डल का स्वामी था, वरन् समग्र मिस्री, बाबुली, असुरी सभ्यता और कला का वारिस भी था। उसका और उसके माध्यम से उस पश्चिमी जगत् का प्रभाव भारत की राजनीति, समाज, साहित्य और कला पर पर्याप्त रूप से पड़ना स्वाभाविक और अनिवार्य था। व्यापार के जलगत और स्थलगत मार्ग प्रस्तुत करने के अतिरिक्त वह विशाल साम्राज्य चाणक्य और चन्द्रगुप्त मौर्य के लिए आदर्श बना, साथ ही उनकी राजनीतिक सावधानी का संकेत भी, क्योंकि चाणक्य ने देखा कि दूर के ढीले प्रान्त साम्राज्य को दुर्बल कर देते हैं, और उसने अपने भारतीय प्रान्तों को शासन-केन्द्रों द्वारा जकड़ लिया। साम्राज्य प्रान्त-वितरण, शासन-केन्द्र और अपनी दुर्बलता से नये उपायों का योग मौर्य शासकों को ईरानी राजनीति से मिला। इसी प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य ने ईरानी दरबार की अनेक रीतियाँ अपने दरबार में प्रचलित कीं, जिनमें एक सभा-भवन में केश-सिंचन की प्रथा थी। अब इस भूमिका और पूर्व-पीठिका से हम अशोक की नीति, देश की लिपि और साहित्य तथा कला पर पड़े इस प्रभूत और दूरगामी ईरानी प्रभाव को देखें।

इस प्रभाव का विस्तार तनिक लम्बा है, जिसकी ओर अलक्ष्य रूप से पहले संकेत किया जा चुका है। अत्यन्त प्राचीन काल (सैन्धव सभ्यता—३२५० ई० पू०-२७५० ई० पू०) के अतिरिक्त अशोक (ल० २७२—२३२ ई० पू०) से पहले प्रायः हजार वर्ष तक भारत में लिखने की प्रथा का अभाव है, कम से कम उसके अकाट्य प्रमाण नहीं मिलते। उससे तीन सौ वर्ष पहले के लेख तो मिलते ही नहीं, और इन तीन सौ वर्षों के भीतर भी अभिलेखों की संख्या दो-चार ही है, और कम से कम शैली (इबारत) के साथ लम्बा अभिलेख तो बिलकुल ही नहीं मिलता। यह कहना तो (जब तक कि 'ब्राह्मी' लिपि के मूल का पता नहीं लग जाता) कठिन है कि भारत में लिखने की परिपाटी नहीं थी (और ब्राह्मी का आरम्भ न तो अशोक ने किया और न वह ईरानी आधार से ही उठी, यह निश्चित है); परन्तु यह भी कुछ कम कुतूहल की बात नहीं कि अशोक से पूर्व या कम से कम ईरानी सम्बन्ध के पूर्व के संस्कृत साहित्य में 'लिपि' अथवा इसका कोई निश्चित पर्याय प्रकट रूप से प्रचलित नहीं मिलता। स्वयं अशोक ने जिन 'लिपि' (लेखक), 'लिबिर' (लेखन), 'दिबि' (लेखन) और 'दिबिर' (लेखक) शब्दों का उल्लेख किया है, वे उस काल की पह्लवी (ईरानी-फ़ारसी) के हैं। अशोक ने अपने कुछ अभिलेख (सीमा प्रान्त काबुल घाटी) दाहिनी ओर से बाईं ओर को लिखी जानेवाली 'खरोष्ठी लिपि में लिखवाये, जो अरमई (ईरानी) का ही एक रूप है

इसके अतिरिक्त उसके एकाध लेख अरमई भाषा में भी लिखे मिले हैं, जिससे सिद्ध है कि उत्तर-पश्चिम में अरमई लिखी-पढ़ी जाती थी और वहाँ की प्राकृतों (जन-बोलियों) और साहित्य पर उस काल की फ़ारसी का ख़ासा प्रभाव था। इस देश में साधारणतः अभिलेखों का तो प्रायः सर्वथा अभाव था ही, राजनीति के क्षेत्र में तो उसका अशोक से पहले कभी उपयोग नहीं हुआ था। उधर ईरानी, असुर-बाबुल और मिस्र में हजारों वर्षों से चट्टानों, स्तम्भों, दरी-मन्दिरों की दीवारों, ईंटों पर विजय-प्रशस्ति लिखवाने की प्रथा चली आती थी। अशोक से डेढ़ सौ वर्ष पहले के दारा के बेहिस्तून और नक्श-ए-रुस्तम के प्रशस्त अभिलेख इसी प्रकार की प्रशस्तियाँ हैं। सो न केवल अशोक अपने पड़ोसी शासन से अभिलेखों की प्रथा लेता है, वरन् उसके अभिलेखों के प्रारंभिक शब्द—'देवानं पियो पियदसि राजा (लाजा) एव (हेव) आह (आहा)'—प्रायः वही हैं, जो दारा के अभिलेखों के हैं—'थातिय दारायवौष क्षयाथिय···'। इस प्रकार अपने देश में उस परम्परा के अभाव में पड़ोसी देश की परम्परा मे अशोक के शिला और स्तम्भ-लेख अनायास लिखे जाते हैं। अशोक उस मानव दाय का प्रचुर उपयोग करता है जिसके नाते वह अपनी मानवता (चिकित्सा आदि) की बेलि दूसरे (यवन आदि) राज्यों में भी लगाता है।

भारत में अशोक से पहले की मूर्तियाँ, पारखम-यक्ष (उसी शैली की और मनसा आदि) को छोड़, सैन्धव सभ्यता की, प्रायः डेढ़ हजार वर्ष पूर्व की हैं। पारखम-यक्ष अशोक से सौ-डेढ़ सौ साल पुराना है, पर अत्यन्त भोंड़ा, कला की दृष्टि से सारहीन, रुखड़ा, अशोकीय नागर-स्निग्धता से सर्वथा विपरीत। जो कोई भारतीय कला को भारत से अलग बाहर से देखता है, उसे मौर्य-कला पश्चिमी एशियाई कला का एक अंग (चाहे कितना भी विशिष्ट, पर अंग ही), उसका पूर्वतम छोर, जान पड़ती है। वह कला निःसन्देह असाधारण रूप से परिष्कृत और प्रौढ़ है, पर है वह एक शैली की ही परिणति। यहाँ मौर्य मूर्तिकला, और साधारण रूप से समूची कला के सम्बन्ध में कुछ नितान्त अनिवार्य बातें विचारणीय हैं। कला प्रयोग-प्रधान वस्तु है। अभ्यास, अनुक्रम और शृङ्खलाबद्ध विकास उसके स्वरूप हैं। केन्द्रीभूत निष्ठा और अविरल साधना उसकी सफलता के लिए अनिवार्य हैं। प्रायः डेढ़ हजार वर्षों का अन्तर दूर की सैन्धव कला से किसी प्रकार मौर्य (अशोकीय) कृतियों का प्रेरणा पाना असम्भव कर देता है। और इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि अशोक को किसी सैन्धव सभ्यता का, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, लेशमात्र भी ज्ञान न था। फिर अशोक की प्रस्तर-कृतियों अद्भुत पालिश और चमक उन्हीं के साथ शुरू भी हो जाती है। इस देश मे उसका विकास तो दूर रहा, न तो उस काल से पहले उसे कोई जानता था, न पीछे किसी ने जाना। इससे यह निष्कर्ष स्वाभाविक हो जाता है कि स्तम्भ और उसके पशु-शीर्षों के 'अभिप्राय' (मोटिफ़) और उनकी पालिश उसी दिशा से इस देश में आई, जिस दिशा से अशोक की खरोष्ठी लिपि और अरमई भाषा, अभिलेखों की परम्परा और उनकी भूमिका तथा उसके पितामह सीमाप्रान्त आये थे उस शक्ति के देश से, जिसके

अधिकार में भारत का एक भाग डेढ़ सौ वर्ष रह चुका था और जहाँ उनकी घनी और अटूट परम्परा थी, सहस्राब्दियों प्राचीन, उस देश को, जहाँ वह परम्परा न तो पहले कभी साहित्य में थी, न कला में। फिर देश और काल दोनों की परिधि के भीतर ही, सीमा के ईरान में ही, अशोक के समय से प्रायः सौ वर्ष के भीतर ही, उसकी कृतियों के प्रतीक-अभिप्राय और आदर्श प्रस्तुत हो चुके थे। शिकागो-विश्वविद्यालय के प्राच्य प्रतिष्ठान के संग्रहालय में रखा अपादान (ईरान) का वृषभ-शीर्ष-स्तंभ अशोक के पशु शीर्ष-स्तंभों का पुरोगामी प्रतीक है। वस्तुतः इस वृषभ के सम्बन्ध में कला असाधारण रूप से क्रमागत रही है। उसने प्रायः एक समूचा कालचक्र पूरा किया है। यह तो सही-सही नहीं कहा जा सकता कि वृषभ का अभिप्राय (मोटिफ़) पहले पहल कहाँ उदय हुआ—भारत (सैन्धव-सभ्यता) में या मिस्र (द्वितीय राजवंश के का-कौस ने तीन हजार ई० पू० से पहले मिस्र में वृषभ की पूजा प्रचलित की थी) में, परन्तु यदि मिस्री (एपिस) और सिन्धी (ब्रह्मनी वृषभ) समकालीन भी रहे हों, तो जहाँ भारतीय क्रमागमन की शृङ्खला अशोक के बहुत पहले ही टूट चुकी थी, या वस्तुतः कभी चली ही नहीं, वहाँ वृषभों का यह रूप (अभिप्राय) बाबुल, असुर, ईरान होता इस देश को लौट आया है। यहाँ हमारा इष्ट वृषभ या नन्दी की पूजा आरम्भ करनेवाले देश का पता लगाना नहीं है, वरन् अशोकीय अभिप्रायों (कृतियों) के उन निकट-पुरोगामियों को निश्चित करना है जो वृषभ के अतिरिक्त भी वृषभ की ही भाँति, हम्मुराबी (ल० २००० ई० पू०) के अभिलेखधारी स्तंभों से लेकर असुरनजीरपाल-असुरबनिपाल और उनके वंशधरों की कृतियों की राह हखमनी (ईरानी) सम्राटों की मंजिलें पार करते अशोक तक चले आये हैं। मौर्योत्तरकालीन कृतियों से अशोकीय (ईरानी) पालिश का लोप हो जाना प्रमाणित करता है कि भारतीय सीमा प्रदेश की सामाजिक स्थिति को डावाँडोल और क्षुब्ध कर देनेवाली हिन्दुकुश पार की प्रबल घटनाओं के कारण वे हाथ अब उपलब्ध न थे जिन्होंने कला की कृतियों की पालिश प्रस्तुत की थी। इस प्रकार विदेशी छेनी का भारतीय अभिप्रायों और कला प्रतीकों में उपयोग पीछे की सदियों में तो भरपूर हुआ। तक्षशिला और अन्य ग्रीक नगरों में बौद्ध कथाओं को काटने-उभारने में वह छेनी इतनी गतिशील रही कि उसने प्रतीकों के भारतीकरण का एक आन्दोलन ही चला दिया। यह आन्दोलन, कुछ आश्चर्य नहीं जो ईरानी तक्नीक का भी पीछे विरोधी हो गया हो।

आधुनिक चित्रकला

आधुनिक चित्रकला से तात्पर्य पिछले पचास वर्षों की यूरोपीय चित्रकला से है; यूरोपीय, क्योंकि आधुनिक चित्र-शैलियों का विकास यूरोप में ही हुआ है, यद्यपि उसके विकास में प्राच्य की प्रेरणा रही है। हुसेन, रामकिंकर, आरा, बेन्द्रे आदि में स्थानीयता के आवरण में पश्चिमी शैलियों के प्राण फड़फड़ा रहे हैं। जामिनीराय ने निश्चय भारतीय कला को नई प्राणवान् दिशा दी, अथवा भुलाई स्वस्थ ग्राम शैली को उसके 'एलिमेण्टल' रूप में लिखने का कुछ काल तक सफल प्रयास किया, पर उसके बाद न तो उस शैली का ही कोई विकास हुआ न किसी नई भावभूमि का वर्ण और रेखा के माध्यम से सृजन हुआ।

उन्नीसवीं सदी के अन्त और वर्तमान सदी के आरंभ में प्रायः तीन शैलियों का इस देश में विकास हुआ—१. यूरोपीय, २. अजन्ता, ३. उत्तर यूरोपीय। देशी शैलियों का ह्रास अठारहवीं सदी के अन्त में ही हो गया था, यद्यपि उनकी काया उन्नीसवीं सदी के मध्य तक घिसटती रही। यूरोपीय कलम का प्रभाव तो वैसे जहाँगीर-कालीन मुगल कलम पर भी पड़ने लगा था, पर उसकी अपनी आस्था और शक्ति डिग न सकी, बनी रही। वह प्रभाव प्रायः डेढ़ सौ साल बाद इस देश की चित्रकला पर खुलकर बरसा जब, पहाड़ी आदि कलमों के बावजूद, वह अधिकतर दम तोड़ रही थी और उसका कोई अपना व्यक्तित्व न रह पाया था। उस यूरोपीय प्रभाव का विस्तार यहाँ पुर्तगालियों-अंग्रेजों ने किया। यूरोपीय हाथीदाँत और कागज़ सम्बन्धी कला विशेषतः वेनिस की ओर से आई जिसे पटने के चितेरों ने विशेष लगन से साधा। वह शैली पटना-कलम के नाम से प्रसिद्ध हुई। छोटे आकार के चित्रों में मुगल कलम की बारीकी के साथ-साथ यूरोपीय शैली ने घर किया। अठारहवीं सदी के पिछले चरण में पटने और बनारस के (दल्लूलाल, लालचन्द, गोपाल आदि) कलावन्तों ने इस शैली को माँजा और इसकी अनेक शाखायें दिल्ली, लखनऊ, मुर्शिदाबाद, पूना, सितारा आदि में भी लगीं।

उस यूरोपीय कलम का दूसरा प्रभाव दक्षिण और पश्चिम के कलाकारों पर पड़ा जो बड़ा मारक सिद्ध हुआ। महत्त्व की बात तो यह है कि उस समय उन्नीसवीं सदी के मध्य और उत्तरार्ध में चीन-जापान के प्रभाव से यूरोपीय चित्रकला में जो नये प्रयोग होने लगे थे उनकी गन्ध तक भारत को नहीं लगी, केवल उनकी संकर स्थूल ने हमारे दक्षिणी-पश्चिमी कलावन्तों को अपने फूहड़ प्रभाव में जकड़ लिया

त्रिवेन्द्रम् और बम्बई उसके केन्द्र बने, मालाबार के रविवर्मा इसके प्रतिनिधि चितेरे थे। यह संकर कला न तो भारतीय भाव-सौन्दर्य को छू सकी न यूरोपीय अंकनशक्ति और उसकी प्रयोग सूक्ष्मता को। दोनों की दुर्बलतायें ही इसकी उपास्य बनीं और जहाँ यूरोप सूक्ष्म से सूक्ष्मतर की ओर बढ़ता रहा, कायिक रूप से परे वर्ण और रेखा स्वयं के चमत्कार ढूँढ़ता रहा, भारत में राम-कृष्ण, शिव-पार्वती, गणेश, लक्ष्मी, सरस्वती आदि के स्थूल-फूहड़ अंकन हुये।

अजन्ता चित्रण के क्षेत्र में हमारी राष्ट्रीय प्रेरणा बनकर आया, पर जहाँ उसे प्रेरणा मात्र रहकर हमें नयी राहें देनी थी वहाँ वह प्रेरणा ही स्वयं सिद्धि और आराध्य बन गई। कलकत्ता आर्ट स्कूल के हैवेल और अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने अजन्ता की शैली को, उसके अनुवाद और अनुकरण को, राष्ट्रीय आस्था दी। कुछ काल तक तो वह आन्दोलन हमारे भूले अतीत के गौरव को हमारी बाह्याभ्यन्तर चेतना में पुनरुज्जीवित करता रहा पर जब स्वयं प्रेरणा ही इष्ट बनकर जीवन के भिन्न मुद्रा-प्राण शैली में बसी तब दोनों का समुचित ह्रास हुआ—अजन्ता की प्राणवान् रेखा का भी, साम्प्रत सम्भावनाओं का भी। निःसन्देह यह चित्रगत राष्ट्रीयता का आन्दोलन इस देश में आवश्यकता से अधिक देर तक ठहरा और वह अपने वाछनीय शोभन कल्याणकर प्रभाव के बावजूद, हमारी सारी सम्भावनाओं, प्रेरणाओं, प्रवृत्तियों, प्रयोगों की राह में चट्टान बनकर ठस गया। गगनेन्द्रनाथ ठाकुर ने नयी यूरोपीय दिशा में कुछ प्रयास भी किये, पर अजन्ताजनित उपेक्षा से उनके दम घुट गये। गगनेन्द्र के प्रयोग अपने आप में कुछ विशेष महत्व के न थे, थे वे यूरोपीय प्रतिमानों के घटिया संस्करण ही, पर निश्चय वे हमारी कुण्ठित दृष्टि को एक नई दिशा दे रहे थे।

देशी क्रान्तिकारी दृष्टि जामिनीराय और अमृत शेरगिल को मिली, विशेषकर अमृत को, और उस यूरोपीय कलावन्तों की पटु शिष्या ने अपने अंकन की शक्ति और नवीनता से प्रमाणित कर दिया कि यूरोपीय तक्नीक और भारतीय भाव-भूमि के सयोग से चित्रलेखन में कितना चमत्कार पैदा किया जा सकता है। फिर जामिनी और अमृत की दिशायें कुहरे से ढक गई और अजन्ता या स्वयं उनके ही अनुवाद चित्रफलक के अभिप्रायों में होते रहे। अधिकतर उस दिशा मे चर्वित-चर्वण ही हुआ, पर यूरोपीय प्रयोग का वह जादू चल निकला। हमारे उदीयमान चितेरों ने यूरोप के ज्ञान-वृक्ष का स्वादु फल चख लिया और मक़बूल फ़िदा हुसेन, रामकिंकर बैज, आरा, बेन्द्रे आदि अनेक कलावन्त आज हमारे बीच अर्वाचीन, कुछ सीमा तक नवीन का भी, रूपायन कर रहे हैं।

पर यह वस्तुतः 'रूपायन' नहीं है, रूप की अरूपता ही इसकी सिद्धि है। और यूरोपीय आधुनिक चित्रशैलियो की आत्मा भी यही रूप की अरूपता है। बड़े संतोष की बात तो यह है कि रूप की यह अरूपता प्राची ने ही प्रतीची को दी। जब स्पेन का सिद्ध चित्रकार गोया माद्रिद और पेरिस की घिनौनी पिण्ड साधना से विरत हो पूरब की ओर भागा तब वहाँ भी उसने पिण्ड की ही साधना की पर उस पिण्ड में एक नया

टटकापन था, 'एलिमेण्टल' ताजगी, एक नई मांसलता थी और गोया ने लौटकर कहा कि पेरिस के स्टूडियो केवल इन पूर्व के नये प्रतिमान-प्रतीकों से, शक्ति अभिप्रायों से ही, प्राण पा सकेंगे।

पर गोया से बहुत पहले ही चीन और जापान की अंकन-सूक्ष्मता अपना जादू यूरोप पर डाल चुकी थी, शायद तभी जब चीन-जापान के 'इम्प्रेशनिस्टिक', स्पर्शतः चित्रित, क्रॉकरी (चीनी बर्तन) पश्चिम में पहुँची थी, जब सत्रहवीं सदी मे चौदहवाँ लुई अपने वर्साई के दरबार में आधा ईरानी, आधा चीनी लेबास में एक दिन आ धमका था। मजे की बात तो यह है कि जब लुई चीनी वेषभूषा का दीवाना हो रहा था तभी चीनी सम्राट् वर्साई के महलों के अनुकरण मे अपने महल खड़े कर रहे थे। यह आदान-प्रदान आगे की यूरोपीय कला के लिए बड़ा लाभकर सिद्ध हुआ।

प्रभाववादी युग के प्रवर्तक चीनी-जापानी कलम को बात हम फिर कहेंगे, यहाँ उस दिशा के अन्य उपकरणों की ओर संकेत कर देना भी समीचीन होगा। युग वह—अठारहवीं सदी के मध्य का—वैज्ञानिक था। विज्ञान की खोजों और आविष्कारों ने सारे यूरोप को अपने आवर्त मे घेर लिया था। साहित्य और कला पर भी स्वाभाविक ही उसका गहरा प्रभाव पड़ा। क्लासिक-कल्पना की भूमि से उठकर सहसा वैज्ञानिक यथार्थ की ओर रस-स्रष्टाओं की दृष्टि गई। यूरोप पर लेसिंग का युग छाया हुआ था और अब धीरे-धीरे रूसो की फ्रांसीसी रोमैंटिक धारायें उस पर चोटें करने लगी थीं। लेसिंग से जर्मनी मे हर्डर ने प्रबल और सफल लोहा लिया और उसके तर्क के बुद्धिवादी साहित्य को उसने अपने दो महान् शिष्यों—गेटे और शिलर—की सहायता से सूखे विज्ञान के नीरस घटाटोप से मुक्त कर उसे कल्पना के वियद्गामी पंख दे दिये जिससे यूरोप में रोमैंटिक युग की परिणति हुई।

यही स्थिति कला के क्षेत्र में भी घटी। क्लासिकल से बुद्धिवादी यथार्थ की ओर फ्रांस में प्रगति हुई, फिर रोमैंटिक प्रवृत्ति की ओर फ्रांस की राज्यक्रांति कुछ सामान्य घटना न थी, जीवन की सारी सन्धियाँ उससे हिल गईं और कला ने भी एक नई मंजिल सर की। उस युग की कला का सर्वेसर्वा और डिक्टेटर जाक लुई दावी (डेविड) था जिसने फ्रांसीसी क्रान्ति और नेपोलियन के काल की कला का नेतृत्व किया। उसकी कहानी विशेष अर्थ रखती है जो इस प्रकार है।

दावी का जन्म १७४८ ई० में हुआ। वह अभी नौ वर्ष का ही था कि उसका पिता डुएल में मारा गया और उसके अभिभावक ने उसे चित्रांकन सीखने के लिये स्कूल से हटाकर फ्रांस्वा बूशे के स्टूडियो मे दाखिल करा दिया। बूशे अत्यन्त आकर्षक रोकोको शैली में सुन्दर नारियो के चित्र बनाया करता था। पर जिस प्रकार जल की धारा सदा अपनी सतह खोज लेती है दावी भी फ्रांस्वा को छोड़ सड़क पार जोजेफ मारी विया के स्टूडियो में एक दिन जा पहुँचा। माइन वियाँ फ्रांस के क्लासिकल-चित्रण-शैली के प्रवर्त्तकों में था। उसी के साथ दावी रोम जा पहुँचा जब उसका गुरु रोम के फ्रेंच अकदमी का डाइरेक्टर नियुक्त हुआ और शीघ्र उस यथार्थवादी कृतिकार के

चित्रों—सुकरात की मृत्यु, ब्रूतस, और होराती—ने चित्रजगत् में हलचल मचा दी।

दावी जब पेरिस लौटा तब पेरिस प्रायः एथेन्स और रोम बन चुका था। महिलायें अपने क्लासिकल उत्साह में ग्रीक ट्यूनिक पहनतीं और रोमन महिलाओं, सीज़रों की पत्नियों, की भाँति केश-प्रसाधन करतीं! रूसो के प्रधान शिष्य रोब्सपियर के हाथ में जब शासन-सूत्र आया तब उसने इस नकली जीवन का सहसा अन्त कर दिया। दावी उसका मित्र था, उसने क्लासिकल के साथ-साथ यथार्थ का प्रवर्तन किया। क्रान्ति का जीवन अनेक रूप से उस युग के कनवसों पर बह चला। फिर एकाएक जैसे प्रलय हो गई, कला और जीवन का सम्पर्क टूट गया। कला के क्षेत्र में एक प्रकार के मात्स्यन्याय का प्रादुर्भाव हुआ, शैलियों की सीमायें सहसा टूट गईं और चित्रजगत् पर एक धुँधला कुहासा छा गया जिसके पार देख पाना पैनी दृष्टि के लिये भी कठिन हो गया। जर्मनी में उस प्रलय का कारण वाल्मी का युद्ध था। गेटे ने उस प्रसिद्ध समर को अपनी आँखों देखा।

वस्तुतः वह युद्ध न था, संगठित नरवध था। पर निःसन्देह यह पहला सहार था जिसमें फ़्रांसीसी क्रान्ति के असंगठित लड़ाकों ने साम्राज्यवादी आस्ट्रिया और राजवादी प्रशा की सधी, संगठित, शक्तिसीम सेनाओं को धूल चटा दी। इतिहास में पहली बार भूखी निरस्त्र जनता ने प्रतिक्रिया की महान् सेवाओं को निरुत्तर और स्तभित कर दिया था। उस शाम जब साम्राज्य की सेनायें हारकर वरदून की मेह से भींगी सड़कों से लौटीं तब संसार ने जाना और गेटे ने अपनी डायरी में लिखा कि 'संसार के इतिहास मे एक नये युग का आरंभ हुआ है।' कला ने एक नया डग भरा।

पेरिस के स्टूडियो में क्रान्ति हो गई। पेरिस संसार के कला-शरीर का हृदय था। उसकी क्रान्ति का अर्थ था चित्र शैलियों की कायापलट। यह कायापलट कैसे हुई? क्यों हुई? रोमैंटिक आदर्शवाद के 'लार पूर लार' (कला कला के लिये) को जीवन ने चुनौती दी, साहित्य और कला दोनों क्षेत्रों में। स्ताँधल और बाल्ज़ाक ने अपनी बहुमुखी अनुभूतियों से अपनी लेखन-कला को समृद्ध कर सामाजिक जीवन पर प्रबल प्रहार किया। यथार्थ का निरूपण प्रकृति को चित्रित कर, यथातथ्य को रूपायित करके हुआ। आन्दोलन का नाम ही प्रकृतिवाद या नेचुरलिज़्म पड़ गया। प्रकृतिवाद का परिणाम, साहित्य और कला दोनों में, इम्प्रेशनिज़्म (प्रभाववाद) का समारंभ हुआ। चीनी और जापानी चित्रशैलियों की सूक्ष्मता (कम से कम वर्ण-प्रयोग से, कम से कम तूलिका और कुर्च के स्पर्श से, सुकोमल रेखाओं द्वारा प्रकृति का चित्रण) ने पेरिस के अनेक कलावन्तों को आकर्षित और प्रभावित किया था। उसी में विज्ञान और कैमेरा के आविष्कार का भी योग जा मिला। कैमेरा द्वारा जिस नयी वैज्ञानिक कला का उदय हुआ उस फ़ोटोग्राफ़ी में आदर्शवाद या कल्पना को स्थान न था। वह प्लेट पर यथार्थ छाया डालती थी। चित्रकार प्रभावित हुए। क्यों न वे भी उसी प्रकार प्रकृति को लैंडस्केप को—उसके समूचे आतप-छाया के साथ फलक पर लिख डालें उन्होंने सोचा उस दिशा में उनका कार्य उन कृत्रिम रंगों ने भी सरल कर दिया जिन्हें

विज्ञान ने तभी प्रस्तुत कर दिया था और जो प्रकृति के सभी कोमल, मद्धिम, तीव्र आलोक-प्रत्यालोक अपने स्पर्शमात्र से प्रभासित कर सकते थे। फिर तो चितेरों ने प्रकृति को, जैसी वह थी, चित्रित करना आरंभ किया, उसके मूल रूप में नहीं वातावरण के सान्निध्य से प्रभावित; वैसी नहीं जैसी हम उसे सदा देखते हैं, वरन् वैसी जैसी मेह, मेघ, धूप, कुहरा उसे बना देते हैं; समय-समय से, उस समय-समय पर दिखनेवाले उसके अनवगुंठित सावधिरूप को। और यही इम्प्रेशनिज़्म है जिसने पिछले सत्तर वर्ष के विविध साहित्य और कला-शैलियों को जन्म दिया। इन सत्तर वर्षों की कला का इतिहास उनके पीछे हजारों वर्षों से अधिक विभिन्न-अधिक सम्पन्न और समृद्ध, अधिक सचेत और दर्शनप्रवण है। नीचे उसकी व्याख्या है जिसे समझने के लिये यह भूमिका अनिवार्य थी।

इम्प्रेशनिज़्म (प्रभाववाद)

प्रभाववाद चित्र (-साहित्य)-शैली और आन्दोलन दोनों है। शैली का आरंभ तो उन कारणों से हुआ जिनकी ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है, पर आन्दोलन का कारण पेरिस के आभिजात्यों और अकदमी की प्रतिक्रियावादी नीति थी। परिणाम हुआ चित्र-शैली में यह क्रान्तिवादी आन्दोलन। १८५५ में पेरिस मे संसार भर का एक मेला हुआ जिसमें गुस्ताव कूर्बे के चित्रों को प्रदर्शित करने से रोक दिया गया। कूर्बे ने अपने एक पत्र में लिखा—'मैं केवल समाजवादी नहीं हूँ, जनसत्ता और लोकतन्त्रवादी भी हूँ। एक शब्द में क्रान्ति का सक्रिय पक्षपाती, और इन सबसे ऊपर, यथार्थवादी भी हूँ, अर्थात् वास्तविक सत्य का ईमानदार मित्र।' और उसके इस कथन को ही जोला ने अपने वाक्य मे दुहराया—ला रिपुब्लिक सेरा नातुरलिस्त ऊ एल न सेरा पा—'या तो प्रजातंत्र (फ्रेंच रिपब्लिक) प्रकृतिवादी (यथार्थवादी) है या कुछ नहीं।'

जब गुस्ताव कूर्बे के चित्रों को अकदमी की प्रदर्शनी में टाँगने न दिया गया तब उसने अपने चित्रों की एक स्वतंत्र प्रदर्शनी कर डाली और उसके द्वार पर बड़े-बड़े अक्षरों मे लिख दिया—'यथार्थवाद।' यथार्थवाद लिखना उस काल बड़े साहस की बात थी क्योंकि तब कुछ भी यथार्थ नहीं माना जाता था, आदर्शवाद का बोलबाला था, नारियों के पैर नहीं माने जाते थे, पुरुषों के जीवन में कोई आस्था न थी, बच्चे गिरजाघरों के प्रवचनों के मजाक उड़ाते थे। निःसन्देह तब 'यथार्थवाद' लिखना उस युग को चुनौती देना था, साहस का कार्य, जिसके लिये सहज ही आदर हो जाता है। शीघ्र कूर्बे के अनेक समर्थक बन गये और आन्दोलन आन बान से चल निकला।

नगर का आकर्षण अब उन्हें न रहा। वे अपने ब्रुश और चित्रफलक लिये नगर से बाहर गाँवों की ओर निकल पड़े जहाँ प्रकृति अपनी अनावृत सुघराई का वैभव लिये खड़ी थी कोरो, मिले दोबिन्यी, दुप्रे, हार्पिन्यी, रूसो, दिये सभी को

प्रकृति ने अपनी ओर खींचा, पेरिस की गैसलाइट से दूर, खुले में। अनेक तो नगर छोड़ देहात में रहने भी लगे। फ़ोंतेन्ब्लों के जंगलों की सीमा पर एक खुशनुमा गाँव था, बार्बिजों, जहाँ उनकी एक टोली जा बसी। उनकी आवश्यकतायें थोड़ी थीं और उन्हें साधारण किसानों की तरह रहना मंजूर था, अगर उन्हे इच्छानुसार और कुरुचि के साथ बिना किसी प्रकार का समझौता किये रहने का अवसर मिले। अंग्रेज चित्रकार कान्स्टेबुल और टर्नर के लिये निश्चय उनके मन में कुछ इज्जत थी पर अकदमी के सदस्यों से उन्हें घृणा थी; उनकी कुरुचि से ही तो उनकी लड़ाई थी। अकदमी के सदस्यों के प्रेरणाहीन चित्रों से प्रदर्शनियाँ हर साल भर जातीं, मीलों लम्बी चित्र परपरा, जिनमें न जीवन था, न सुषमा थी, न सुरुचि। शीघ्र नगर के भीतर भी तरुण लेखक, गीतिकार, चित्रकार और मूर्तिकार तत्कालीन स्थिति से बगावत कर उठे। बाल्जाक पहले से ही गले समाज का पर्दा फ़ाश किये जा रहा था और महामना विक्तर ह्यूगो समुद्री द्वीप से नैपोलियन तृतीय के खोखले साम्राज्य के तार-तार उधेड़े जा रहा था। हजारों-हजारों कृतिकार पेरिस नगर में काफ़े काफ़े फिरते सावधि समाज की खिल्लियाँ उड़ाने लगे।

१८६३ में एक और घटना घटी। प्रतिवर्ष पेरिस में चित्रों की एक प्रदर्शनी हुआ करती थी; उसे 'सलों' (सैलून) कहते थे। जो जुरी प्रदर्शनी में टाँगे जाने वाले चित्रों का निर्णय किया करती थी उसमें अकदमी के पुराणपंथी कठमुल्ले सदस्य भरे थे और उन्हें इन तरुणों के चित्र एक आँख नहीं भाते थे। उस साल उनकी दृष्टि और भी संकुचित हो गई और उनकी निगाह में इनकी सुन्दर से सुन्दर कृतियो का कोई मोल न रहा। फिर तो सैं नदी के दोनों ओर पेरिस के काफ़े और सलों बहसों और चुनौतियों के अखाड़े बन गये। अन्त में स्वयं सम्राट् नैपोलियन तृतीय को हस्तक्षेप करना पड़ा और उसने एक नई प्रदर्शनी 'सलों दे रफ़्ज़े' खोल दी जहाँ उन चित्रकारों के चित्र प्रदर्शित हुए जिनको अकदमी ने अस्वीकृत कर दिया था। अन्तिम निर्णय आम जनता पर छोड़ दिया गया।

इस प्रदर्शनी के अनेक चित्रों ने पेरिस के मतिमान् और पारखी नागरिकों को चकित कर दिया। और वहीं एदूअर माने का चित्र टँगा था—पिकनिक लंच। माने तब बिल्कुल अनजान था और उसके चित्र को गालियाँ भी खासी मिलीं। चित्र का विषय था, जंगल में दो नितान्त नंगी नारियों का दो सर्वथा वसनावृत पुरुषों के साथ भोजन। माने इस शैली के प्रधान चित्रकारों में हो गया है, उसके प्रवर्तकों में।

संघर्ष चलता रहा। 'फ़िगारो' और दूसरे पुराणवादी पत्रों के दफ़्तर अकदमी के गढ़ बने, कफ़े गिलबर और कूर्बे के स्टूडियो यथार्थवादी चित्रकारों के। उन्हीं दिनों नादा नाम के पेरिस के एक फ़ोटोग्राफ़र ने अपना स्टूडियो इन तरुण कलाकारों के चित्रों के प्रदर्शन के लिए समर्पित कर दिया। उसमें जिन चित्रकारों ने अपने चित्र प्रदर्शित किये उनमें से अनेक आज जगद्विख्यात हो गये हैं माने मोने देगा सेज़ान पिसारो, ब्राकमों और रन्वा सभी उनमें थे वहाँ प्रदर्शित चित्रों में एक चित्र क्लोद

मोने का भी था, नई शैली में लिखा, जिसका कुछ विशेष विषय (सिवा सूर्यास्त के) न था, जो एक 'प्रभाव' मात्र था, प्रभाव का अंकन मात्र—केवल इम्प्रेशन—जिसके नीचे भी चित्रकार ने नामरूप में लिख दिया था—'इम्प्रेशन'। इसी चित्र के कारण इस समूची चित्रशैली का नाम ही 'इम्प्रेशनिज़्म' पड़ गया। और यह नाम इस प्रकार के चित्रों को उपहास के रूप में दिया गया था! दोमिये के पत्र शारीवरी ने ऐसे चित्रों का नाम मोने के उस चित्र के आधार पर उपहासवश 'इम्प्रेशनिस्ट' रख दिया। और वह नाम चल गया। भूलना न चाहिये कि मखौल उड़ाने के लिए इनका जो नाम रखा गया था वही इस शैली और आन्दोलन का नाम पड़ा।

इस प्रकार के चित्रों को देखकर पहले तो लोग बहुत भड़के, मज़ाक में उन्हें उल्टा-सीधा कर पूछने लगे—अच्छा, यह है क्या? इसका मतलब कोई समझाये, ठीक वैसे ही जैसे आज, प्रायः ७५ वर्ष बाद, अपने देश में लोग इस प्रकार के चित्रों के विषय में पूछा करते हैं या २५ वर्ष पहले लोग निराला की पंक्तियों के विषय में पूछा करते थे। और था यह वही जो अनेक बार रेम्ब्राण्ट, वेलास्केज़ और गोया ने किया था—पृष्ठभूमि से वर्णों द्वारा आकृति को उभारकर उठा देने का प्रयत्न, प्रकाश के प्रभाव का विमूर्तन, और इसे सफलतापूर्वक सिद्ध करने के लिए मोने के से चित्रकारों ने पहले प्रकाश के तथ्य का ही रहस्य जान लेने का प्रयत्न किया। उन्होंने इस प्रकार 'प्रकाश या प्रकाशपुंज का आभास' उत्पन्न करने का प्रयास किया। उन्हें लगा कि ऐसा हो सकना तभी सम्भव था जब चित्र के वर्ण को छोटे-छोटे टुकड़ों में घनीभूत कर तोड़ या बाँट दिया जाय। इसी प्रयास ने आरम्भ में उन्हें उपहासास्पद बना दिया था यद्यपि उसमें चितेरों की कोई खामी नहीं, स्वयं दर्शकों की रुचि और परख की कमी कारण थी। परिणाम यह हुआ कि इस शैली के चित्रकार अनेक लोगों की दृष्टि में पागल मान लिये गये। वस्तुतः इन चित्रों को देखने का एक विशेष तरीका है। इन्हें पर्याप्त दूरी से देखना चाहिये, फिर वर्णों के पुंज पुंजों के दल-से नहीं दिखेंगे, दूरी पुंजों को समान भूमि प्रदान करेगी और उनका प्रभाव वाञ्छित प्रकाश-सन्तुलन को प्रकट करेगा। इष्ट विषय और प्रभाव प्रकाश के माध्यम से पृष्ठभूमि से उठ आयेंगे। इन प्रभाववादी चित्रों का प्रभाव वस्तुतः कुछ कम नहीं पड़ा और आज भी उनके तक्नीक के माध्यम से संसार में हज़ारों चित्र बनते जा रहे हैं। इस देश में तो उनका प्रायः आरम्भ ही हुआ है फिर भी उनका असर हुसेन के चित्रों में देखा जा सकता है।

इस प्रकार प्रभाववाद कला के क्षेत्र में स्थायी तथ्य के बदले अस्थायी और सावधि यथार्थ रूप को व्यक्त करता है। प्रभाववादी कलाकार वस्तुओं के उस रूप को लिखता है जो उसे दिखाई पड़ता है, उनके स्वाभाविक स्थायी रूप को नहीं। उनके अविक्रिय रूप से, जिसे वह अपने ज्ञानचक्षु से जानता है, उसका कोई सम्बन्ध नहीं, केवल यथातथ्य सावधि रूप से है, जैसा वह किसी खास क्षण में दिखाई पड़ता है। यानी जैसा वह प्रकृति के आतप, छाया, कुहासा आदि के प्रभाव से स्पष्ट, अस्पष्ट, रहता है यदि वस्तु या आकृति की रूपरेखा उस काल छाया

अथवा दूरी के प्रभाव से धुँधली या अस्पष्ट दिखेगी तो वह उसका चित्र अस्पष्ट ही लिखेगा। छायापुंज या धुँधली सिलहुयेत् (छाया चित्रण) के रूप में, ठीक वैसी ही जैसी वह उस काल उसे दिखेगी, उस सदा की सही प्रकृत रूप में नहीं जैसी वह वस्तुत है और जिसके उस प्रकृत रूप को वह संस्कारतः जानता है। वह धुँधली आकृति के परे प्रकृत आकृति को नहीं देखेगा। यदि वह कुहासे मे गाय को देखता है और कुहासे के कारण गाय के समूचे अवयव स्पष्टतः कलाकार को नहीं दिखते तो वह उसकी आकृति अस्पष्ट धुँधली ही बनायेगा, अगर उसकी सींगें नहीं दिखती तो सींगें नहीं बनायेगा। इसी अपनी यथातथ्यता के कारण प्रभाववाद प्रकृतिवाद या यथार्थवाद के बहुत निकट है। इसी प्रकार प्रभाववादी चितेरा बीच के वातावरण और प्रतिबिम्ब के कारण बदलते वर्ण के परिवर्तनों को भी रूपायित करेगा। जानी हुई बात है कि दूरी के कारण हरियाली नीली लगती है, कि छाया सर्वथा भूरी या ब्राउन नहीं लगती बल्कि वातावरण के रंग से उसका अपना रंग प्रभावित होकर बदलता रहता है। हल्की आकाश रेखा की पूर्वभूमि में दौड़ती हुई पर्वतशृंखला तेज प्रकाश के अभाव मे चटख सिलहुयेत (छाया-चित्र) नहीं बन पाती, पर किरणों की बदलती परम्परा (रंगों द्वारा) हल्की और घनी छाया को प्रकाश रेखा द्वारा बाँट या मिलाकर प्रकट कर देती है; निरभ्र आकाश में, साफ़ दिन मे, वृक्ष या पर्वत के पीछे डूबते सूरज की किरणें जैसे अपनी अग्रभूमि के वृक्ष या पर्वत को लील जाती हैं; फिर इन सबके अतिरिक्त स्वयं प्रकृति में प्रकाश की स्पन्दनशील स्थिति है और उसका विघटन कुछ साधारण आलेखन से अभिव्यक्त नहीं हो सकता। उसके व्यक्तन के निमित्त प्रभाववादियों ने उपयुक्त मान और साधन प्रस्तुत कर लिये।

जिन दिनों प्रभाववादी कलाकार अपने प्रकाश-वर्ण सम्बन्धी प्रयोग कर रहे थे उन्हीं दिनों हेल्म होल्त्स और शेव्रल जैसे वैज्ञानिक भी प्रकाश और ध्वनि के विश्लेषण में सफल हुए थे। दोनों प्रयत्नों का सफल परिणाम प्रभाववादी कला में 'विभज्यावाद' (मैं जान-बूझकर इस प्राचीन बौद्ध दार्शनिक लाक्षणिक शब्द से 'डिविज़निज़्म'—वर्ण और प्रकाश का पुंजीभूत विभाजन—का भाव प्रकट कर रहा हूँ) और 'स्पन्दनवाद' (वाइब्रिज़्म) का आविर्भाव हुआ।

प्रभाववादी तक्नीक ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया कि प्रकाश मात्रा विशेष में उपलब्ध नहीं है, वस्तुतः उस रूप में उसका कोई अस्तित्व ही नहीं; वह तो केवल प्रकाश के आकृति पर प्रक्षेपण का परिणाम है। स्वयं छाया वस्तुतः प्रकाश का अभाव नहीं उसका परिवर्तित स्वरूपमात्र है। इससे बग़ैर रंगों को मिलाये शुद्ध रंगों को विशेष अन्तर से फलक (केन्वस) पर पुंजीभूत कर प्रभाववादियों ने वातावरण के स्पन्दनशील प्रकाश को और प्रकाश से स्पन्दनशील वातावरण को अपने चित्रों में व्यक्त कर दिया। ऐसा करना अब तक किसी शैली के चित्रों में सम्भव न हो सका था। इस प्रकार स्वयं प्रकाश ही [illegible] का आलेख्य विषय बन गया और वह प्रत्येक वस्तु, जिसके [illegible] द्वारा प्रकाश के प्रकृति पर प्रभाव का निरूपण हो सकता

था, निरूप्य मानी गई। इसी प्रकार मोने ने 'हेरिक्स' नामक अपनी चित्रावलि प्रस्तुत की जिसमें वह दिन के घण्टे-घण्टे बदलते प्रकाश में घास के अम्बार के परिवर्तित होते रूप का अपनी तूलिका से अध्ययन करता गया। इस सम्बन्ध में एक बात कह देनी आवश्यक है। इस परम्परा के चित्रों में, जहाँ प्रकाश की बदलती मात्राओं और स्पन्दन-शील वातावरण का निरूपण अभीष्ट था, अनुकार्य विषय का गौण हो जाना स्वाभाविक था। अक्सर विषय के महत्त्व से आलेख्य-भूमि का महत्त्व अधिक हो जाता था और डिजाइन या आकृति-विन्यास पर समुचित ध्यान नहीं दिया जाता था, यद्यपि उस दिशा में प्रभाववादियों की उस मात्रा में उदासीनता भी न थी जिस मात्रा में उनके प्रतिद्वन्द्वियों ने उन पर इसका आरोप किया था।

प्रभाववादियों ने सौंदर्य के मानों के विरुद्ध भी विद्रोह किया। सौंदर्य के निश्चित मान चित्रकार माने को स्वीकृत न हो सके। लावण्य का अपरिमापित रहस्य उसकी आँखों में अधिक उठा, पर चूँकि प्रच्छन्न का निरूपण दर्शन में अभाव का प्रत्यंकन करता, उसने सावधि यथार्थ पर अपनी तूलिका साधी। सावधि जीवन, समाज के आचार-व्यवहार, वेशभूषा सभी उसने अंकित किये और इस दृष्टि से वह फ़्लोबेर, गोंकूर और ज़ोला आदि साहित्यकारों का समानधर्मा बना। जो प्रवृत्ति माने की थी वही अन्य प्रभाववादियों की थी। उस प्रवृत्ति का प्रारम्भ तक्नीक की दृष्टि से मोने और माने ने और अन्त प्रायः सुरा (जो पोन्तिलिस्त या बिन्दुवादी था) और लँगड़े लूत्रे ने किया। उसी परम्परा में ओगुस्त रन्वा, कामिय पिसारो और एद्गर देगा ने भी अपने चित्र लिखे। उनका कहना था कि वस्तुतः उनका प्रयोग परम्परा का विरोध नहीं करता वरन् उसका प्रसार मात्र करता है और कि उस सही परम्परा के असल दावेदार स्वयं वे हैं। जो पुरानी स्टैन्डर्ड अनुकृतियों—अभिप्रायों—की नकल मात्र करते हैं वह ह्रासशील हैं, उनकी कला मरणोन्मुखी है। परम्परा के सही दावेदार और उस प्राचीन विरासत के असल वारिस वे हैं जो परम्परा को आत्मसात् कर उसकी शृंखला में वर्तमान की समसामयिक कड़ियाँ जोड़ते हैं, उसे जीवित समाज का समवर्ती बनाते हैं। माने के प्रसिद्ध चित्र 'ओलिम्पियाँ' को उदाहरणतः उन्होंने वेलास्केज़ के 'मण्डनमना' (दर्पणयुक्त) वीनस, गोया की 'विवसिता माया' और जोर्जियों तथा तिशियन की 'लेटी वीनस' की परम्परा में ही माना।

रन्वा भी उसी प्रभाववादी दल का चित्रकार था यद्यपि जीवन के पिछले सालों में उसने दृष्टिगम्य यथार्थ के प्रभाववादी निरूपण के बजाय आकृति की स्थूलता को अपनाया। प्रकाश और छाया के सही प्रयोग द्वारा उसने अपना इष्ट साध लिया।

देगा भी इसी वर्ग का था यद्यपि उसकी तक्नीक इनसे पर्याप्त भिन्न थी। सावधि यथार्थ के निरूपण का वह इतना कायल था कि उसने आलेखन की समूची परम्परा ही छोड़ दी। इससे उसके चित्रों में एक प्रकार की सर्वथा अप्रत्याशित, आकस्मिक और अचिन्तित आलेखन की अनुभूति होती है। लगता है, सारा दृश्य कैमरे के साधन से स्नैपशाट की भाँति सहसा प्रस्तुत हो उठा है पर उस दिशा में उसकी

अथवा दूरी के प्रभाव से धुँधली या अस्पष्ट दिखेगी तो वह उसका चित्र अस्पष्ट ही लिखेगा। छायापुंज या धुँधली सिलहुयेत् (छाया चित्रण) के रूप में, ठीक वैसी ही जैसी वह उस काल उसे दिखेगी, उस सदा की सही प्रकृत रूप में नहीं जैसी वह वस्तुतः है और जिसके उस प्रकृत रूप को वह संस्कारतः जानता है। वह धुँधली आकृति के परे प्रकृत आकृति को नहीं देखेगा। यदि वह कुहासे में गाय को देखता है और कुहासे के कारण गाय के समूचे अवयव स्पष्टतः कलाकार को नहीं दिखते तो वह उसकी आकृति अस्पष्ट धुँधली ही बनायेगा, अगर उसकी सींगें नहीं दिखतीं तो सींगें नहीं बनायेगा। इसी अपनी यथातथ्यता के कारण प्रभाववाद प्रकृतिवाद या यथार्थवाद के बहुत निकट है। इसी प्रकार प्रभाववादी चितेरा बीच के वातावरण और प्रतिबिम्ब के कारण बदलते वर्ण के परिवर्तनों को भी रूपायित करेगा। जानी हुई बात है कि दूरी के कारण हरियाली नीली लगती है, कि छाया सर्वथा भूरी या ब्राउन नहीं लगती बल्कि वातावरण के रंग से उसका अपना रंग प्रभावित होकर बदलता रहता है। हल्की आकाश रेखा की पूर्वभूमि में दौड़ती हुई पर्वतशृंखला तेज प्रकाश के अभाव में चटख सिलहुयेत (छाया-चित्र) नहीं बन पाती, पर किरणों की बदलती परम्परा (रंगों द्वारा) हल्की और घनी छाया को प्रकाश रेखा द्वारा बाँट या मिलाकर प्रकट कर देती है; निरभ्र आकाश में, साफ़ दिन में, वृक्ष या पर्वत के पीछे डूबते सूरज की किरणें जैसे अपनी अग्रभूमि के वृक्ष या पर्वत को लीले जाती हैं; फिर इन सबके अतिरिक्त स्वयं प्रकृति में प्रकाश की स्पन्दनशील स्थिति है और उसका विघटन कुछ साधारण आलेखन से अभिव्यक्त नहीं हो सकता। उसके व्यक्तन के निमित्त प्रभाववादियों ने उपयुक्त मान और साधन प्रस्तुत कर लिये।

जिन दिनों प्रभाववादी कलाकार अपने प्रकाश-वर्ण सम्बन्धी प्रयोग कर रहे थे उन्हीं दिनों हेल्म हॉल्त्स और शेव्रल जैसे वैज्ञानिक भी प्रकाश और ध्वनि के विश्लेषण में सफल हुए थे। दोनों प्रयत्नों का सफल परिणाम प्रभाववादी कला में 'विभज्यावाद' (मैं जान-बूझकर इस प्राचीन बौद्ध दार्शनिक लाक्षणिक शब्द से 'डिविज़निज़्म'—वर्ण और प्रकाश का पुंजीभूत विभाजन—का भाव प्रकट कर रहा हूँ) और 'स्पन्दनवाद' (वाइब्रिज़्म) का आविर्भाव हुआ।

प्रभाववादी तक्नीक ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया कि प्रकाश मात्र विशेष में उपलब्ध नहीं है, वस्तुतः उस रूप में उसका कोई अस्तित्व ही नहीं; वह तो केवल प्रकाश के आकृति पर प्रक्षेपण का परिणाम है। स्वयं छाया वस्तुतः प्रकाश का अभाव नहीं उसका परिवर्तित स्वरूपमात्र है। इससे बगैर रंगों को मिलाये शुद्ध रंगों को विशेष अन्तर से फलक (केन्वस) पर पुंजीभूत कर प्रभाववादियों ने वातावरण के स्पन्दनशील प्रकाश को और प्रकाश से स्पन्दनशील वातावरण को अपने चित्रों में व्यक्त कर दिया। ऐसा करना अब तक किसी शैली के चित्रों में सम्भव न हो सका था। इस प्रकार स्वयं प्रकाश ही चित्रकला का आलेख्य विषय बन गया और वह प्रत्येक वस्तु, जिसके द्वारा प्रकाश के प्रकृति पर प्रभाव का निरूपण हो सकता

था, निरूप्य मानी गई। इसी प्रकार मोने ने 'हेरिक्स' नामक अपनी चित्रावलि प्रस्तुत की जिसमें वह दिन के घण्टे-घण्टे बदलते प्रकाश में घास के अम्बार के परिवर्तित होते रूप का अपनी तूलिका से अध्ययन करता गया। इस सम्बन्ध में एक बात कह देनी आवश्यक है। इस परम्परा के चित्रों में, जहाँ प्रकाश की बदलती मात्राओं और स्पन्दनशील वातावरण का निरूपण अभीष्ट था, अनुकार्य विषय का गौण हो जाना स्वाभाविक था। अक्सर विषय के महत्त्व से आलेख्य-भूमि का महत्त्व अधिक हो जाता था और डिज़ाइन या आकृति-विन्यास पर समुचित ध्यान नहीं दिया जाता था, यद्यपि उस दिशा मे प्रभाववादियों की उस मात्रा में उदासीनता भी न थी जिस मात्रा मे उनके प्रतिद्वन्द्वियों ने उन पर इसका आरोप किया था।

प्रभाववादियों ने सौंदर्य के मानों के विरुद्ध भी विद्रोह किया। सौंदर्य के निश्चित मान चित्रकार माने को स्वीकृत न हो सके। लावण्य का अपरिभाषित रहस्य उसकी आँखों में अधिक उठा, पर चूँकि प्रच्छन्न का निरूपण दर्शन में अभाव का प्रत्यकन करता, उसने सावधि यथार्थ पर अपनी तूलिका साधी। सावधि जीवन, समाज के आचार-व्यवहार, वेशभूषा सभी उसने अंकित किये और इस दृष्टि से वह फ़्लोबेर, गोकूर और ज़ोला आदि साहित्यकारों का समानधर्मा बना। जो प्रवृत्ति माने की थी वही अन्य प्रभाववादियों की थी। उस प्रवृत्ति का प्रारम्भ तक्नीक की दृष्टि से मोने और माने ने और अन्त प्रायः सुरा (जो पोन्तिलिस्त या बिन्दुवादी था) और लँगड़े लत्रे ने किया। उसी परम्परा में ओगुस्त रन्वा, कामिय पिसारो और एद्गर देगा ने भी अपने चित्र लिखे। उनका कहना था कि वस्तुतः उनका प्रयोग परम्परा का विरोध नहीं करता वरन् उसका प्रसार मात्र करता है और कि उस सही परम्परा के असल दावेदार स्वयं वे हैं। जो पुरानी स्टैन्डर्ड अनुकृतियों—अभिप्रायों—की नकल मात्र करते हैं वह ह्रासशील हैं, उनकी कला मरणोन्मुखी है। परम्परा के सही दावेदार और उस प्राचीन विरासत के असल वारिस वे हैं जो परम्परा को आत्मसात् कर उसकी शृंखला में वर्तमान की समसामयिक कड़ियाँ जोड़ते हैं, उसे जीवित समाज का समवर्ती बनाते हैं। माने के प्रसिद्ध चित्र 'ओलिम्पियाँ' को उदाहरणतः उन्होंने वेलास्केज़ के 'मण्डनमना' (दर्पणयुक्त) वीनस, गोया की 'विवसिता माया' और जोर्जियों तथा तिशियन की 'लेटी वीनस' की परम्परा में ही माना।

रन्वा भी उसी प्रभाववादी दल का चित्रकार था यद्यपि जीवन के पिछले सालों में उसने दृष्टिगम्य यथार्थ के प्रभाववादी निरूपण के बजाय आकृति की स्थूलता को अपनाया। प्रकाश और छाया के सही प्रयोग द्वारा उसने अपना इष्ट साध लिया।

देगा भी इसी वर्ग का था यद्यपि उसकी तक्नीक इनसे पर्याप्त भिन्न थी। सावधि यथार्थ के निरूपण का वह इतना कायल था कि उसने आलेखन की समूची परम्परा ही छोड़ दी। इससे उसके चित्रों में एक प्रकार की सर्वथा अप्रत्याशित, आकस्मिक और अचिन्तित आलेखन की अनुभूति होती है। लगता है, सारा दृश्य कैमरे के साधन से स्नैपशाट की भाँति सहसा प्रस्तुत हो उठा है पर उस दिशा में उसकी

आभासप्राय अनवधानता के पीछे योजना का असाधारण योग है। रेखा का छन्द, दृश्य की व्यापक चारुता देगा की शैली के प्राण हैं, समकालीन चित्र-सम्पदा में लासानी। उसके चित्र दर्पण की भाँति निष्कलुष चमकते है। चित्रों के सुथरापन में उस-सा कोई और नहीं है।

प्रभाववादी परम्परा को पिसारो, अल्फ्रेड सिस्ले, ह्विस्लर और वाल्टर सिकर्ट ने भी बढ़ाया। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक प्रभाववादियों ने अपने विरोधियों को अपनी साधना और क्षमता से पराभूत कर लिया था। उन्होंने न केवल फ्रांस के वरन् सारे यूरोप के कला सम्बन्धी दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन कर दिया। ह्विस्लर तो आन्दोलन से प्रारम्भ से ही सम्बद्ध था, विल्सन स्टियर और वाल्टर सिकर्ट ने इंग्लैंड में, लिबरमान और कुएल ने जर्मनी में, सेगान्तीनी ने इटली में, फ्रान रिसेलबर्ग और क्लाउस ने बेल्जियम में, सोरोला ने स्पेन में, थाउलो और क्रोयेर ने स्कैन्डिनेविया में और सार्जेन्ट, हैरिसन और अलेग्जैंडर ने अमेरिका में प्रभाववाद की धारा बहाई जो आज भी सर्वत्र प्रबल है।

वस्तुतः प्रभाववादी शैली चित्रकला के अनेक सूक्ष्म चमत्कारों की समाहार है, एकत्रीभूत परिणाम। समय समय पर अनेक पूर्ववर्ती चित्रकारों ने अपने प्रयोग किये थे और उनमें सफलता पाई थी, प्रभाववादियों ने उनको केन्द्रीभूत किया। गियोतो ने त्रिजन्तीनी चित्रगत कठोरता को प्राणवान् और तरल किया था, पन्द्रहवीं सदी के फ्लोरेन्स के कलावन्तों ने चित्र मे गहराई और पर्सपेक्टिव (भूमि) का समावेश किया था, ल्योनार्दो दा विंची ने प्रकाश और छाया के माध्यम से अर्द्ध चित्रण (रिलीफ़) की गहराई प्रस्तुत की थी, वेनिस के चितेरों ने वर्ण को आलेख्य का ही अंग माना था और वेलास्केज़ ने उसके उतार-चढ़ाव का मान निश्चित किया था। प्रभाववादियों ने अपने पूर्ववर्तियों के उन सारे संचित गुणों का उपयोग किया। हाँ, इसका यह परिणाम कुछ अंश में निश्चय हुआ कि उनकी पकड़ आकृति और आलेख्य तथ्य पर कमजोर पड गई, सतही साधन—छायातप और स्पन्दित वातावरण—निरूप्य इष्ट से प्रधान बन गये।

प्रभाववाद की इस स्थिति ने जो विषय-तथ्य को भुलाकर केवल प्रकाश-छाया के सिद्धान्त पर रूपायन किये उसका परिणाम एक नया सिद्धान्त हुआ, प्वान्तिलिज्म या बिन्दुवाद। इसके प्रवर्तक नव-प्रभाववादी थे, विशेषतः सिगोरा और सुरा। सुरा ने प्रकाश के पुंजीकरण को एक दूसरा रूप दिया। शुद्ध रंगों के गोल बिन्दु चित्रफलक पर डाले और बीच-बीच में श्वेत बिन्दुओं को रचा। पर उससे वस्तुस्थिति में विशेष अन्तर नहीं पड़ा। इससे बाध्य होकर उसे मूर्तन का सिद्धान्त पकड़ना पड़ा। उसने रूप को किसी सीमा तक फिर से चित्रफलक पर प्रतिष्ठित किया। एक नया छन्द उसकी पच्चीकारी की पृष्ठभूमि से उठकर कनवस पर बह चला। उस सदी की कला के इतिहास में सुरा की यही विशेषता है, अव्यक्त से व्यक्त की ओर प्रगति। इस रूप मे प्रभाववाद का यह नया रूप आगे आने वाली अनेक शैली-संज्ञाओं और पूर्व प्रभाववाद की सधि बना, उस मान-छन्द की अटूट शृंखला की बिचली कड़ी

अर्वाचीन चित्रकारिता की अगली शैलियाँ उत्तर-प्रभाववाद (पोस्ट-इम्प्रेशनिज़्म), घनवाद (क्यूबिज़्म), भविष्यवाद (फ़्यूचरिज़्म), अवचेतनवाद (सर्रियलिज़्म) आदि हैं।

उत्तर-प्रभाववाद

प्रभाववाद के तुरत बाद आनेवाली एक विशेष परम्परा की चित्र-शैली लाक्षणिक संकेत के अभाव में उत्तर-प्रभाववाद (पोस्ट इम्प्रेशनिज़्म) कहलाती है। मैं उसे लाक्षणिक संकेत के अभाव में प्रयुक्त शैली-नाम जानबूझ कर कहता हूँ, इसलिये कि प्रभाववाद के उन 'पूर्व' और 'उत्तर' नामों में वस्तुतः कोई आनुक्रमिक सम्बन्ध नहीं है। ऐसा कुछ नहीं है कि जिससे उत्तर-प्रभाववाद पूर्व-प्रभाववाद का प्रसार या विकास माना जाय। वस्तुतः सही नाम के अभाव में ही इस लाक्षणिक संकेत-शब्द का प्रयोग हुआ है।

दोनों में वास्तविक अन्तर शायद उनके दृष्टिकोण के साथ साथ आकलन में है। जहाँ इम्प्रेशनिज़्म अनुकार्य का शुद्ध यथार्थ रूप में—जैसा दृष्टि पर उसका प्रतिबिम्ब पड़ता है वैसा—आलेखन करता है वहाँ उत्तर या नव-प्रभाववाद (मैं दोनों के इस मूलभूत अन्तर के कारण उसे 'उत्तर' न कहकर नव-प्रभाववाद कहना पसन्द करूँगा) जैसा का तैसा अनुकार्य को स्वीकार न कर पहले उसकी आकृति अपने मन में बिठा लेता है और अपनी तरह से उसका राग के माध्यम से फिर से कैनवस पर प्रक्षेपण करता है। इस बीच की स्थिति में काफ़ी अन्तर पड़ सकता है। प्रगट है कि जहाँ प्रभाववाद आकृति के यथार्थ आकलन को इष्ट बनाता है वहाँ नव-प्रभाववाद विशेषकर अपने दर्शन को वैयक्तिक बना लेता है और वस्तुतः उसका आकलन यथार्थ का प्रक्षेपण न होकर अपनी बुद्धि और उसका अपने ऊपर प्रभाव का वितन्वन है। वितन्वन इस कारण कि आलेख्य वस्तु या अनुकार्य के दर्शन और उसके आलेखन के बीच में दर्शन को चित्रकार के व्यक्तित्व, विचार, रुचि, मोह आदि प्रभावित, विकृत तक कर देते हैं, यानी कि आलेख्य के दर्शन और फिर आलेखन के मध्य चितेरे की बुद्धि संक्रमणशील हो जाती है। अब वह प्रभाववादियों की भाँति वस्तु को जैसा देखा वैसा न लिखकर अपने मन के अनुकूल लिखता है। परिणाम यह होता है कि अनुकार्य की अनुकृति अब एक नई व्यंजना बन जाती है और उसे अभिव्यंजनावाद या एक्सप्रेशनिज़्म नाम भी दे दिया गया है। इस प्रकार 'नव' या 'उत्तर' प्रभाववाद अपने दूसरे नाम एक्सप्रेशनिज़्म अथवा अभिव्यंजनावाद से भी जाना जाता है। जो दृष्टि और आन्दोलन कला में चले वही साहित्य और संगीत में भी अपने लाक्षणिक नामों से अपनी अभिव्यक्तियों के साथ प्रयुक्त हुये हैं और परिणामतः अभिव्यंजनावाद से मुखरित कृतियाँ साहित्य और संगीत दोनों क्षेत्रों में तब प्रस्तुत हुईं। अभिव्यंजनावाद का नाम विशेषकर जर्मनी में प्रयुक्त हुआ जहाँ उस आन्दोलन को नितान्त जर्मन कटु-रुचि का योग मिला। उत्तर-प्रभाववाद—यह नाम उस विशिष्ट चित्रशैली का सन् १९११ में चला जब सेज़ान, वान गाग और गोगें के चित्रों का लन्दन में पहली बार प्रदर्शन हुआ।

नव-प्रभाववाद प्रभाववादियों की उत्कट यथार्थता के प्रति विद्रोह था, ठीक उसी प्रकार जैसे स्वयं प्रभाववाद शास्त्रीय या 'मार्ग' शैली के प्रति कभी विद्रोही रहा था। इसने विश्लेषण को छोड़ समन्वय को अपनाया। प्रकट है कि नई शैली ने कलाकार को प्रकृति की आकृतियों को बड़ा-छोटा करने, उसके अंग-अंग को इच्छानुकूल बदल देने या विकृत करके नये सिरे से जोड़ देने की असीम और निरर्गल स्वतंत्रता दे दी। इस शैली ने शैली सम्बन्धी कोई अनुबन्ध न माने, कोई चित्रानुशासन नहीं माना। उसके सामने बस एक ही आदर्श था—अनुकार्य को अधिकतम शक्ति से उसके विविध आवेगों-संवेगों और उसकी आत्मा को अपनी दृष्टि से अधिकतम प्रकाशित कर देना। आकृति का पुनर्गठन निश्चय चितेरे की निरंकुश वैयक्तिक चेतना का परिणाम हुआ। कुछ लोगों ने इसलिए इस अनुकार्य की आत्मा के प्रदर्शन को उससे लक्षित होने वाली वस्तु की आकृति के प्रदर्शन से अधिक आवश्यक माना है, जैसे वृक्ष के चित्र में 'वृक्षत्व' को स्पष्ट कर देना, पर्वत की आकृति में 'पर्वतत्व' को व्यजित कर देना। परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे आकृति अनाकृतिक और अमूर्त होती चली गई और जनता को उसे समझ पाना असम्भव हो गया। अब तक के दर्शक तो प्रकृति के सानिध्य से चित्र को आलेख्य का आभास मानकर समझते आये थे, अब जो चितेरे की भावभूमि के कारण आलिखित और अनुकार्य में आमूल परिवर्तन हो गया तब भला जब तक वे कलाकार के भीतर न पैठ पाते उसकी कृति को कैसे समझ सकते थे! रूपातीत अमूर्त प्रवहमान भावना को समझ पाना वैसे ही कठिन होता है और अब तो उनके अतिरिक्त भी एक तीसरा तत्व रेखा और वर्ण की सीमाओं में प्रविष्ट हो गया—स्वयं चितेरे की निरंकुश चेतना—फिर दर्शक को क्योंकर चित्र का भावबोध हो! अधिकतर हम जानी हुई वस्तु को उसकी सांकेतिक लक्षणा द्वारा अनुकृति में पहचानते हैं और वही पहचान दर्शक और चितेरे के बीच भाव साम्य स्थापित कर चित्र के पट खोलती है अब दोनों के मध्य की वह सह-अनुभूति न रह गई थी और अगर थी भी तो मात्र उन कला-समीक्षकों में जो उन चितेरों के समानधर्मा थे।

प्रायः पचीस वर्षों में इस शैली ने योरुपीय चित्रकला में न केवल अपना स्थान बना लिया, वरन् उसकी भूमि पर वह पर्वताकार उठ खड़ी हुई। इसके अनेकानेक पार्श्ववर्ती और अनुगामी कलावन्त अब स्वयं अपनी भावसत्ता के धनी थे और उन्होंने अपने रागबंध तूलिका के माध्यम से चित्रफलक पर खोले। सेज़ान, फ़ान गाग और गोगें इस परम्परा के शालीन त्रिविक्रम हुये। आज उनके कभी के उपेक्षित चित्र संसार के ऋद्धतम संग्रहालयों के गौरव हैं, असाधारण महार्ह। एक समय था जब इन चितेरों को अपनी कृतियों से इतना भी मूल्य न मिल सका था कि वे अपने जूतों के लिए तस्मे खरीद पाते और आज उनके मर जाने के पश्चात् उनके एक-एक चित्र के इतने दाम मिलते हैं कि उनसे अट्टालिकाएँ खड़ी हो सकती हैं!

सेज़ान

सेज़ान आरम्भ में शुद्ध प्रभाववादी था, पर उस शैली की सीमाओं को उसने

नव-प्रभाववाद प्रभाववादियों की उत्कट यथार्थता के प्रति विद्रोह था, ठीक उसी प्रकार जैसे स्वयं प्रभाववाद शास्त्रीय या 'मार्ग' शैली के प्रति कभी विद्रोही रहा था। इसने विश्लेषण को छोड़ समन्वय को अपनाया। प्रकट है कि नई शैली ने कलाकार को प्रकृति की आकृतियों को बड़ा-छोटा करने, उसके अंग-अंग को इच्छानुकूल बदल देने या विकृत करके नये सिरे से जोड़ देने की असीम और निरर्गल स्वतंत्रता दे दी। इस शैली ने शैली सम्बन्धी कोई अनुबन्ध न माने, कोई चित्रानुशासन नहीं माना। उसके सामने बस एक ही आदर्श था—अनुकार्य को अधिकतम शक्ति से उसके विविध आवेगों-संवेगों और उसकी आत्मा को अपनी दृष्टि से अधिकतम प्रकाशित कर देना। आकृति का पुनर्गठन निश्चय चितेरे की निरंकुश वैयक्तिक चेतना का परिणाम हुआ। कुछ लोगों ने इसलिए इस अनुकार्य की आत्मा के प्रदर्शन को उससे लक्षित होने वाली वस्तु की आकृति के प्रदर्शन से अधिक आवश्यक माना है, जैसे वृक्ष के चित्र में 'वृक्षत्व' को स्पष्ट कर देना, पर्वत की आकृति में 'पर्वतत्व' को व्यंजित कर देना। परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे आकृति अनाकृतिक और अमूर्त होती चली गई और जनता को उसे समझ पाना असम्भव हो गया। अब तक के दर्शक तो प्रकृति के सान्निध्य से चित्र को आलेख्य का आभास मानकर समझते आये थे, अब जो चितेरे की भावभूमि के कारण आलिखित और अनुकार्य में आमूल परिवर्तन हो गया तब भला जब तक वे कलाकार के भीतर न पैठ पाते उसकी कृति को कैसे समझ सकते थे? रूपातीत अमूर्त प्रवहमान भावना को समझ पाना वैसे ही कठिन होता है और अब तो उनके अतिरिक्त भी एक तीसरा तत्व रेखा और वर्ण की सीमाओं में प्रविष्ट हो गया—स्वयं चितेरे की निरंकुश चेतना—फिर दर्शक को क्योंकर चित्र का भावबोध हो! अधिकतर हम जानी हुई वस्तु को उसकी सांकेतिक लक्षणा द्वारा अनुकृति में पहचानते हैं और वही पहचान दर्शक और चितेरे के बीच भाव साम्य स्थापित कर चित्र के पट खोलती है अब दोनों के मध्य की वह सह-अनुभूति न रह गई थी और अगर थी भी तो मात्र उन कला-समीक्षकों में जो उन चितेरों के समानधर्मा थे।

प्रायः पचीस वर्षों में इस शैली ने योरुपीय चित्रकला में न केवल अपना स्थान बना लिया, वरन् उसकी भूमि पर वह पर्वताकार उठ खड़ी हुई। इसके अनेकानेक पार्श्ववर्ती और अनुगामी कलावन्त अब स्वयं अपनी भावसत्ता के धनी थे और उन्होंने अपने रागबंध तूलिका के माध्यम से चित्रफलक पर खोले। सेज़ान, फ़ान गाग और गोगें इस परम्परा के शालीन त्रिविक्रम हुये। आज उनके कभी के उपेक्षित चित्र संसार के श्रेष्ठतम संग्रहालयों के गौरव हैं, असाधारण महार्घ। एक समय था जब इन चितेरों को अपनी कृतियों से इतना भी मूल्य न मिल सका था कि वे अपने जूतों के लिए तस्में खरीद पाते और आज उनके मर जाने के पश्चात् उनके एक-एक चित्र के इतने दाम मिलते हैं कि उनसे अट्टालिकाएँ खड़ी हो सकती हैं!

सेज़ान

सेज़ान आरम्भ में शुद्ध प्रभाववादी था, पर उस शैली की सीमाओं का उसने

झट पहचान कर त्याग दिया। उसे प्रभाववादियों की शुद्ध वैज्ञानिक यथार्थता वर्ण और वातावरण की भूमि पर स्वीकार न हुई और उसने उनकी तकनीक के ऊपर अपनी 'दृष्टि' का आधार रखा। इस प्रकार उसने देहात के तात्विक रूप को अपने मूल रूप में, उसके आवयवीय सौन्दर्य को अधिक शक्ति के साथ रूपायित किया। इस प्रयोग में उसको नये आनन्द और व्याख्या के नये मान मिले, नई अनुभूतियाँ हुई। उसका आलेखन—व्यक्तिपरक, मृत-जीवन अथवा सूदृश्य सभी—नई क्षमता के साथ आकलित हुये, उनमें तीसरा मान या चित्रगत गहराई विशेष शक्ति से पैठी। दर्शक को लम्बाई-चौड़ाई से भिन्न चित्रगत वस्तु की गहराई या मोटाई का अन्दाज अब बहुत स्पष्ट हो गया। यह गहराई या मोटाई स्वयं सजीव प्रकृति के अवयव में भी इतनी स्पष्ट नहीं रहती जितनी अपनी तूलिका से सेज़ान ने उसे चित्रफलक पर खोलकर रख दिया। प्रकृति के अवयव जो स्वयं प्रकृति में स्पष्ट न थे, या जिनको चित्रों में हम केवल अपने संस्कार से सोचकर उनके आभास से समझते थे, अब उन्हीं को कलाकार की व्यञ्जना से हम साक्षात् रेखा और वर्ण के माध्यम से देखने लगे। इस बात की अब आवश्यकता न थी कि स्मृति और संस्कार चित्र में बैठकर हमारी दृष्टि को छेड़े, बल्कि अव्यक्त की व्यञ्जना ही जो चित्रकार को इष्ट हुई तो उसने वस्तुओं के आणविक रूप को भी हमारे सम्मुख अनावृत करके रख दिया। इसी चेतना का परिणाम घनवाद हुआ। घनवाद चित्रशैली का अगला मोड़ था। अंग्रेजी में उसे क्यूबिज़्म कहते हैं। अर्थ यह है कि प्रकृति की सारी आकृतियाँ क्यूब, सिलिंडर और पिरैमिड की स्थिति में घटा दी जा सकती हैं। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह है कि प्रकृति के पिंड इन्हीं तीनों आकृतियों में से किसी एक अथवा अनेक अथवा सभी के समुदाय स्वरूप बने हैं। मूल में पिण्ड का रूप या तो घन है (सीधी रेखायें—लम्बाई, और ऊँचाई) या वर्तुल या कोणाकृतिक।

फ़ान गाग

फ़ान गाग को भी अपनी तक्निक का आधार प्रभाववादियों से ही मिला। वह तो, लगता है, जैसे चित्रण न करके वर्ण और आधार भूत रेखाओं से संघर्ष करता था। उसे चित्र को आकृतिक रूप से पूरा करना न भाता था, वह उसे लाक्षणिक रूप से कभी 'फ़िनिश' करता ही न था। शुद्ध नीले, कोंपल-हरे, नारंजी और पीले रंगों की आड़ी-तिरछी एक-दूसरे को काटती पट्टिकाएँ वह अपने चित्र के धरातल पर शक्ति पूर्वक फेंकता चला जाता। पर वर्ण की सम्पदा, परम्परा के शैलीगत अनुमानों के विपरीत भी इस शक्ति और अचरज के साथ फलक पर बरस पड़ती कि उसकी व्याख्या बगैर उसके चित्रों को देखे गूँगी हो जाती है। तूलिका का स्पर्श नहीं, लम्बकुर्च की चोट भी नहीं, वह तो कुल्हाड़ी या घन का आघात है, और जैसे-जैसे वह आघात पड़ता है, वैसे ही वैसे आवेग अपने अविकृत मूल तात्विक रूप में चित्राधार पर बह चलते हैं। निर्जीव वस्तुओं के चित्र भी इस परिमाण में हो उठते हैं कि उनका प्रभाव हटाये

नहीं हटता । सूर्यमुखी का फूल हो, बेंत की कुर्सी हो अथवा सरो का पेड़ हो सभी अपनी आत्मा के साथ सहसा सजीव हो उठते हैं । गाग जैसे समाधिस्थ हो अपने आलेख्य और अनुकार्य को देखता था, इतना कि उसका कण-कण महतो महीयान् बनकर चित्र की रेखाओं में बैठ जाता था । स्वयं उसकी आत्मा भयानक स्थितियों से होकर गुजर चुकी थी, जीव और निर्जीव दोनों में उसकी असाधारण सहानुभूति और रति थी, ओछे या क्षुद्र उसके लिए पूज्य और महामहिम थे और उनको उसने बड़ी लगन के साथ रूप देकर अमर कर दिया । उसका आकुल अन्तर विशेषकर दुर्बल अथवा उपेक्षित, दलित प्राणियों के प्रति उन्मुख हो उठता था और चित्रफलक पर उनकी भाव-व्यंजना स्वयं चित्रकार की अपनी संवेदनशील प्रकृति से तीव्र अनुप्राणित हो उठती थी । अभिव्यंजनावाद का गाग पूर्ववर्ती था । उसके बाद ही उस नई शैली की धारा अपने स्रोत से फूट पड़ी । गाग इतना शीघ्र प्रभावित होता था और वह प्रभाव उस पर इतना गहरा पड़ता था कि वह फिर अपनी उस प्रभावात्मिका अनुभूति को मिटा न पाता था, न स्मृति-पटल से और न अपने चित्रफलक से ही । एक बार जब वह दूर दक्षिण के गाँव में ठहरा हुआ था तब उसकी एक प्रेयसी ने उससे कहा—'नित्य आते हो एक उपहार तक नहीं देते, और कुछ न जुड़े तो अपना वह लम्बा-सा कान ही क्यों नहीं दे देते ?' गाग चुपचाप चला गया । दूसरे दिन जो लड़की ने अपना पार्सल खोला तो उसमें आदमी का कान देखकर वह छटपटा उठी । कान वह गाग का था जो उसने अपनी आवेगशील स्थिति में काट कर उसे भेज दिया था । कान के ज़ख्म पर पट्टी बाँधे उसने अपना चित्र बनाया और वह चित्र आज भी व्यक्ति-चित्रण का आदर्श माना जाता है, उपलब्ध है । आश्चर्य क्या जो गाग अचरज के कारनामे अपने वर्ण और रेखा के माध्यम से आवेग-संवेगों से मुखरित फलक पर उतार देता रहा हो ! आवेगों के फलस्वरूप ही वह पागल होकर मर भी गया ।

गोगँ

पोल गोगँ, गाग का मित्र था, यद्यपि उसका सा वह प्रभावशील न था । आवेग उसे गाग की मात्रा में प्रभावित या आन्दोलित न कर पाते थे, उसके आकलन में चिन्तन भी, उसकी चिन्तनशील प्रवृत्ति के अनुकूल ही, अपना भाग पाता था । वह पूर्व-प्रभाववादी होता हुआ भी अलंकरण शैली की ओर लौटा और उसने अपने चित्र पूरब के कलाकारों की भाँति लम्बाई और चौड़ाई मात्र की दो-सतही शैली में लिखे । आकृतियाँ उसकी भी अमूर्त हैं, वर्ण और सूक्ष्माकार से परिवेष्टित, जिनमें आभास की यथार्थता का तनिक भी प्रयास नहीं किया गया । देखे यथार्थ को अनुकार्य मान वह फलक पर उसकी अनुकृति नहीं प्रस्तुत करता और न उसे रूप द्वारा विशेष ध्वनित ही करता है । वस्तुतः उसने प्रकृति के रंगों तक का अतिक्रमण कर दिया, माडलों या अनुकार्यों के बजाय उसने अपनी स्मृति पर ज़्यादा निर्भर किया है और जो कुछ उसने स्थापित किया है उसके अवयवों की वर्गगत सघनीय है जो नये

अलंकारिक 'पैटर्न' उसके चित्रों में खुल पड़े हैं वे बस देखनेकी वस्तु है, परम्परागत तर्क उनसे पार नहीं पा सकता। उसके चित्र गाग के चित्रों के विपरीत शान्त हैं, अनाकुल।

मतीस

हेनरी मतीस नव-प्रभाववाद की दूसरी पीढ़ी का चितेरा था। गोगें ने जिस प्रकार चीनी और पश्चिमी चित्रशैलियों को अपने चित्रों में समन्वित कर दिया था उसी प्रकार मतीस ने भी उसका समन्वय किया। वस्तुतः उस दिशा में वह गोगें से भी एक मंजिल आगे बढ़ गया। उसने आकृति के यथार्थ का रूपायन छन्द के प्रवाह और विस्तार से किया, चित्रभूमि के तलों के पारस्परिक अनुपात द्वारा, वर्ण के सर्वथा नये प्रयोग द्वारा। उसकी शैली समन्वित सरलता या प्रसाद की पराकाष्ठा है, सर्वथा नयी अकृत्रिम। उसने अनुकार्य वस्तुओं को स्वयं प्रतीक बना दिया है, यथार्थ को आभास देने का तनिक भी प्रयास नहीं किया। जिस शैली को अंग्रेजी में अरबेस्क (सासानी या अरबी रेखा पद्धति) कहते हैं उसको ही अपना आधार बना उसने मोटाई या चित्र की गहराई को सर्वथा तज दिया है।

घनवाद

अब नीचे प्रभाववाद के आधार से उसके अनुकूल या विपरीत उठनेवाली कुछ आधुनिक चित्रशैलियों का संक्षेपतः वर्णन करेंगे।

इनमें क्यूबिज़्म अथवा घनवाद का उल्लेख सेज़ान के सम्बन्ध में किया जा चुका है। सेज़ान अपने चित्रों में भाव की अभिव्यंजना के लिए वर्ण को पुंज के रूप में प्रयुक्त किया करता था, फिर भी वह आकृति का आभास देनेवाली रेखाओं की उपेक्षा सर्वथा नहीं करता था, वस्तुतः उसने अपने घनवादी अनुगामियों—पिकासो, ब्राक, देरें आदि—के विपरीत उन्हें कायम रखा। पर उसके इन अनुगामियोंने सेज़ान की भूव्यंजना से एक नई शैली अथवा रूपायन की एक नई भाषा ही प्रस्तुत कर दी। इस नई शैली ने—जो क्यूबिज़्म कहलाई—आकृति की यथार्थता को, उसके प्राकृतिक स्वभाव को सर्वथा त्याग दिया और उसके स्थान पर उन्होंने रसवृत्ति पर ज़ोर दिया और उसीके आकलन में उन्होंने अपनी मूर्तन शक्ति केन्द्रित की। परिणाम यह हुआ कि बाहर का आकार सर्वथा उनकी रेखाओं से दूर हट गया और परम्परागत चित्र-सिद्धान्त अथवा कला-समीक्षा के मान टूट गये। न तो उन्होंने प्राकृतिक पिण्ड रूप (जैसे नर, नारी, गाय, घोड़ा आदि) की तनिक भी छाया अपनी अनुकृति पर पड़ने दी और न पिण्ड की पिण्डता ही लम्बाई-चौड़ाई दो रेखाओं से भिन्न मोटाई या गहराई की तीसरी रेखा में प्रदर्शित की। प्रभाववाद की भाँति ही क्यूबिज़्म या घनवाद नाम भी पहले उपहास या निन्दा के ही रूप में प्रयुक्त हुआ था। सन् १९०८ में मतीस ने अपने एक चित्र को यह नाम दिया। उस चित्र का विषय घनवादी रेखाओं के माध्यम से प्रस्तुत हुआ था प्रभाववादियों के दर्शनीय यथार्थ अथवा आकृतिवाद से तो वह

सर्वथा भिन्न था ही स्वयं नव प्रभाववादियों की वैयक्तिक—आन्तरिक अभिव्यञ्जना से भी वह काफ़ी भिन्न था, क्योंकि उसने आकृतिक निरूपण की भरपूर उपेक्षा कर दी थी, केवल शुद्ध अमूर्त रूप में तात्विक यथार्थ का निरूपण किया था। पिकासो इस शैली का सबसे महान् कलाकार है। आज वह अस्सी साल का हो चुका है और पिछली आधी सदी में संसार में जितनी चित्र शैलियों का प्रादुर्भाव हुआ है वे सब या तो उसकी तूलिका से उठी है या उसके प्रभाव से। जो लोग उसे मूर्तन के आकृतिक कच्चेपन का दोष लगाते हैं वे यह भूल जाते हैं कि बीस वर्ष की आयु में वह परम्परागत शैली के वर्ण और रेखा के प्रयोग में असाधारण निष्णात हो चुका था और जो कहीं उसने उस पद्धति को कायम रखा होता तो बड़ी सरलता से वह रफ़ील, माइकलएँजलो, ल्योनार्दो दा विन्ची की पंक्ति में खड़ा होता। पर उसने लकीर पर चलना स्वीकार न किया और अपने चित्रों के मूल्याङ्कन के लिए समीक्षकों को नई दृष्टि, नये मान दिये। पिछले पचास वर्षों में संसार में इतनी ऊँचाई किसी कलाकार ने नहीं प्राप्त की जितनी पिकासो ने। बीस वर्ष की आयु में वह अपने प्रकृत देश स्पेन से कला की नगरी पेरिस आया था, पर शीघ्र वहाँ सीखने के बजाय वह स्वयं उत्तरोत्तर सिखाने लगा। उसके ब्रुश के माध्यम से रूप और सौंदर्य के मान टूटने लगे और उनकी जगह मेधा तर्कमती हुई। सौंदर्य की मांसल आकारगत गाँठें खुल पड़ीं और उसने त्वचा के आवरण को उठा-कर पिंड के कण-कण को झाँक कर देखा और उनका भेद पाया। जैसे प्रातःकालीन पक्षियों का कलरव बोध की अपेक्षा नहीं करता, जैसे मार्ग अथवा शास्त्रीय राग शब्द के अर्थ की अपेक्षा न कर ध्वनि और प्रवाह की तरलता और छन्द के स्पन्दन मात्र में ही अपनी सिद्धि मानता है, वैसे ही पिकासो ने वर्ण और रेखा के रूप में ही इष्ट की सिद्धि मानी, उनके द्वारा उनसे भिन्न किसी पिंड के आभास आकलन को नहीं। यह सही है कि अब सामाजिक यथार्थ की चित्रशैली का भी प्रबोधक होने के कारण पिकासो व्यंग्य को अपना विशेष अस्त्र बना चुका है, पर निस्संदेह जीवन के दीर्घकाल तक वह घनवादी प्रयोग ही करता रहा था। घनवाद की विविध और विभिन्न शैलियाँ उसके स्पर्श से उत्पन्न होती गईं और जहाँ उसका विकल मन निरन्तर नये प्रतिमान ढूँढता पीछे की शैली को छोड़ता गया, उसके अनुगामी उन्हें कला में व्यवहृत कर शैलियों का रूप देते गये। पर तब तक पिकासो उनसे दूर कहीं और जा पहुँचा था। पिकासो क्यूबिज़्म का सबसे बड़ा स्तम्भ है।

पिकासो वैज्ञानिक घनवाद के शुद्धतम स्वरूप का व्याख्याता है। उससे कुछ कम शुद्ध वह घनवाद है जो थोड़ा-बहुत 'मूर्त' अथवा भौतिक कहा जा सकता है, क्योंकि यद्यपि उसमें भी मांसलता अथवा विशेष सतही गहराई नहीं होती, पर उसकी रेखाओं से निश्चय अनुकार्य का बोध हो जाता है और चित्र को समझने के लिये तत्काल उसके माध्यम से दर्शक उसके मूल प्रेरक पिंड तक पहुँच जाता है। अर्थ यह कि चित्रगत रेखाओं के माध्यम से उनकी मूल वस्तु की याद की जा सकती है पिकासो के घनवाद को जार्ज ब्राक ने और भी स्पष्ट किया उसके चित्र, लगता है,

जैसे पिकासो के ही सम्पादित संस्करण हैं। वह शुद्ध तर्क द्वारा मानो चित्रों के घनत्व अथवा वस्तु को अविकल मान देता चला जा रहा है, जिस स्टैंडर्ड से कलाकार फिर विप्रस्थित नहीं हो पाता। फर्नेंड लेगर ने विशेषतः यांत्रिक युग पर अपनी कला केन्द्रित की। चमकते रंगों में समकालीन जीवन अद्भुत डिजाइनों में उसके चित्रों में उतर पड़ा। युग मशीन और यंत्र से घिर चला था, उन्हीं की ठोस शक्ति उसके चित्रों में रूपायित हुई। अल्बर्ट ग्लीजे तो वस्तुतः वस्तु को रूपायित करता ही नहीं; स्वयं अपने कलाकार की आत्मा ही लिखता चला जाता है। मेतज़िंगर, हरविन और लोते भी उसी प्रकार से निरंकुश और परम्परा से उदासीन हैं।

क्यूबिज़्म की इस रूप में अनेकानेक शैलियाँ चलीं जो विविध वादों के नाम से प्रसिद्ध हुईं। अनेक लोगों ने क्यूबिज़्म पर अनेक प्रकार से आघात किये हैं, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अपनी खामियों के बावजूद उस शैली ने परम्परा के बोझिल और 'मार्गीय' नीरस, भोंड़े, फूहड़ पंजों से चित्रकला को मुक्त कर कलाकार को नयी आस्था, नयी विनय दी है। परम्परा का पडिताऊपन वस्तुतः इतना मारक हो गया था कि कला की काया उसमें जीवित नहीं रह सकती थी। प्रवाहभिन्न हो उसका वहाँ दम घुटने लगा था। इन नये प्रयोगों ने कलाकार को नई दिशा दी जिसमें कला के अपने साधन वर्ण और रेखा से भिन्न किसी बाह्य वस्तु का योग न था या कम से कम वह बाह्य वस्तु यथार्थ और आकलन का विषय बनकर स्वयं कला पर हावी न होने पाई।

भविष्यवाद

उत्तर-प्रभाववाद का एक रूप इटली में भविष्यवाद या फ़्यूचरिज़्म हुआ। इसका विकास दोनों महायुद्धों के बीच हुआ। किस प्रकार सामाजिक स्थिति से विचारों का उन्नयन और आरम्भ होता है इसका सबसे बड़ा उदाहरण कला और साहित्य में यह भविष्यवाद है। पहले महायुद्ध में ही इटली ने राष्ट्रों के बीच अपनी दयनीय स्थिति समझ ली थी और उसके विचारकों में से कुछ ने उस दैन्य का कारण अपनी गतिहीनता मानी। राष्ट्र को कर्मठ और गतिशील बनाने के लिये वहाँ एक आन्दोलन का आरम्भ हुआ जिसे भविष्यवाद या 'फ़्यूचरिज़्म' कहने लगे। तात्पर्य यह कि हमारी जो दयनीय स्थिति आज है वह हम बनी न रहने देंगे, शीघ्र हम उस स्थिति से अपने को उबारेंगे। भविष्य हमारा है और उस भविष्य पर हमारा अनन्य अधिकार होगा। इटालियन फ़ासिस्तवाद के लिये पृष्ठभूमि इससे अधिक सार्थक नहीं हो सकती थी और बनी भी उसकी वही पृष्ठभूमि। उस दृष्टिकोण का प्रवर्त्तक प्रधानतः और प्रथमतः एक साहित्यकार था, कवि मारिनेत्ती।

भविष्यवादी शैली के चित्रकार बोचिओनी, सेवरीनी, कर्रा, रुसोलो, बल्ला आदि थे। भविष्यवाद वस्तुतः क्यूबिज़्म की ही शाखा था, यद्यपि उसे भविष्यवादी शाखा नहीं मानते और न उन्होंने अपने मेनीफ़ेस्टो में ही ऐसा स्वीकार किया है परन्तु इसमें संदेह नहीं कि वह चित्रशैली नव की परम्परा में ही विकसित

हुई। क्यूबिज़्म या घनवाद से भविष्यवाद का विशेष भेद इसमें है कि जहाँ घनवाद अचल शैली है वहाँ भविष्यवाद सचल और गतिमती शैली का नाम है। राजनीति में सक्रियता जैसे आवश्यक होती है वैसे ही इस भविष्यवाद में गतिशीलता अनिवार्य है। चित्र के विषय को उस शैली में गतिमान् बनाना होता है। उदाहरणार्थ एक प्रसिद्ध चित्र है—'महिला और उसका कुत्ता'—महिला अपने कुत्ते के गले की जंजीर पकड़े चली जा रही है। चित्रकार ने न केवल महिला, कुत्ते और जंजीर को रूपायित किया है, बल्कि तीनों में गतिशीलता का आभास उत्पन्न करने की कोशिश की है। महिला के स्कर्ट अनेकधा दर्शाये गये हैं, वैसे ही कुत्ते के चार से कहीं अधिक पाँव और अनेकानेक जंजीरें हैं। प्रधान को छोड़कर बाकी सब रेखाएँ हल्के वर्ण से चित्रित होती हैं और एक प्रकार की गति का आरोप हो जाता है। वस्तुतः यह देश या स्पेस का काल में प्रक्षेपण है जो किसी प्रकार रूपायित हो ही नहीं सकता, पर जैसे-तैसे करके उसमें गति का एक दूर का आभास उत्पन्न हो जाता है।

भविष्यवाद का यह गतिक प्रयास बाइसकोप का प्रभाव लाने का प्रयत्न करता है और चिपटी भूमि पर गति की माया उत्पन्न करने के असम्भव प्रयास से नहीं चूकता। इस गतिशील चित्रशैली में कुछ 'शक्तिरेखाओं' का भी प्रयोग होता है जो अनेक शक्लें धारण करती है। अनेक बार तो दर्शक तक को चित्र-परिवार का अंग मान लिया जाता है और ऐसा करके ही शायद दर्शक उस शैली के चित्रों को समझ सकता है। वह केवल चित्रों को नहीं देखता, उनके भीतर तक देखता है और इसी से बहुधा चित्रों के विषय पारदर्शी बनाये जाते हैं; जैसे संदूकची का चित्रण इस रूप में होगा कि संदूकची में तो ताला बन्द रहे पर उसके भीतर की वस्तुएँ साफ़ झलकती रहें। इंग्लैंड में भी एक समय भविष्यवादी शैली चली और उसका विशेष प्रयोग चित्रकार नेविन्सन ने किया।

अभिव्यंजनावाद

नव-प्रभाववाद के प्रसंग में हमने अभिव्यंजनावाद का भी उल्लेख किया है। उसका विशेष विस्तार जर्मनी में हुआ। जर्मन अधिकतर चिन्तक और अन्तर्मुख होते हैं। साहित्य में भी अनेक बार उन्होंने बड़ी डिसिप्लिन और नियम-संयम से काम लिया है; वियना के रसवादियों की परम्परा तो एक समय सर्वथा अनुशासन की सकलों से जकड़ गई थी। जब नव-प्रभाववाद का जर्मनी में प्रादुर्भाव हुआ तब वह स्वाभाविक ही सपद फैल चला और शीघ्र अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया। कन्डिन्स्की ने अपनी कला में उसके नितान्त अमूर्त रूप को लिखा। कन्डिन्स्की का जन्म रूस में हुआ था और उसके सिद्धान्त उसकी पुस्तक 'आध्यात्मिक समन्वय की कला' नामक पुस्तक में निरूपित हुए। जर्मनी के प्रधान अभिव्यंजनावादी चित्रकार पेक्स्टाइन, मार्क, नोल्दे, कोकोश्का और कोरिन्थ थे। मार्क छागल भी उन्हीं अभिव्यंजनावादी प्रधान कलाकारों में से था। वह कन्डिन्स्की की ही भाँति रूस में जन्मा था।

अभिव्यंजनावाद सत्य, पाशविकता, निर्माण और संहार का समन्वित संसार है। इनका सामूहिक प्रयोग इस आक्रमक रूप से होता है कि आदमी की मृदुल भावनाएँ सर्वथा कुचल जाती हैं। जर्मन अभिव्यंजनावादियों को स्विटजरलैण्ड के फर्डीनेण्ड होल्डर ने बहुत प्रभावित किया था, यद्यपि उसे उस शैली की 'अति' का प्रवर्तक नहीं कहा जा सकता। उसी की भाँति नार्वेवासी वर्ड मुंक का भी उस जर्मन शैली पर गहरा प्रभाव पड़ा था।

अमेरिका में इस अति शैली का प्रधान चित्रकार जूल्स पैक्सिन था। वह उत्पन्न बल्गेरिया में हुआ था और रहा फ्रांस में था, और अन्त में पहले महायुद्ध के समय भागकर अमेरिका चला गया था। उस पर दोमिये, सेज़ान, देगा, रन्वा और पिकासो का गहरा असर था, यद्यपि उसने अपना व्यक्तित्व कभी न खोया। वस्तुतः उसकी उत्कट वैयक्तिकता ही उसकी शैली की प्रधान ध्वनि है। वह ज़ोर देने के लिये विकृति को अपना प्रधान साधन बनाता है और इस रूप में वह भी जर्मन अभिव्यंजनावादियों के नितान्त निकट आ जाता है।

अति-यथार्थवाद

अति-यथार्थवाद 'सर्रियलिज़्म' का अनुवाद है। इस शैली के चित्र अवचेतन अनुभूति के परिणाम कहे जाते हैं। स्थिति सर्वथा मनोवैज्ञानिक है, पर चूँकि मनोवैज्ञानिक अनुभूति स्वयं स्थूल पिण्ड का सूक्ष्मतम प्रसार है, इसलिए उसे भी चित्रकार रूपायित करने का प्रयत्न करता है। उसका कहना है कि जो स्थूल है, दर्शन-प्रवण है, उसका आकलन तो सरल है और सदा होता ही आया है, पर वह जो घट-घट का व्यापक है, अथवा वह सूक्ष्म मनःस्थिति जो आकार से परे है, अथवा जो सहसा व्यक्त होकर जाग्रत या स्वप्नावस्था में सुप्त इन्द्रियों का स्पर्श कर, उनके योग का विषय बन, सहसा विलीन हो जाता है, उसकी भी तो एक सत्ता है, फिर उसका आकलन क्यों न हो? और चित्रकार उस अवचेतन या उपचेतन का आलेखन करता है। उसमें जड़ और चेतन में अनेक बार कोई अन्तर नहीं रह जाता, अक्सर एक पैर प्रकृत और दूसरा फ़ीलपाँव सा, शरीर के अंग अपने स्वाभाविक स्थान से हटाकर, विकृत करके चित्रित किये जाते हैं। इस शैली में आकस्मिक और अप्रत्याशित का भी प्रचुर समावेश होता है। अस्पताल के आपरेशन के कमरे में जहाँ चारों ओर चमचम हो रहा है, शीशे और औजार झकझक हो रहे हैं, नर्सें सफ़ेद चमकती लिबास पहने व्यस्त फिर रही हैं, कहीं एक मक्खी नहीं दिखाई देती, स्वाभाविक ही आपरेशन की मेज़ पर आप किसी मरीज़ को देखने की आशा करेंगे। पर यदि उसे अति-यथार्थवादी सर्रियलिस्ट चित्रित करेगा तो उस आपरेशन थियेटर की मेज़ पर बजाय रोगी के सीनेवाली मशीन रख देगा! जहाँ का वातावरण सर्वथा शान्त और स्तुत्य कर दिया गया है, सर्रियलिस्ट की मनःस्थिति में उस काल यह प्रेरणा हो सकती है कि वह सहसा उस की तीव्र विरोधी एक चीख मार दे! इस वायवीय काल्पनिक

स्वप्निल स्थिति से परे कुछ भी नहीं। चित्रकार सूरज-चाँद से खेल सकता है, शून्य मे उड़ सकता है। इस शैली के अनेक चित्रकारों मे पिकासो, पाल क्ली और सल्वादोर दाली हैं। दाली तो न केवल उस शैली के चित्र बनाता है बल्कि उसका रहना-सहना भी अधिकतर अपनी चित्रशैली के अनुकूल ही है। मैने उसे एक बार लन्दन के पिकेडिली स्क्वायर में अत्यन्त सुन्दर सूट के ऊपर विदूषक की टोपी पहने घूमते देखा था। इतने सम्भ्रान्त सिले सूट के ऊपर आप क्लाउन की टोपी पहिने जाने की कल्पना नहीं कर सकते, वैसे निकृष्ट से निकृष्ट सूट पर भी जोकर की ऊँची तिकोनी कागजी टोपी पहिनकर पिकेडिली जैसे स्थान में जाना बड़े साहस की बात होगी। मोहेनजोदेड़ो के एक मिट्टी-चूने की बनी मुहर पर एक साँचे से उभारा हुआ ऐसा चित्र है जिसका नीचे का आधा भाग तो पुरुष का है ऊपर का आधा वृक्ष की शाखा बन गया है। सही, यह आकस्मिक ही है, वरना अति-यथार्थवाद की कल्पना तो सिद्धान्त प्रणीत है।

× × ×

आधुनिक कला की भारतीय भूमि

अन्यत्र कहा जा चुका है कि यूरोपीय आधुनिक कला की अनेकधा शैलियो ने भारत के कलाकारों को भी प्रभावित किया है। सही, यहाँ भी कुछ कलाकार ऐसे है जिन्होंने उन नई पाश्चात्य शैलियों को अपनाने और उनमें रूपायन करने में तत्परता दिखाई है। कइयों ने तो उस दिशा में पर्याप्त कौशल भी प्राप्त कर लिया है, परन्तु निस्सन्देह उनके पास न तो उस प्रकार के आधुनिक प्रयोगों की देशी परम्परा है और न उन शैलियों की तक्नीक की ही उन्हें कोई ट्रेनिंग मिली है। अनेक बार तो कइयो ने बिना प्रारम्भिक स्थूल चित्रकारिता के आधारों को समझे अवचेतन की भूमि पर तूलिका चलाई है और परिणाम स्वाभाविक ही नितान्त हास्यास्पद हुआ है। हमें यह कभी न भूलना चाहिये कि उन परिश्रमी चित्रकारों ने, जिनके कौतुक-आभास उत्पन्न करनेवाले चित्रों को देखकर हम अज्ञानवश हँसते हैं, साधारण ड्राइंग, ड्राफ्टिंग के क्षेत्र में अद्भुत लाघव प्राप्त किया था और तब कहीं उनकी आज की कृतियाँ कला को ऐसी गोधूली में पहुँची हैं कि उनको समझ सकना कठिन हो गया है और साधारणतः पता नहीं चलता कि उनके आगे रात होनेवाली है या पौ फटनेवाली है।

यह भी याद रखने की बात है कि स्टाक मार्केट अथवा लोकसभा के व्याख्यानो से कहीं अधिक हमारे संसार के विज्ञापक हमारी कलाएँ हैं। महायुद्धों के पहले ही उन्होंने पुरानी दुनिया के बिखरते हुए मूल्य-मानों का अन्त आरम्भ कर दिया था। उस काल संक्रमणशील प्रयोगों द्वारा तूलिका के अनेकानेक 'वाद' रूप धारण करते गये। उनमें से अनेक तो आज नाम मात्र रह गये हैं, यद्यपि जब उनका हमें पहला दर्शन हुआ था तब हमें उन्होंने विविध आवेगों से झकझोरा था। १८८० के दशक मे, जब सारा यूरोप जापानी कलर-प्रिंटों पर दीवाना हो रहा था जापानी कला तब मानव जाति की उच्चतम सीमा मानी गई अगले दशक में सेज़ान और सुरा ने एक

नई दुनिया प्रसारित की जिसमें गोगें ने अपनी समन्वय की पुट डाली और जिसे फ़ान गाग लम्बे पैरों से लाँगता चला गया था। १९०० के आस-पास जब नव-प्रभाववाद के आधार से उठकर घनवाद दिशाओं पर छा गया और स्वयं उसके आधार से अनेकानेक शैलियाँ उठकर बढ़ चलीं तब भी उनके प्रति विद्रोह और आस्था दोनों ही हुए थे। और आज हम जानते हैं कि प्रभाववाद, नव-प्रभाववाद, यथार्थवाद, अभिव्यञ्जनावाद, दादावाद, उससे उत्पन्न होनेवाले अति-यथार्थवाद, भविष्यवाद आदि सबका अपना स्थान कला के इतिहास में रहा है और उनका प्रभाव कला को समुन्नत करने में अपेक्षणीय सिद्ध हुआ है। इधर हाल जो सामाजिक यथार्थवाद विशेष कर रूस और उसके पड़ोसी पूर्वी लोकतन्त्रों में फैल चला है स्वयं उसकी ओर पिकासो के से सूक्ष्मवादी—घनवादी—अतियथार्थवादी कलाकारों ने रुख़ किया है। नये क़लम को निस्सन्देह इन सद्यः परिवर्तित होती शैलियों की तकनीक माँजेगी और उससे वर्ण और रेखा के माध्यम से नये संसार के पट खुलेंगे। यदि इन शैलियों का विशेष उद्देश्य-परक परिणाम न हुआ तब भी यदि मात्र यह अपने प्रयोगों की परम्परा से हमारी कला को उत्तेजित कर सके तो मेरा दावा है कुछ कम लाभ न होगा।

इस देश में निश्चय, विशेषतः बम्बई के, कुछ कलाकारों ने पश्चिम की उन शैलियों की ओर रुख़ किया है, पर अधिकतर उनसे वंचित हैं और अपने दूर के अतीत की माया में भटक रहे हैं। यदि ये शैलियाँ उन्हें बहुत आगे नहीं ले जा सकतीं तो कम से कम अपने स्थान पर भी वे निश्चय कलाकार को गतिमान बनाये रखेंगी, पर पीछे की ओर देखने की स्थिति तो वस्तुतः प्रेरणा की नहीं, लाँघे हुए मार्ग को फिर से लाँघने की है।
